

96245

दायभागः



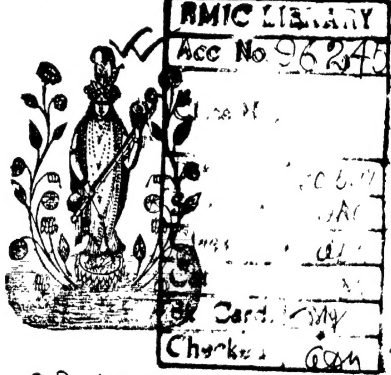
महामहोपाध्याय श्रीजीमूतवाहनकृतः

श्रीकृतकालङ्कार कृतव्याख्यानगतः

पण्डितकुसुमपतिना वि, ए उपाधिधारिणा

श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण

संस्कृतः प्रकाशितः ।



द्वितीयसंस्करणम् ।

कलिकातानगर्याम्

सिद्धेश्वरयन्त्रे

मुद्रितः ।

५ १८८३ ।





पण्डितकुलपतिः

श्रीजीवानन्दविद्यासागर वि, ए,

PANDIT JIBANANDA VIDYASAGARA B.A.

Superintendent Free Sanskrit College, Calcutta.

एतानि सुद्रितसंस्कृतपुस्तकानि ।

| | | | |
|-----------------------------------|-----|--------------------------------------|-----|
| प्रबोध व्याकरणम् | २ | ३५ भामिनीविलास संक्षिप्तटीकासहितः । | |
| कम् पाणिनीयम् | ४० | ३६ चम्पू रासायनम् सटीक | १ |
| आदिपूत्रम् सटीक | २ | ३७ (चम्पू रासायनम्) भोजचम्पू | ४० |
| विकल्पद्रुम (धातुपाः) | १० | ३८ शतकार्वाखः | ४० |
| आपव्याकरणं वा कातक | २ | ३९ माधवचम्पू काव्य | १० |
| तुरुपादर्शः | १४० | ४० मेघदूत मल्लिनाथकृत टीकासहितः | १० |
| रभाधिन्द्रशेखर सटीक | १ | ४१ मेघदूत सटीक सत्यभूषणकम् | १० |
| प्रबोधव्याकरणम् सटीक | १४० | ४२ रघुनन्दन काव्य सटीक | १४० |
| कवमञ्जरी (वङ्गाचरः) | १० | ४३ रघुनन्दन मूलमात्र ७, ८, १२ सर्गाः | १० |
| व्याकरणमुपपत्तिमार | ४० | ४४ राजप्रशस्ति सटीक | १ |
| पुष्पकोमुदीत्याकरणम् | ४० | ४५ शिशुपालवधकाव्य सटीक (माघ) २ | |
| लङ्कानृशसंन सटीक | १० | ४६ गद्यकथाचरितसार सम्पूर्ण | ६ |
| वृद्धपादर्शः | ४० | ४७ कादम्बरी विष्णुनाथकाव्यसहितः | १ |
| वृद्धाधरवत् | ४० | ४८ दशकुमारचरितगद्यकाव्य सटीक | १ |
| आरस्तव्याकरण सटीक पूर्वादिम् | १ | ४९ द्वाविंशत्युपनिषत्संज्ञासङ्ग | १ |
| आरस्तव्याकरण सटीक उत्तरादिम् | १ | ५० पञ्चतन्त्रम् विष्णुशर्माकृत सटीक | १ |
| महाभारतकोमुदी चरितार्थाद्वयता | १० | ५१ वसुनिवाहवाद | १० |
| वृत्तसंहार काव्य सटीक | १० | ५२ वासवदत्ता गद्यकाव्य सटीक | १ |
| काव्यसंग्रह मूलमात्र | ५ | ५३ वेतालपञ्चविंशतिः (सरस्वतीगद्य) | ४० |
| काव्यसंग्रह सटीक प्रथमभागः | १ | ५४ शङ्करविजय | १४० |
| काव्यसंग्रह सटीक द्वितीयभागः | २ | ५५ भोजप्रबन्ध सरस्वती गद्य | ४० |
| काव्यसंग्रह सटीक तृतीयभागः | २ | ५६ हर्षचरित सटीक बाणभट्टकृत | २४० |
| सुरातार्जुनीयकाव्य सटीक | १४० | ५७ हर्षचरितबाणभट्टकृतगद्य | १ |
| कुमारसम्भवकाव्यपूर्णसङ्ख्ये सटीक | ४० | ५८ संस्कृतशिवामञ्जरी प्रथमभागः | १ |
| कुमारसम्भवकाव्य उत्तरसङ्ख्ये सटीक | ४० | ५९ संस्कृतशिवामञ्जरी द्वितीयभागः | ४० |
| गीतगीविन्द काव्य सटीक | ४० | ६० संस्कृतशिवामञ्जरी तृतीयभागः | ४० |
| चन्द्रशेखरचम्पू काव्य | १ | ६१ संस्कृतशिवामञ्जरी चतुर्थभागः | ४० |
| नलीदय काव्य सटीक | १० | ६२ हितोपदेश सटीक | ४० |
| नैषधचरितम् काव्य सम्पूर्ण सटीक | ५ | ६३ अमरकोष | ४० |
| नैषधकाव्य नवसर्गमर्थन्त सटीक | ११ | ६४ वाचस्पत्यम् (वृद्धभिक्षान्न) | १०० |
| पुष्पवाणविलास काव्य सटीक | ४० | ६५ मेदिनीकोष | १ |
| विहङ्गोदतरद्भिषो (चम्पू काव्य) | ४० | ६६ शब्दकोशमहाविधिः | ८ |
| भट्टिकाव्य टीकाद्वयसहित | १ | ६७ अनघराघवनाटक सटीक [सुरारि] | १ |
| भामिनीविलासकाव्य सटीक | ४० | ६८ अनघराघवनाटक मूलमात्र | १ |

| | |
|----------------------------------|--|
| ६६ उत्तररामचरितनाटक सटीक १ | १०३ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिवामनकृत ॥० |
| ७० कर्पूरमञ्जरीनाटिका सटीक ॥० | १०४ वाग्भटालङ्कार १० |
| ७१ चण्डकौशिकनाटक सटीक ॥० | १०५ सरस्वतीकण्ठाभरण सटीक ३ |
| ७२ चैतन्यचन्द्रोदयनाटक सटीक २ | १०६ सङ्गीतपारिजात(सङ्गीतशास्त्र) १॥० |
| ७३ धनस्यविलयनाटक सटीक १० | १०७ छन्दोमञ्जरी वृत्तरत्नाकर सटीक ॥ |
| ७४ नागानन्दनाटक सटीक ॥० | १०८ सुतबोधः (छन्दोग्य) सौक १ |
| ७५ नागानन्दनाटक मूल १० | १०९ पिङ्गलछन्दः शास्त्र वृत्तिसङ्घित १॥ |
| ७६ प्रबोधचन्द्रोदयनाटक सटीक १ | ११० महाविर्वाणतन्त्रम् सटीक ४ |
| ७७ प्रसन्नराघवनाटक जयदेवकृत १ | १११ सरदातिलक तन्त्रम् ३ |
| ७८ प्रियदर्शिका नाटिका सटीक ॥० | ११२ मन्त्रमहोदधि तन्त्र सटीक ३ |
| ७९ वसन्ततिलक भाष्य नाटक १० | ११३ रुद्रयामल तन्त्र ३ |
| ८० बालरामायणनाटक सटीक ३ | ११४ इन्द्रजालविद्यासंग्रहः ३ |
| ८१ विक्रमोर्वशी नाटक (सटीक) १ | ११५ कामन्दकी नीतिसारः ॥० |
| ८२ बिहृशासभङ्गिकानाटिका सटीक ॥० | ११६ चाणक्यशतकम् सटीक १ |
| ८३ वैष्णोसिंहारनाटक सटीक ॥० | ११७ शुकनीतिसारः सटीक २ |
| ८४ मल्लिकामारुतनाटक सटीक २ | ११८ गयाशास्त्रादिपद्धतिः १ |
| ८५ मङ्गलनाटक हनुमन्नाटक सटीक १॥ | ११९ तुलाटानादिपद्धतिः (वङ्गाक्षरेः) ४ |
| ८६ मङ्गलनाटकम् (हनुमन्नाटकम्) ॥० | १२० धर्मशास्त्रसंग्रहः १० |
| ८७ मङ्गलवौरचरितनाटक सटीक १॥० | १२१ वीरसिन्धोदय (मृत्तिशास्त्र) ५ |
| ८८ मङ्गलवौरचरितनाटक मूलमात्र ॥० | १२२ मनुसंहिता कुत्रूकभट्टकृत टीका- सहित ३ |
| ८९ मालतीमाधवनाटक सटीक ॥० | १२३ वेदान्तदर्शन सभाष्य सटीक ६ |
| ९० मालविकाग्निमित्रनाटक सटीक १ | १२४ भामती(वेदान्त)वाचस्पतिमिश्रकृत ३ |
| ९१ सुदाराचसनाटक सटीक १ | १२५ वेदान्तपरिभाषा १० |
| ९२ सृष्टिकटिकनाटक सटीक १॥० | १२६ वेदान्तसार सटीक ॥० |
| ९३ रत्नावलीनाटिका सटीक ॥० | १२७ विवेकचूडामणि वेदान्त १० |
| ९४ शकुन्तलानाटक सटीक १ | १२८ पञ्चदशी (सटीक) वेदान्त १॥० |
| ९५ काव्यप्रकाश अलङ्कार सटीक ४ | १२९ सिद्धान्तविन्दुसारः (वेदान्त) ॥० |
| ९६ काव्यादर्श सटीक (अलङ्कार) १ | १३० पुरुषप्रवर्णनम् सभाष्य ॥० |
| ९७ काव्यदीपिका अलङ्कार सटीक ॥० | १३१ साङ्गादर्शन (भाष्यसहित) २ |
| ९८ कुवलयानन्द अलङ्कार सटीक २ | १३२ सांख्यसूत्र अनिरुद्धवृत्तिसहित ॥० |
| ९९ चन्द्रालोक प्राचीन अलङ्कार १० | १३३ साङ्गासार १० |
| १०० दशरूपकम् (अलङ्कार) १ | १३४ सांख्यतल्लकोमुदी सटीक २ |
| १०१ साहित्यदर्पण सटीक अलङ्कार १॥ | १३५ सांख्यकारिका गोडपादभाष्य ॥ |
| १०२ साहित्यदर्पणम् (मूलमात्र) ॥० | |

| | |
|--|---------------------------------------|
| १३६ मीमांसादर्शनम् भाष्यसहित १२ | १६८ यक्यजुर्वेदस्य प्रातिश्रः |
| १३७ मीमांसापरिभाषा १० | सभाष्य २ |
| १३८ शाखिल्यनृत्य सभाष्य ॥० | १६९ सामवेदसंहिता सभाष्य ४ |
| १३९ जैमिनीय (न्यायमालाविसरः) ६ | १७० अग्निपुराणम् २ |
| १४० अथ्यसंग्रह (लौगादिमीमांसा) १० | १७१ अध्यात्मरामायणम् सटीक २ |
| १४१ न्यायदर्शन सभाष्य सत्रनि २॥० | १७२ कल्किपुराणम् १ |
| १४२ भाषापरिच्छेदः सुक्तावली ॥० | १७३ गरुडपुराणम् २ |
| १४३ भाषापरिच्छेदगुक्तावली दिनकरी १॥ | १७४ सटीक वाङ्मोकिरामायण |
| १४४ शब्दशक्तिप्रकाशिका (न्याय) ॥० | बालकाण्डम् १ |
| १४५ कुसुमाञ्जलि सटीक (न्याय) १० | १७५ विष्णुपुराणम् सटीक ३ |
| १४६ उपमानचिन्तामणिः १ | १७६ ब्रह्मवैवर्तपुराण सम्पूर्ण ४ |
| १४७ आत्मतत्त्वविवेक (बौद्धाधिकारः) २ | १७७ मत्स्यपुराणम् २ |
| १४८ अनुमानचिन्तामणिः सटीक ४॥ | १७८ मार्कण्डेयपुराणम् १॥० |
| १४९ तर्कासत्र (जगदीशकृत) न्याय १० | १७९ लिङ्गपुराणम् २ |
| १५० तर्कसंग्रह इ. अनुवादसहित ॥० | १८० श्रीमद्भगवद्गीता सभाष्य सटीक ४ |
| १५१ पातञ्जलदर्शन (सभाष्य सटीक) २ | १८१ अष्टाङ्गहृदय (वाग्भट) वैद्यक ३ |
| १५२ पातञ्जलदर्शन भोजवृत्तिसहित १ | १८२ चक्रदत्त (वैद्यक) १॥० |
| १५३ वैशेषिकदर्शनम् सटीक ३ | १८३ चरकसंहिता (वैद्यक) सम्पूर्ण ६ |
| १५४ सर्वदर्शनसंग्रहः [दर्शनशास्त्र] १ | १८४ माधननिदान सटीक १॥० |
| १५५ आद्यवर्षोपनिषद् सभाष्य ३ | १८५ भावप्रकाश (वैद्यक) ५ |
| १५६ आरण्यकसंहिता सभाष्य ॥० | १८६ मदनपालनिर्घण्टुः (वैद्यक) ॥० |
| १५७ ईश केन कठ प्रश्न सुष्ट माण्डूक्य | १८७ रसेन्द्रचिन्तामणितयारसरत्नाकर ६ |
| उपनिषद् (सटीक सभाष्य) ३ | १८८ ब्राह्मणरसंहिता (वैद्यक) १ |
| १५८ गायत्री व्याख्या ॥० | १८९ सुश्रुतसंहिता सटीक (वैद्यक) १० |
| १५९ गोपथब्राह्मण (अथर्ववेदस्य) १ | १९० सुश्रुतसंहिता मूलमात्र (वैद्यक) ४ |
| १६० छान्दोग्य उपनिषद् सटीक सभाष्य ३ | १९१ चिकित्सासारसंग्रह वङ्गसेनकृत ५ |
| १६१ तैत्तिरीय ऐतरेय श्रुताश्रतर सभाष्य २ | १९२ गणिताध्यायः भास्कराचार्यकृत १ |
| १६२ देवत तथा षड्विंशब्राह्मणसभाष्य २ | १९३ गोलाध्यायः भास्कराचार्यकृत ॥० |
| १६३ निरुक्त सभाष्य सटीक १२ | १९४ बृहत्संहिता वा वाराहसिंहसंहिता २ |
| १६४ वृत्तिसंहितापनी सभाष्य २ | १९५ भावकुतूहल (न्योतिष) ॥० |
| १६५ बृहदारण्यक सटीक सभाष्य ७ | १९६ लीलावती भास्कराचार्यरचित ॥० |
| १६६ सुक्तिोपनिषत् १ | १९७ बीजगणित भास्कराचार्यरचित ॥० |
| १६७ यक्यजुर्वेदसंहिता सभाष्य ४ | १९८ सूर्यसिद्धान्त सटीक १ |

कलिकाता संस्कृतविद्यामन्दिरे वि, ए, उपाधिधारिणः

श्रीगोवानन्दविद्यासागर-भट्टाचार्यस्य सकाशात् लभ्यन्ति ।

सूचीपत्रम् ।

| | | | | |
|---|--|-----|-----|-----|
| | प्रथमाध्यायः—दायभाग निरूपणं. | ... | ... | ५४ |
| „ | स्वत्वविचारः | ... | ... | १४ |
| „ | विभागकालः | .. | ... | १७ |
| „ | पितृधनविभागकालः | ... | ... | २१ |
| | द्वितीयाध्यायः—पितामहधनविभागकालः | ... | . | २६ |
| | तृतीयाध्यायः—१ परिच्छेदः पितृपरमानन्तरं भ्रातृकर्तृकविभागः | .. | ... | ५८ |
| „ | २ परिच्छेदः स्ववर्णभ्रातृणां विभागप्रकारः | .. | ... | ६५ |
| | चतुर्थाध्यायः—१ परिच्छेदः स्त्रीधननिरूपणं | ... | .. | ७१ |
| „ | २ परिच्छेदः स्त्रीधनविभागः | .. | ... | ७६ |
| „ | ३ परिच्छेदः अपुत्रः स्त्रीधनाधिकारिणः | ... | ... | ८६ |
| | पञ्चमाध्यायः—विभागानधिकारिणः | ... | ... | १०० |
| | षष्ठाध्यायः—१ परिच्छेदः विभाज्याविभाज्यधननिरूपणं | ... | ... | १०५ |
| „ | २ परिच्छेदः विद्याधननिरूपणं | ... | ... | १२२ |
| | सप्तमाध्यायः—विभागानन्तरजातविभागः | .. | ... | १३० |
| | अष्टमाध्यायः—विभागानन्तरगतविभागः | ... | ... | १३२ |
| | नवमाध्यायः—एकपितृकाणां स्ववर्णानुलोमपरिणीतस्त्रीजातानां | | | |
| | पुत्राणां विभागः | ... | ... | १३४ |
| | दशमाध्यायः—पुत्रिकौरसयोर्विभागः | ... | ... | १४४ |
| | एकादशाध्यायः—१ परिच्छेदः अपुत्रधनविभागः | .. | ... | १४६ |
| „ | २ परिच्छेदः पत्न्याभावे दुहितृधिकारः | ... | ... | १७५ |
| „ | ३ परिच्छेदः दौहित्राभावे पित्रधिकारः | ... | ... | १८५ |
| „ | ४ परिच्छेदः—पित्रभावे मातृधिकारः | ... | ... | १८७ |
| „ | ५ परिच्छेदः—मातृभावे भ्रातृधिकारः | ... | ... | १८८ |
| „ | ६ परिच्छेदः—भ्रातृभावे भ्रातृपुत्राधिकारः | ... | ... | २०६ |
| | द्वादशाध्यायः—संस्तुतिधनविभागः | ... | ... | २१६ |
| | त्रयोदशाध्यायः—विभागकाले निष्ठितस्य विभागः | ... | ... | २२१ |
| | चतुर्दशाध्यायः—वृत्तविभागसन्देहनिर्णयः | ... | ... | २२६ |
| | पञ्चदशाध्यायः—ग्रन्थकारप्रस्तावः | ... | ... | २३२ |

दायभागः ।

प्रथमाध्यायः ।

सन्वादिवाक्यान्यविस्मृष्य येषां यस्मिन् विवादो बहुधा बुधानाम् ।
तेषां प्रबोधाय स दायभागो निरूपणीयः सुधियः ! शृणुध्वम् ॥१॥

पादास्त्रुजे हे जगदम्बिकायाः श्रीकृष्णविप्रो हृदये निधाय ।

करोति टीकामिह दायभागयत्यावबोधाय सदेकरस्याम् ॥

यस्यारम्भे विघ्नविघाताय देवतानामीचारणरूपं मङ्गलमाचरन् शिष्यप्रहृष्ट्यर्थ-
समिधेय प्रयोजनसम्बन्धाय प्रदर्शयन् दायभागमुद्दिशति सन्वादीति ।

तथाचोक्तं ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं शीतुं शीतो प्रवर्तते ।

यस्यादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

अत्राभिधेयी दायभागः प्रयोजनं दायभागनिर्णयः स च संशयापनोदनद्वारा
दम्बनिवृत्तिहेतुतया गौणः । सम्बन्धश्च यस्यस्य दायभागेन सङ्ग ज्ञाप्यज्ञापक-
भावः तन्निश्चयनं सङ्ग जन्यजनकभाव इति । श्रोकार्थंस्तु हे सुधियः ! यस्मिन्
दायभागे येषां बुधानां बहुधा विवादः सम्बन्धित्वापगमानन्तरं समुत्पन्नस्य
सामुदायिकस्वत्वस्य विनाशेन प्रादेशिकस्त्वानुकूलव्यापारी विभागः किंवा
तदानीमुत्पन्नस्यैव प्रादेशिकस्त्वत्वस्य ज्ञापनं विभागः तथा सतधनं प्रथमं पुत्रस्यैव
पितरैश्च पत्रा एव वेति बहुप्रकारी विवादः, तेषां बुधानां प्रबोधाय विशेषरूपेण
दायभागस्य सम्बन्धिनां मध्ये व्यक्तिविशेषनिष्ठत्वेन प्राथमिकाधिकारस्य आवधारणाय
स दायभागो निरूपणीयः निरूपणाहं । न च नायमुद्देशः किन्तु प्रतिज्ञेति
वाच्यं तथात्वे वक्ष्यमाणप्रतिज्ञान्तरानुपपत्तेः अतएव निरूपणीय इत्यनेन निरू-
पणस्य प्रतिज्ञेति साम्प्रदायिकव्याख्यानमसदित्यववेधं तस्मात् शृणुध्वम् । अत्र
च निरूपणं लक्षणादिप्रकारेण ज्ञानानुकूलवचनं तदेव च निरूपणीयविशेषण-
तथोपस्थितं श्रवणक्रियाया कर्मतयान्वेति योग्यत्वात् । न च श्रुतातोः श्रवण-
वाचित्ववत् शास्त्रबोधवाचितापौति निरूपणीयस्यापि तदयोग्यत्वमस्ति कथमन्यथा
आत्मावारे श्रोतव्यो मन्त्रव्य इत्यादि श्रुतावात्मनः श्रोतव्यतेति वाच्यं सर्वत्र यावन्-

बाधेनैव शुभातुना शास्त्रबोधप्रतिपादनात् तत्र तस्य लाक्षणिकत्वात् । ननु सर्वेषामेव विरुद्धवचनानां बुधवचनत्वेन प्रमाणत्वात् बहुधैव दायभागोऽस्तीत्यत आह मन्वादीति अविमृष्य अबुद्धा तथा च तद्वचनानां शास्त्राबोधमूलकत्वेन न प्रामाण्यमिति भावः । श्रीकराचार्यादि शय्यादरपराहतविवेकानां पण्डितानां स्वव्यक्तव्यनैयायिकतत्तत्सुस्मार्थशाङ्कता नास्तीति तेषां व्यावृत्तये मधिय इति सम्बोधनम् । न्यायग्रहीतशास्त्रार्थशाङ्कत्वमेव सुधीत्वम् । अत्र मनोर्देवतया तन्नामोक्तीर्त्तरूपं सङ्गलं बोध्यम् । एनमेके वदन्त्यस्मि' मनुमेके प्रजापतिम् । आहुरेके परं धर्ममपरे ब्रह्म शाश्वतमिति । स्वशब्दनिर्देशेन च मनोरादिशब्दनिर्दिष्टतरस्मृतिकारिभ्यः प्राधान्यमावेदितं तेन स्मृत्यन्तरविरोधे मनुस्मृतिरेव शास्त्रा । अत एवोक्तं मन्वर्थविपरौता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते वेदार्थापनिवृत्त्यात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतमिति ॥ १ ॥

अथ दायभागो निरूप्यते ।

तत्र नारदः ।

विभागोऽर्थस्य पितृस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते ।

दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः ॥ २ ॥

निरूपणे शिष्यावधानाय प्रतिजानीते अर्थेति उद्देशानन्तरमित्यर्थः निरूप्यते गणनादिप्रकारेण ज्ञायते । तेन न उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति प्राप्तकामः । तत्र दायभागलक्षणप्रसङ्गे नारद इत्यस्यैकवचनान्तत्वेनाग्राह्यत्वमप्युच्यते । अहंति क्रियया अन्वयः । विभागोऽर्थस्येति । विभागः स्वत्वनिर्णयानुकूलो व्यापार इत्यग्रे वक्ष्यते तथाच पितृस्यार्थस्य पुत्रैर्यो विभागः पुत्रकर्तृकी विभागः स दायभागः स यत्र धने प्रकर्षेण कल्प्यते विभागिभिरैकमन्या मन्थस्याद्यवलम्बनेन वा तद्विवादपदमिति बुधैः प्रोक्तमित्यन्वयः । न चाष्टादशविवादपदगणनायां स्त्रीपुंषर्मा विभागश्चेत्यनेन मनुना विभागस्यैव विवादपदत्वेन गणितत्वात् दायस्य चागणितत्वात् कथं दायस्य विवादपदत्वमिति वाच्यं इदं हि विवादपदपदं न पारिभाषिकं किन्तु यौगिकं दायभागविषयकविवादविषयत्वस्य दायोपपत्त्यभावात् दायमविषयौक्यं दायभागविषयकविवादासम्भवात् । नारद-तत्त्वानुरोधेन मनुकृतविवादपदगणनायां विभागपदस्य कृदभिहितभावतया विभजनीयदायपरत्वे त्वनुपपत्तिलेशाभावाच्च । केचित्तु यत्रेति निमित्तसप्तमी अदर्थेय विवादपदं तथाच यद्विवादपदनिमित्तं पितृस्यार्थस्य पुत्रैर्विभागो

ऽक्षपातः प्रकल्प्यते तद्विवादपदं दायभाग इत्याहुः । य इत्यर्थे यद्वेति सुपांसुपा
साधित्यर्थे । परे तु यत्त्विति पाठः तदर्थे च विभागक्रियाविशेषणमित्यूचुः ।
केचन पित्रास्यार्थस्येति निर्धारणे षष्ठीं वर्णयन्ति हन्तः सामासिकस्य चेतिवत्
तथाच पित्रास्यार्थस्य मध्ये यस्मिन्नर्थे पुत्रैर्विभागः क्रियते स दायभाग इति तेषां
मते वचनार्थः । अत्रापि मते धनस्य विवादपदत्वं पूर्वोक्तरीत्या बोध्यमिति ।
यस्तु इत्येव पाठ इत्यपरे ॥ १ ॥

पितृवत् आगतं पित्रं तच्च पितृमरणोपजातस्त्वमुच्यते ।
पित्रास्येति पुत्रैरिति च ह्यमपि सम्बन्धिमात्रोपलक्षणं
सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रधनविभागेऽपि दायभागपद-
प्रयोगात्, अतएव दायभागं विवादपदमुपक्रम्य नारदोऽपि
मात्रादिधनविभागमप्युपदर्शितवान् । तथा मनुरपि पित्रा-
दिपदमदत्त्वेव एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत इत्युपक्रम्य यावत्
सम्बन्धिधनविभागमुक्तवान् ॥ ३ ॥

ननु विभागात् प्रागेव पितुर्निधनादिना तदर्थेण तत्स्वत्वापगमात् पित्रपदस्य
पितुरिदमित्यर्थक्यनायामयोग्यत्वमती व्याचष्टे पितृवत् इति । ननु पितृवत्
आगतमित्यस्य पितृस्त्वनाश्रानन्तरमपरस्त्ववदित्यर्थकत्वे पितृदत्तादेरप्येवं पित्रा-
त्वापत्त्या दायत्वापत्तिः पित्राधनविभागस्येव दायभागत्वेन पित्राधनस्यापि
दायत्वस्याभ्युपेयत्वादत् आह तच्चेति । पितृमरणेति । पितृमरणादुपजातं स्वं
यत्र पितृमरणाधीनस्त्ववदित्यर्थः वस्तुतस्तुः पितृस्त्वनाश्रकालेऽपि पितृस्त्वोप-
लक्षितबीधकतया पित्रपदं योग्यमेव पात्ररक्ते घटे श्याम इत्यादिप्रयोगवत् अत-
एव विभज्येयुधंनं पितुरित्यादिवचनाप्यपि सङ्गच्छन्ते । मरणपदञ्चात्र इतरस्त्वलाभि-
सम्भानापूर्वकस्त्वत्वापगमहेतुभूतव्यापारत्वरूपेण , पातित्याश्रमान्तरप्रवेशादीनाम-
प्युपलक्षणं पितृदत्तादौ तु स्वं न पितृमरणाधीनं किन्तु सम्प्रदानस्त्वलाभि-
सम्भानपूर्वकत्वागार्हव पितुरिति नातिप्रसङ्गः । केचित्तु पितृवत् आगतं पितृवत्
सम्बन्धाज्ज्ञत्वं पितापुत्रभावसम्बन्धाधीनस्त्ववदित्यर्थः । तच्चेत्यादि तु तत्परि-
चायकमित्याहुः । पौत्रादिभिः क्रियमाणस्य पितामहादिधनविभागस्य दाय-
भागत्वोपपादनायाह पित्रास्येतीति । सम्बन्धिमात्रेति । तथाच पितृपदस्य

पुत्रपदस्य च सम्बन्धिमिति लाक्षणिकतया पितामहादिधनस्यापि सम्बन्धुपरम जातस्त्ववत्तात् तदिभागस्य सम्बन्धिकृतत्वाच्च दायभागत्वमनुष्ठमिति भावः पुत्रैरिति बहुलं कर्तृत्वं चाविवक्षितं तेन हयोर्विभागे मध्यस्थक्रियमाणं गर्भस्थविभागे च नाव्याप्तिः । ननु पितामहादिधनविभागो न दायभाग प्रमाणाभावात् तदा कथं तत्संग्रहाय लक्षणेत्यतस्तत्र प्रमाणमा सम्बन्धिमतिरेणिति । सम्बन्धिसात्रकृत सम्बन्धिसात्रधनविभागे दायभागपदप्रयोगः सन्निविरोधात् लक्षणापपत्तेराह अतएवेति । सम्बन्धिसात्रधनविभागस्यापि दायभागत्वाद्वैल्यर्थः अन्यथा पितृधनविभागस्यैव दायभागत्वे दायभावात्विवाद पदोपक्रमे सात्रादिधनविभागकथनस्याप्रस्तुताभिधानत्वापत्तेरिति भावः ननु नारदेन दायभागीपक्रमे पितृधनविभाग एवोक्तः सात्रादिधनविभागस्य च प्राप्तिक्रमेवाभिधानम् अन्यथा स्वीकृतिविरोधः स्यादिति कथं सात्रादिधनविभागस्य दायभागत्वमित्यत आह तथा मनुरपीति । पित्रादिपदमदत्तैवेति । तथा च नारदेन पितृधनविभागस्य पृथगुक्तत्वात् सात्रादिधनविभागकथनस्य तत्प्राप्तिक्रमसम्भवेऽपि मनुना दायभागीपक्रमे पित्रादिपदानन्तर्भावेनैव यावत्सम्बन्धि धनविभागस्वीकृते सम्बन्धिधनविभागस्यैव दायभागत्वमिति भावः । न च नारदानुरोधात् मनुष्मन्, सङ्कोचोऽस्त्विति वाच्यं मनोर्बलवत्त्वात् । रतिसंज्ञित अन्योन्यानुरागयुक्तः, आपद्यपत्यप्राप्तिः क्षेत्रजादिपुत्रकरणम् ॥ ३ ॥

दीयत इति व्युत्पत्त्या दायशब्दो ददातिप्रयोगश्च गौणः
मृतप्रव्रजितादिस्त्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्त्वोत्पत्तिफलसाध्यात् न
तु मृतादीनां तत्र त्यागोऽस्ति ॥ ४ ॥

ननु सम्बन्धिधनविभागे दायभाग इत्युक्तं तच्च न सम्भवति भावकृतदत्तदाय शब्दस्य त्यागमात्रबोधकतया सम्बन्धिधनाबोधकत्वादित्यत आह दीयत इति तथाच दायशब्दस्य दीयते यत् स दाय इति कर्मव्युत्पन्नतया कर्मकृतेव धनबोध इति भावः । ननु तथाप्यनुपपत्तिः कर्मकृता धात्वर्थस्य कर्मण एव बोधनात् धात्वर्थस्य प्रकृते त्याग एव मृतप्रव्रजितादिपित्रादीनां तदानीं त्यागाभावेन त्यागकर्मत्वेन तद्धनबोधनासम्भवादत्त आह ददातिप्रयोगश्चेति, दाधातुप्रयोगश्चेत्यर्थः । अकारः पुनरर्थः । गौण इति । शक्यस्य सादृश्यात्मकः सम्बन्धी गुणः तदधीना या लक्षणा सा गौणी तदयोगात् गौण इत्यर्थः तथा च पूर्वस्वामिस्त्वनिवृत्तिपरस्वामिस्त्वोत्पत्तिफलकत्यागत्वेन रूपेण त्यागशक्तस्य दाधातोः पूर्वस्वामिस्त्वनिवृत्तिपरस्वामिस्त्वोत्पत्त्यनुकूलव्यापारत्वेन पित्रादिमरणप्रव्रज्यादिसाध

रणेन रूपेण लक्षणा सम्बन्धिनिधनाद्यनन्तरं मरणादिरूपतादृशव्यापारजन्यं यत्-
पूर्वस्वामिस्त्वनिवृत्तिपरस्वामिस्त्वतीत्यतिरूपं फलवर्धनं तच्छालिलरूपं कर्मत्व-
मक्षतमेवेति नानुपपत्तिरिति भावः । एतेन मरणादेर्ददार्थत्वे तत्र दाधातो-
र्गौणता, तत्र स्वत्वस्यानवच्छेदकतया च धनस्यापि न कर्मत्वं धात्वर्थतावच्छेदक-
फलशालिन एव कर्मत्वादिति धात्वर्थजन्यफलभागित्वात्तत्र प्रत्ययस्यापि गौणता
चकारः समुच्चये इत्याचार्यसूडामणिमतं प्रत्यक्तं, धातोर्निरुक्तरूपेण लक्षणाया
स्वत्वस्य धात्वर्थतावच्छेदकत्वेन तच्छालिलरूपकर्मत्वस्य धने निष्प्रवृत्त्यादिति ।
गणमाह सृतप्रव्रजितादीति । साम्यादिति शक्यलक्ष्ययोक्तृरूपत्वात्तथाविध-
व्यापारयोर्मध्ये लक्ष्ये शक्यस्य सृतप्रव्रजितादिस्त्वनिवृत्तिपरस्वतीत्यतिरूपीभ्य-
फलानुक्तलक्ष्यापारस्वरूपसादृश्यादित्यर्थः । लक्षणाहेतुं मुख्यार्थबाधमाह न न
सृतादीनामिति, तत्र धने, समस्यर्थां विषयत्वं तस्य त्यागेऽत्ययः त्यागी न
समदममुकस्य भवत्वित्येच्छारूपः ॥ ४ ॥

ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये
स्वत्वं तत्र निरुद्धो दायशब्दः ॥ ५ ॥

दायशब्दस्य पार्थिवमिताग्रमाह ततश्चेति । क्रीतादावतित्याभिवारणया
धीनानाम् । अत्र च पूर्वस्वामीत्यविवक्षितं सम्बन्धाधीनत्वस्यैव व्यावर्त्तकत्वात् ।
सम्बन्धस्य शास्त्रप्राप्तपुत्रत्वाद्यन्यतमः न तु क्रेतृत्वादित्येः कथस्य सम्बन्धाधीनस्वत्व
प्रत्यहेतृत्वात् किन्तु कथाधीनस्वत्वं प्रत्येव तस्य हेतुत्वमिति । विद्यमानपति-
भ्रत्वके दायन्यसम्बन्धाधीनपत्नीस्त्वलाशयेऽतिव्याप्तिवारणाय तत्स्वाम्योपरमे इति
तथाच तातद्व्यतमसम्बन्धाधीनं सत् यत् पूर्वस्वामिस्त्वलाशयजन्यस्वत्वं तत्राह
धने निरुद्धो दायशब्द इत्यर्थः । ननु स्वत्वनाशानन्तरं चेत् स्वतीत्यतिभेदात्
तत्त्वतोऽस्वामिकतया निश्चादिवददामीनस्याप्युपादानात् स्वत्वापत्तिरिति चेन्न
तत्र पुत्रादिसत्ताया एव विरोधित्वस्य पुत्राद्यधिकारबोधकशास्त्रसिद्धत्वात् न च
पित्रा विक्रीतेऽपि पुत्रस्वत्वापत्तिः इतरस्वत्वाभिमत्यानापूर्वकपितृस्वत्वापगमहेतु-
व्यापारजन्यपितृस्त्वलाशयस्यैव सम्बन्धाधीनं विजातीयं पुत्रम्यत्वं प्रति हेतुत्वं न
तादृशस्त्वलाशयस्य च स्वलेच्छानधीनपितृस्त्वलाशयत्वेन हेतुता न तु उक्तपक्षेण
गौरवात् पित्रा पुत्राय दत्तानु यत्नं तत्र पुत्रस्य स्वत्वं न सम्बन्धाधीनं किन्तु दा-
सीनस्यैव दानाधीनं अती न तत्र तादृशपितृस्त्वलाशयस्य व्यभिचारः अतएव
तद्वर्षं धनं न दाय इति । वस्तुतस्तु पितृस्त्वत्वमेव पुत्रस्त्वतीत्यर्था हेतुः न चेन्न
पितृस्त्वत्वं विद्यमानेऽपि तद्वन् पुत्रस्वत्वापत्तिः तत्र पितृस्त्वलाशयकस्यापि सङ्ग-
कारित्वात् । स्वत्वनाशकश्च मरणप्राप्तित्यादि तेषां स्वत्वनाशकत्वेन श्रुतिप्रति-

पादितानां मरणत्वपातित्वत्वादि विशेषरूपेणैवाव्यवहितोत्तरत्वान्तर्भावेण पुत्र-
 स्वत्वोत्पत्तौ हेतुत्वं तेन न परस्परव्यभिचारः अतएव विनष्टे वायु शरण इत्यादि-
 वचनेः पितुः पातित्वान्नन्तरमेव पुत्रस्त्वमिति प्रतिपादितम् । एतेन पित-
 र्वत्तनाशकानां मरणादीनां तेन तेन रूपेण हेतुत्वं, स्वत्वनाशकत्वेन, स्वत्वनाश-
 सामयीत्वेन वा, नाशः अनेककार्यकारणभावकल्पने गौरवात्, न द्वितीयः
 जीवत्यपि पितरि पुत्रस्य स्वं स्यात् स्वत्वनाशं प्रति स्वत्वस्यादृष्टस्य च हेतुत्वात्
 तदानीमपि स्वत्वादृष्टादीनां तन्नाशकानां सत्त्वात्, तृतीये चान्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं
 गृहीत्वेव यस्य यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृह्यत इत्युक्तान्यथामिद्वेः सामयीर्भेदेन
 नानाकार्यकारणभावकल्पने गौरवाच्च तदपेक्षया नाशरूपहेतुताया एव लघुतया
 युक्तत्वादित्यादिकं प्रत्युक्तम् । प्रप्रज्यामरणपातित्वानां त्रयाणां कार्यकारण-
 भावत्रयकल्पनामपेक्ष्य अन्तर्द्वितीयोपादानिकस्त्वं प्रति क्लीवादिभेदकृद्विशिष्ट
 पुत्रसत्तायास्तथाविधपौत्रादिसत्तायाश्च प्रतिव्यवस्थकल्पनायामेव गौरवात् न
 चावश्यकत्वात् मरणादीनामेव हेतुत्वमनु न तु पितृस्त्वत्स्यापेक्षितं वाच्यं तथा
 सति सम्बन्धाधीनस्त्वधारावारणाय तथाविधस्त्वस्य स्वसमानजातीयस्त्व
 प्रति प्रतिव्यवस्थकल्पनागौरवापत्तः उत्पत्तिमत्त्वसम्बन्धेन मरणादेर्हेतुतया न
 धारापत्तिरिति चेन्न उत्पत्तेराद्यक्षणसम्बन्धरूपतयाऽननुगमनं कार्यकारणभावा-
 नन्त्यप्रसङ्गात् सम्बन्धाननुगमस्यादीपत्वसिद्धान्तस्य च मन्त्रपाठमात्रत्वात् प्रकार-
 भेदेनैव सम्बन्धभेदेनापि व्यापकताभेदस्यावश्यकत्वात् । मन्त्रे तु सम्बन्धिस्त्वत्-
 र्हेतुत्वात् तदभावादेव तद्वारापादानस्यासम्भव इति सुधीर्भिर्बिम्बान्वीयम् ।
 स्वत्वञ्च यथेष्टविनियोगार्हत्वेन शास्त्रबोधितत्वमिति प्राञ्चः । अतिरिक्तः पदार्थ
 इति शिरोमणिः । स्वामित्वञ्च तन्निरूपकत्वं निरूपकतया तदेव च द्रव्यगत
 गुणगतञ्च द्रव्यस्य दानादिश्रुतेः नील वा पृष्ठमुत्सृज्यद्विधादौ लौह्यादि
 गुणविशिष्टपारिभाषिकनीलवर्णोत्सर्गश्रुतेः वस्तुतस्तु आत्मसमवेतं स्वामित्वमिति-
 र्क्तिः पदार्थः विक्रयदानादीनां तन्नाशकत्वं क्रयप्रतिश्रद्धादीनाञ्च तद्वत्त्वं
 सम्बन्धलाघवात् तदेव निरूपकतया स्वत्वव्यवहारहेतुः विषयतया च ज्ञात
 तावत् अतएव निवन्धादौ भाविन्यपि स्वं अन्यथा प्रतिमामं प्रतिवर्षे वा
 देयत्वेन प्रतिश्रुतस्य धान्यादिरूपस्य तस्य भावित्वेन तत्र तदुत्पत्त्यनुपपत्तेरिति
 चूडामणिसम्मतौ लोलावतोरङ्गस्यसिद्धः समीचीनः पन्थाः । तत्र स्वत्वधारावारणाय
 सजातीयस्त्वं प्रति सजातीयस्त्वं विरीधि । सजातीयेति करणात् परा-
 जितनृपतिराज्यान्तर्बन्धितत्तत्पुरुषीयक्रमागतस्थावरादौ जयादिना जितुर्नृपतेः
 करग्रहणोपयोगिभ्योत्पादे तथा क्रीतप्रतिग्रहीतराज्यान्तर्बन्धितं तादृश-
 स्थावरार्थं क्रीतादेः क्रयाद्यधीनस्त्वोत्पादेऽपि न व्यभिचार इति संचपः ॥ ५ ॥

ननु किं दायस्य विभागो विभक्तावयवत्वं यद्वा दायेन सह विभागोऽसंयुक्तत्वं, न तावत्पूर्वः दायविनाशापत्तेः नापि द्वितीयः संयुक्तोऽपि न भवेदं विभक्तं स्वं भ्रातुरिदमिति प्रयोगात् ॥ ६ ॥

न च सम्बन्धाविशेषात् सर्वेषां सर्वधनोत्पन्नस्य स्वत्वस्य द्रव्यविशेषे व्यवस्थापनं विभाग इति वाच्यं सम्बन्धन्तर-सद्भावप्रतिपक्षस्य सम्बन्धस्यावयवेष्वेव विभाग व्यङ्ग्यस्वत्वा-पादकत्वात् कृतस्त्रपितृधनगतस्वत्वोत्पादविनाशकल्पनागौर-वात् यथेष्टविनियोगफलाभावेनानुपयोगाच्च ॥ ७ ॥

दाय निरूप्य भागं निरुपायत्वं पृच्छति नन्वाति । नारदेन विभागभागयो-रेकत्वप्रतिपादनादाह विभाग इति । दायविनाशेति । आरम्भकसंयोगप्रति-वन्निनाशयवद्वयविभागेनासमवायिकारणस्यारम्भकसंयोगस्य नाशान् दृष्टानाश-पक्षारित्यर्थः इदमुपलक्षणम् अविभक्तं सुखगन्धोऽपि तत्सत्त्वात् अखण्डोऽपि विभक्त-तदसत्त्वाच्चेति द्रष्टव्यम् । संयुक्तोऽपि । संयुक्तोऽपि वस्तुनि इदं वस्तु विभक्त-भ्रातुः स्वं न भवेति पयोगादित्यर्थः । यद्यपि इदं विभक्तामिति प्रयोगस्येवा-पेक्षितत्वं भ्रातुः स्वं न भवेति कथनमनुपयोगि तथापि वर्णोपक्रमव्यवहारस्य विभागाधीनत्वात् तत्र विभक्तत्वस्याऽश्वभावप्रतिपादनार्थं तत्कथनमिति । सम्बन्धाविशेषादिति । स्वत्वहेतोस्तत्पुत्रत्वादिसम्बन्धस्य सकलपुत्रादिमाधार-ण्यादित्यर्थः । सर्वधनोत्पन्नेति । सम्पन्नी त्रीणि रितवत् सामान्याश्रयणादक-वचनं द्रव्यविशेषे एकैकस्मिन्नं व्यवस्थापनम् अशालन्त्यावस्था व्यवस्थापनं एतेन स्वत्वं प्रतिपुरुषं भिन्नमिति प्रतिपादितं तेन साधारणं सर्वेषां स्वत्वमेकमेवेति भवन्निरासः सामुदायिकस्वत्वविनाशतत्तदशोयवर्णः एकस्वत्वहेतुभूतव्यापार इति-वार्थः तेन समवेतस्य स्वत्वस्य तत्त्वमानस्याश्रयत्वात्पुत्रत्वात्तत्त्वमन्वेषोऽपि न च्यति-रिति । सम्बन्धन्तरेति । तुल्याधिकारिसम्बन्धन्तरेत्यर्थः तेन सत्पितृक-पौत्रादिसद्भावस्य संग्रहः जीवित्यहकपौत्रादिभद्भावस्य चासंग्रहः सम्बन्धन्तरसद्भाव-प्रतिपक्षः स्वजन्यफलविरोधी यस्य तादृशस्य पुत्रत्वादिरूपसम्बन्धस्य अवयवत्व-एकैकस्मिन्नं एव स्वत्वोत्पादकत्वादित्यर्थः । कस्य क्वांश्च स्वत्वमित्यत्र निष्णा-यकमाह विभागव्यङ्गाति । तथाच यदंगं यस्य स्वत्वं तदंश एव तस्य गुटिका-पात इति नियम इत्यभिप्रायः विभागस्य च व्यञ्जकत्वेन तदभावादेव न विभा-

गात् पूर्वं स्वत्वस्य विशेषनिष्ठत्वेन तत्तत्पक्षीयत्वप्रत्यय इति भावः । ननु सम्बन्धन्तरसत्तायाः सामान्यत एव सम्बन्धन्तरस्वत्वविरोधित्वे कुत्राप्यंशे कस्यापि स्वत्वं नीत्येते विरोधिमत्त्वादिति चेदत्र ब्रूमः सम्बन्धाधीनस्वत्वप्रागभाववत्त्व-प्रत्यासत्त्या सम्बन्धन्तरस्यैव सम्बन्धन्तरीयसम्बन्धाधीनस्वत्वं प्रति विरोधित्वं विभागानन्तरं प्रादेशिकस्वत्वस्य भवतामप्यभ्युपेयत्वेन तत् प्रागभावस्य मत्त्वादिति नानुपपत्तिरिति । सम्बन्धन्तरसत्तायाः प्रतिबन्धकत्वे प्रमाणमाह कर्तृर्हति । नकलपित्रादिधनगतसम्बन्धिसमसंख्यसामुदायिकस्त्वानि तेषामुत्पादविनाशश्च एतावदनन्तपदार्थकल्पनापेक्षया प्रतिबन्धकल्पनस्यैव लघुत्वादिति भावः । प्रमाण-सत्त्वं गौरवमप्यकिञ्चित्करं कथमन्यथाष्टकल्पनमतः प्रमाणाभावमाह यथेष्टेति । यथेष्टविनियोगरूपफलानुमेयमिह स्वत्वं समुदायं कस्यापि सम्बन्धिनन्तदभावेन कथं तत्कल्पनमिति भावः । ननु विभागानन्तरमविनिश्चयविनष्टधने स्वत्व-समीत्यत किं मानमिति चेन्न अविनिश्चयं विनष्टं समं विनष्टमिति प्रतीति-बलादन्नेयमिति, इदमुपलक्षणं विभागस्य स्वत्वहेतुत्वे स्वत्वनाशकत्वं च प्रमाणा-भावात् एकपत्रसत्त्वे व्यभिचाराच्च तत्रावश्यकल्पनीयकारणान्तरादेवात्यन्तापि निबोद्धेत्यान्यथासिद्धेय एवं विभागस्य स्वत्वनाशकत्वं चौरैर्विभज्य गृहीते धने धनिनः स्वत्वनाशापत्तिरित्यपि बोध्यम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

उच्यते एकदेशोपात्तस्यैव भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यव-स्थितस्य गुटिकापातादिना व्यञ्जनं विभागः ॥ ८ ॥

विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः ॥ ९ ॥

उच्यते इति । भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य एकदेशोपात्तस्य तत्तदभावविच्छिन्नस्य विनिगमना इदममुकस्य नान्यस्यैवधारणरूपा तत्प्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यव-हारः परस्परनेरपेक्षेण दानविक्रयादिलक्षणः तदनर्हतया अव्यवस्थितस्य सतीऽप्यमत्कल्पस्य गुटिकापातादिना व्यञ्जनम् इदममुकस्यैवधारणं विभाग इत्यर्थः आदिना उभयसम्मतमध्यस्थवचनादिपरिग्रहः अत्रैकदेशोपात्तत्वादिकं स्वरूपकथनमात्रं न तु विभागपदार्थकोटौ तत्तद्रूपेण तेषां निवेशः । विभाग-पदार्थस्तु पूर्वस्मान्निस्वत्वनाशजन्यतत्सम्बन्धाधीनसमुत्पन्नस्वत्वावधारणमात्रमिति अतएव सम्भूय वर्षाजां समुदायधनविभागो न दायभागः तेषामर्जनाधीनस्वत्व-स्यैव विभागेनावधारणादिति । अस्मिन्नर्थे च विभागपदस्य योगाभावात् रुद्धिरिति बोध्यम् । नन्वत्र रुद्धिकल्पने गौरवं एवं पितृकृतविभागेऽप्यामिष तत्र

पुत्राणां प्रागुत्पन्नस्वत्वाभावेन निरुक्तविभागत्वासम्भवात् न च तत्र विभागपदं स्वत्वावधारणरूपगुणयोगादगौणमेवेति वाच्यं मुख्यत्वे सम्भवति गौणत्वस्यान्याय्यत्वादत आह विशेषेणेति । पुरुषविशेषनिरूपितांशविशेषनिष्ठत्वेनेत्यर्थः । स्वत्वज्ञापनमिति स्वत्वज्ञापनं स्वत्वज्ञानानुकूलव्यापारो गटिकापातादिरित्यर्थः । दाय-भागपदे तु व्युपसर्गाभावेऽपि धातूनामनेकाग्रत्वात् भजतिरेव केवली विशिष्टार्थ-मभिधत्त इति । एवञ्च भजत्यर्थेकदेशे ज्ञाने व्युपसर्गार्थस्य प्रकारतयान्वयात् विशेषेण स्वत्वज्ञानानुकूलव्यापारलक्षणो विभागः शक्तिलभ्य एवेति न रुढिकल्पना नवा पिष्टकृतविभागेऽव्याप्तिरिति । अस्मिन् कल्पे सम्भूय वणिजां धनविभागेऽपि विभागत्वमस्तीति किन्तु न स दायभागः तद्वनस्य दायत्वाभावादिति बोध्यम् ॥ ८ ॥ ६ ॥

यत्रापि चैकं दासीगवादिकं बहुसाधारणं तत्रापि तत्तत्कालविशेष बह्वनदोहनफलेन स्वत्वं व्यज्यते । तदाह ब्रह्मस्यतिः ।

एकां स्त्रीं कारयेत् कर्म यथांशेन गृहे गृहे ।

उद्धृत्य कूपवाप्यम्बस्वनुसारेण गृह्यते ॥

युक्त्या विभजनीयं तदन्यथानर्थकं भवेत् ।

इदं श्लोकार्द्धत्रयं नानास्थानस्थं न तु क्रमिकम् ॥ १० ॥

ननु यत्रैकैव दासी गवादिर्व्यक्तिर्वा पिष्टसम्बन्धिनौ तस्यां परस्परविराधेन कस्यापि स्वत्वं न स्यात् तथाच तद्विभागे न दायभागः स्यादत आह यत्राति । कालेति । कालविशेषे व्यवस्थापितद्वित्रिदिनादौ बह्वनं दोहनं वा फलं यस्य तादृशेन प्रथमं दिनद्वयं त्रयादिर्वा ज्येष्ठस्य तदनु तावद्दिनं तदनुजस्य एवञ्चा परापरमपरापरस्येति मध्यस्थवचनेन स्वत्वं ज्ञाप्यत इत्यर्थः तथाचैकस्यामेव व्यक्ती कालिकाव्याप्यवृत्तीनि नानास्वत्वानि स्वामित्वलक्षणानि सर्वेषु पुत्रेषु प्रागुत्पन्नानि तेषाञ्चैकैकस्य मध्यस्थवचनेन कालविशेषे तत्तद्व्यक्तिनिष्ठत्वं नावधारणमिति तत्र तादृशमध्यस्थवचनमेव विभागेऽव्याहृत इति भावः । कालभेदेन स्वत्वज्ञेयं प्रागुत्पन्नप्रमितं स्यात् तदा तत्प्रतिपादकमध्यस्थवचनमपि विभागः स्यादतः कालभेदेन तथाविधस्वत्वे प्रमाणमाह एकां स्त्रीमिति । यथांशेन भागिसम-सङ्गमासदिवसादंशेन तथाच कालभेदेन कर्ममात्रविधानात् कालभेदेनैव तत्र सर्वेषां स्वत्वं प्रागुत्पन्नमिति प्रतिपादितं तच्चैकैकस्य एकैकमव्याप्यवृत्ति न ०

नाना अनन्तस्वत्वतदुत्पत्तिविनाशकल्पनागौरवादिति । अनुसारेण स्वस्वप्रयो-
जनानुसारेण न तु परिमाणसाम्येन । ननु यथैकस्मिन् सुवर्णादांशभेदेन
स्वत्वमभ्युपेयते तथैकस्यामपि दासीगवादिव्यक्तौ अंशभेदेन स्वत्वमभ्युपेयतामत
आह युक्त्येति । युक्तिश्च प्रयोजनसापेक्षतया वैशेषिकयथेष्टविनियोग एव विभाग
प्रयोजनं, तच्चावयवविभागेऽसम्भवि अवयवानां स्वातन्त्र्येण यथेष्टविनियोगानर्ह-
त्वात् निरर्थक एव विभागः स्यादित्याह अन्यथेति । इदमुपलक्षणं अवयविन
निधित्वापत्तिः अयं न कस्यापीति व्यवहारापत्तिश्च द्रष्टव्या तथाचानायत्या
कालभेदेनैव स्वत्वमिति सुवर्णादीनाञ्च स्वातन्त्र्येण विनियोगार्हत्वात् तत्र देशभेदे-
नैव स्वत्वमिति । ननु तत्कालस्वामिना विक्रीते वस्तुनि कालान्तरस्वामिना-
मनुमतिमन्त्रेणापि तत्र क्रेतुः सार्वकालिकस्वत्वापत्तिरिति चेन्न विक्रितुर्यादृशं
स्वत्वं क्रेतुस्तादृशमेव स्वत्वं क्रयाज्जायते । एवञ्च क्रेतुर्विक्रेतुः स्थानौघतयान्यैः
सह तद्वस्तुनः पर्यायेण विनियोग इति । अतएव राज्यान्तराधिकारिणः
सकाशात् अन्यनृपतिना क्रीते राज्यान्तरादौ विक्रेतस्वत्वसजातीयं करग्रहणोप-
योगि स्वत्वमेव तत्र तस्य जायते न तु दायप्रतिगृहीतभूम्यादिवृत्तिस्वत्वसजातीय-
स्वत्वं तत्र भूम्यादौ तथाविधस्वत्वसत्त्वेन तद्विरोधात् तादृशस्वत्वान्तरीत्यस्यसम्भवात्
समानजातीययोस्तयोर्विरोधादिति । एतत्-श्रौकाङ्क्षयस्य संहितायां क्रमेणा-
दर्शनात् असूलत्वशङ्कामपनेतुमाह इदमिति । यच्चात्र आर्त्तेन दूषणमभिहितं
अविभक्तभावीरेकेन भावा साधारणाश्वयोरैकतरमादाय धनमर्जितं तद्वार्जित-
धनेऽर्जकस्य हावशौ अपरस्यैकोऽंश इति सर्वसम्मतं तत्र यदि गुटिकापातादिना
पश्चादर्जकेन सोऽश्वो लब्धस्तदा प्रादेशिकस्वत्ववादमते प्रागप्यर्जकस्यैव सोऽश्व
इति तेनार्जितधने कथं भ्रातृन्तरस्य भागः यदि चानर्जकेन लब्धस्तदा सम-
भागीयुक्तः एकस्य स्वायासेन अपरस्याश्वायासेनार्जितत्वादिति तदसत् प्रादेशिक-
स्वत्ववादमतेऽविभक्तस्यैव साधारणपदार्थत्वादिति सामान्यस्वत्वानुपपत्तिर्नान्य-
विधस्यासम्भवात् अतस्तदुक्तदोषासम्भवादिति सूधीभिर्भाव्यम् । अत्र हरिनाथ-
मिताक्षरावाचस्पतिमिश्रानुयायिनः यत्र यस्य स्वत्वं तत्रैव तस्य गुटिकापात
इत्यत्र प्रमाणाभावात् दुर्विभक्तत्वेन पुनर्गुटिकापातविसंवादाच्च, किञ्च एकचेन्नोत्-
पन्नशस्यानां यदांशक्रमेण ग्रहणं तत्र किमवच्छेदेन स्वत्वं जायते न शस्यावच्छेदेन
शस्यानां तदानीमजातत्वात् किञ्च एकेन गवा ऊष्टभूम्यादर्थं शस्यविभागसत्त्वं
किमवच्छेदेन गवि स्वत्वं शस्यावच्छेदेनेति चेन्न शस्यादेस्तदसम्भवात् नह्य
सम्बन्धोऽप्यवच्छेदकः किञ्च सम्बन्धसाम्यात् सर्वेषां सर्वत्र स्वत्वोत्पत्तौ बाधका-
भावात् प्रागभावाद्वादीनां विशिष्य हेतुत्वाभावात् सम्बन्धन्तरसत्तायाः प्रति-
बन्धकत्वे गौरवात्, न च सामान्यस्वत्वोत्पत्तिविनाशकल्पनागौरवं प्रामाणिकत्वात्

एकस्यां दास्यां दशानां स्वत्वे त्रिदिनात् परं स्वत्वनाशतदुत्पत्तिकल्पनायां विपरीत-
गौरवाच्च विभागस्य स्वत्वनाशकत्वं तद्वैतुल्यं पितृकृतविभागे क्लृप्तमित्याहुः ॥ १० ॥

ननु पितर्युद्धं गते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुरिति नारद-
वचनात् पितुर्धनं विभजेयुरित्यन्वयात् विभागात् पूर्वं न तत्र
पुत्राणां स्वत्वं न च विभागस्य स्वत्वकारणता असम्बन्धिधने-
ऽप्यतिप्रसङ्गात् ॥ ११ ॥

विभागः प्रागुत्पन्नस्वत्वज्ञापकः स्वत्वजनको वेति मतद्वयोपरि साध्यमिकः
शङ्कते नन्विति । न तत्र पुत्राणामिति पितुर्धनमिति षष्ठाशोधितपितृस्वत्वस्य
प्रतिबन्धकत्वात् तथाच प्रागुत्पन्नस्वत्वज्ञापको विभाग इति न सम्भवतीति भावः ।
द्वितीयमतमाशङ्क्य निषेधति न चेति । स्वत्वकारणतेत्युपलक्षणं पूर्वस्वत्वनाश-
कतेत्यपि बोध्यम् । असम्बन्धीति । उदासीनैरसम्बन्धिधने गुटिकापातादौ
कृते तत्र स्वामिस्वत्वनाशोदासीनस्वत्वयोः प्रसङ्गादित्यर्थः, न च सम्बन्धिधनस्वत्वं
प्रत्येवास्य कारणत्वमिति वाच्यं मुख्यस्य जीवतः पितुर्धने पुत्रैर्बलाद्विभागे तदा-
पत्तेः ॥ ११ ॥

उच्यते पित्रादिनिधनानन्तरमेवास्मदीयं धनमिति प्रयो-
गात् एकपुत्रे च विभागं विनैव स्वत्वस्वीकाराच्च सम्बन्धि-
निधनमेव स्वत्वकारणमतो नातिप्रसङ्गः ॥ १२ ॥

नन्वर्जयित्वापारोऽर्जनम् अर्जनाधीनस्वामिभावश्चार्जयिता
तेन पुत्रव्यापारो जन्मैवार्जनं युक्तम् अतो जीवत्येव पितरि
पुत्राणां तत्र स्वत्वं न तु तन्निधनात् अत एवोक्तं क्वचिज्जन्मैव
यथा पित्रे धने ॥ १३ ॥

नैतत् मन्वादिविरोधात् । यथा मनुः,

ऊर्द्धं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।

भजेरन् पैतृकं रिक्त्यमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १४ ॥

विभागात् पूर्वं पुत्राणां स्वत्वव्यवस्थापनेनैव स्वमतसिद्धविभागस्य निष्पत्त्यु-
त्तेति तत् व्यवस्थापयति उच्यते इति । पितृनिधनानन्तरमित्यत्र निधनपदं

इतरस्वत्वाभिसम्मानापूर्वकस्वत्वापगमहेतुभूतव्यापारीपलक्षकम् एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । ननु विभाग एव सम्बन्धिना क्रियमाणः स्वत्वहेतुरती नासम्बन्धिने-
ऽतिप्रसङ्गः तस्य च सम्बन्धिनिधनपातित्यायमान्तरप्रवेशादन्यतमकालस्य सङ्-
कारित्वात् न बलादिभागे तदापत्तिरती विभागात् पूर्वमस्यदीयमिति प्रयोगो
गौण एवेत्यत आह एकपुत्रे चेति । तथाच व्यभिचारात् विभागस्य सामान्यतः
कारणत्ववाधेन तत्र कृत कारणादेव सम्बन्धिनिधनात् बहुपुत्रस्थलेऽपि तत्सम्भवे
तदन्यथासिद्धेश्च सर्वत्र सम्बन्धिनिधनमेव स्वत्वहेतुरित्युत्तरस्वत्वघटितविभाग-
लक्षणस्य नानुपपत्तिर्न वा पूर्वमस्यदीयमिति प्रयोगो गौणः किन्तु मुख्य एवेति
पितृर्जनमिति तु भूतपूर्वस्वत्वात् उपपाद्यमिति भावः । अर्जनं यद्व्यापार
इति । इदञ्च नार्जनाजयितोर्लक्षणपरम् अन्योन्याशयप्रसङ्गात् किन्त्वर्जनस्वामि-
न्ययोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावपरम् अर्जनलक्षणं स्वामित्वहेतु-
भूतव्यापारत्वमेव तथाच व्याधिकरणस्य पितृनिधनादेर्न पुत्रस्वीत्यसौ हेतुत्व-
मित्याशङ्कार्यः । तेन व्यधिकरणस्य हेतुत्वासम्भवेन । जन्मैवेति । न च
पुत्रोत्पत्त्यनन्तरं पितृर्जितद्रव्ये पुत्रस्त्वानुपपत्तिराद्यक्षणसम्बन्धरूपपुत्रजन्मनोऽतीत-
त्वादिति वाच्यं जन्मपदेनाद्यक्षयसम्बन्धं मयैव लक्षणयोक्तत्वात् ननु स्वत्वं
यथेष्टविनियोग्यत्वेन शास्त्रगम्यत्वलक्षणं तच्च पितृर्भाविद्रव्ये पुत्रस्वात्तत्वं पितृ-
र्द्रव्यं पुत्रेयथेष्टविनियोग्यमिति शास्त्रेण पितृद्रव्यत्वावच्छेदेनैव पुत्रविनियोग्यत्वस्य
बोधनादिति चूडामणिसमतमादरण्यीयमिति चेन्न तथा सति जन्मप्रागपि स्वत्वा-
पत्त्या जन्मैवार्जनमित्यनुपपत्तेः किञ्च स्वं विनियुञ्जीतेति श्रुतिवाक्यादन्यबोधे
सति यथेष्टविनियोग्यत्वेन शास्त्रगम्यत्वरूपस्वत्वज्ञाने स्वपदात् तदुपस्थितिः
तस्याञ्च सत्यां तदन्यबोध इत्यन्योन्याशयात् तस्मात् स्वत्वं पदार्थान्तरमेव स्वत्व-
त्वचाखण्डोपाधिविशेष इति । युक्तमिति । अर्जनस्वामित्वयोः सामानाधि-
करण्यानुरोधादिति भावः । जीवत्येवेति । पातित्यादिकं विनेति शेषः ।
जन्मैवेति । अर्जनमिति शेषः । दूषयति नैतदिति । कइ खल्वीपरमान-
न्तरम् ॥ १२—१४ ॥

जीवतोरपि पित्रोः पुत्राणां कुतो न विभाग इत्याशङ्का-
यामिदमुत्तरं तदानीमस्वामित्वादिति ॥ १५ ॥

न च भार्या पुत्रश्चेत्यादिवत् अस्वातन्त्र्याभिप्रायमिति
वाच्यं तदानीं स्वत्वे प्रमाणाभावात् भार्यादिषु तु यत्ते समधि-
गच्छन्ति अर्जयन्तीति स्वत्वे सिद्धे युक्तमस्वातन्त्र्यवर्णनम् ॥ १६ ॥

किञ्च स्तोपात्तेऽपि तेषामस्वामित्वे स्वधनसाध्यवैदिक-
कर्मोच्छेदात् श्रुतिविरोधः स्यात् ॥ १७ ॥

देवलञ्च पितृधने अस्वाम्यमेव स्पष्टयति
तथा पितर्युपरते पुत्रा विभज्युर्धनं पितुः ।
अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते ॥ १८ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च तत्र एवाधनाः स्मृताः । यत्ते सराधिपतृर्हन्ति यस्य ते
तस्य तद्वनमित्यत्र यथा अधना इत्यस्य अस्वतन्त्रा इत्यर्थः तथा अनीशा इत्यादि
अस्वतन्त्रा इत्यर्थो वाच्य इत्याशङ्कते न चेति । तदानीं पितृजीवमकाले ।
भार्यादिविति । अर्जयन्तीत्यनेन स्वतरेतुरूपार्जनमधीधनात् स्वतन्त्राप्रौ तदन्यथा
ऽनुपपत्त्या युक्तमस्वातन्त्र्यवर्णनमित्यर्थः । ननु धिगमो नीपार्जनं किन्तु उप-
दानमेव वाच्यमत आह किञ्चेति । न च पत्यादिभिर्देवैः कर्मोपपत्तिरिति
वाच्यं तर्हि पत्यादिकृतव्याग एव भार्यादीनां भवत्वमुत्पादयेत् तथाचान्यती-
त्यर्थः यदा लाभानन्तरमेव पत्यादेः स्वत्वं तथा पत्यादितो लब्धेऽपि स्यादिति
कथं तेन कर्मोपपत्तिरिति तद्दीपतादवज्यात । ननु अनीशा इत्यस्य अस्वतन्त्रा
इत्येवायं अस्वास्यायं कर्त्तुं जीवतीरिति द्विवचनबलसम्भस्य पितरि जीवति
मातरि जीवत्याम् अनीशा इत्यस्य पितृपरमानन्तरं मातृसत्त्वाविषये बाधापनः
तदानीं पुत्राणां स्वामित्वे सर्वेषामविवादादत आह देवत्वमिति । तथाचात्र
मातृरयुतत्वात् अस्वाम्यपदं कृत्यमेव ननु स्वातन्त्र्यं । लाञ्छनकिर्ति-
भावः ॥ १५—१८ ॥

किञ्च जीवत्यपि पितरि पितृधने पुत्राणां स्वामित्वे
पितुरनिच्छेद्यापि विभागः स्यात् जन्मनैव स्वत्वमित्यत्र
प्रमाणाभावाच्च अर्जनरूपतया जन्मनः स्मृतावनधिग-
मात् ॥ १९ ॥

कचिज्जन्मैवेति च जन्मनिबन्धनत्वात् पितापुत्रमस्यस्यस्य
पितृभरणस्य च स्वत्वकारणत्वात् परम्परया वर्णनम् ॥ २० ॥

अन्यव्यापारिणान्यस्य स्वत्वमविरुद्धं शास्त्रसूत्रत्वादस्य ।
दृष्टञ्च लोकेऽपि दाने हि चेतनोद्देशविशिष्टव्यागादेव दातृ-
व्यापारात् सम्प्रदानस्य द्रव्ये स्वामित्वम् ॥ २१ ॥

नप्रतिग्रहेर्वाङ्मणी धनमर्जयेदित्यत्र राजमूयेन यजेतेत्यादिवत् याजनायात्मकै-
र्जनमर्जयेदित्यन्वयात् प्रतिग्रहस्यार्जनरूपता सिद्धा प्रतिग्रहस्य स्वत्वहेतुत्वे च
तद्विरुद्धं स्वत्वहेतुव्यापारस्यैवार्जनत्वादत आह याजनेति । अर्जनरूपता
अर्जनव्यपदेशः । अविरोधमुपपादयति याजनादाविति तथाच याजनादीनां
स्वत्वाहेतुत्वेन तदन्वयानुरोधतः अर्जयेदित्यत्रार्जनत्वं न स्वत्वजनकत्वं किन्तु
स्वत्वप्रयोजकत्वमेव तत्र प्रतिग्रहेऽप्युच्यते दत्ते सत्ययं प्रतिगृह्णातीत्यवधारण-
एव तद्दर्शनेन दातृस्यागात् तत्स्वत्वोदयात् प्रतिग्रहवैमुख्यज्ञाने तद्व्यातिरेका-
च्चैति भावः । ननु धात्वर्थगमनानुकूलकृतिसम्यक् गन्नादिव्यपदेशो लाघवात्
न तु धात्वर्थतावच्छेदकफलानुकूलव्यापारवति गौरवात् तथाच 'कथं'
प्रतिग्रहीतृर्दातृत्वापत्तिः तस्य दानानुकूलकृत्यभावात् अतएव ऋत्विगेव ह्येते-
त्युच्यते तस्यैव हवनानुकूलकृतिसत्त्वात् न यजमानस्य भवन्मते स्वीकार-
स्वपदस्य यथेष्टविनियोगार्हत्वविशिष्टं लक्षणावच्च मन्मतेऽपि शास्त्रीयदान-
पदस्य स्वत्वाभिमुखानुपूर्वकत्वात् लक्षणा किञ्च याजनाभ्यापनयोः पूर्ववर्ति-
तया प्रयोजकत्वात् तन्ममभिख्यातप्रतिग्रहस्यापि तथात्व युक्तं न तु प्रयोजक-
ज्ञाननिषेधतया ॥ २२—२४ ।

पितृनिधनकालीनं वा जीवनमेव पुत्रस्यार्जनं भविष्यति ।
किञ्च भ्रात्रादिधने तन्मरणत् तन्मरणकालीनजीवनाद्वा
भ्रातृन्तरादेः स्वत्वमकामेनापि वाच्यम् ॥ २५ ॥

अत ऊर्द्धं पितृश्रेत्यादि (मनु ८।१०४) तत्कालीनस्वत्व-
ज्ञापनार्थं तदानीमेव चेच्छाप्राप्तं विभागमनुवदति प्राप्तत्वात्
विधानानुपपत्तेः ॥ २६ ॥

न च नियमः सम्भवति एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्म-
काम्ययेति (मनु ८।१११) मनुविरोधात् दृष्टार्थत्वाच्च विभा-
गस्य न तन्नियमः कालनियमो वा सम्भवति ॥ २७ ॥

अपिच त्यागमरणादयोः स्वत्वहेतुत्वे तदानीं त्यक्तृतादीनामर्जयितृप्रतीति-
व्यवहारापत्तिरतः समानाधिकरणव्यापार एव स्वत्वहेतुत्वात् तत् कथं
पितृनिधनादेः पुत्रस्वत्वहेतुत्वमत आह पितृनिधनकालीनं वेति । पुत्रजीवनमेव
स्वत्वहेतुः तत्र पितृनिधनकालः सहकारौत्तर्यः एवं सति अस्वायं ह्यौत्तरादिक

मपि सङ्गच्छते जन्मनो हेतुले तत्र लक्षणा स्यादिति भावः । विनिगमकान्तरमाह
 किञ्चेति । मरणस्य हेतुले पूर्वोक्तदोषापत्तिरतस्तन्मरणकालीनजीवनादेति ।
 अकामेनापीति । अन्यथा मातृपर्यन्तरहितभातृधने तस्मिन्निर्दोषे जीवत्यपि
 भातृन्तरस्यायल्लक्षणसम्बन्धं सरूपजन्मतः स्वत्वापत्तेस्तदनिच्छयाऽपि विभागप्रसङ्गात्
 भातृस्वत्वस्य च भावन्तरस्वत्वाविरोधात् सामुदायिकस्वत्वे दद्यादर्शनात् एवं
 भातृद्वारपरिग्रहे तदनन्तरं भातुः स्वत्वमाश्रयत्वेन तद्धारमरणे पुनः स्वत्वोत्पत्ति-
 रिति कल्पनागौरवाच्च । अतोऽत्र क्लृप्तकारणादेव जीवनादव्यवापि निर्वाहे किं
 पुत्रस्वत्वं प्रति तज्जन्मनो हेतुलकल्पनयेति भावः । अत्र मनोः स्वरसं दर्शयति
 अत इति । यतो न जीवति स्वत्वमत इत्यर्थः । तात्कालीनं पितृमरणकाली-
 नम् । यत उक्तन्यायात् उपरम एव स्वत्वं तत इच्छया विभागोऽपि तदा
 प्राप्त एवेति विभागविध्यनुपपत्तेराह तदानीमेवेति । पितुरुपरमकालमित्यर्थः ।
 अनुवदतीति । तथाच तात्कालिकस्वत्वज्ञापनार्थं विभागानुवाद इति न
 तद्विधिरिति भावः । विधित्वं सभावत्यनुवादत्वमन्याय्यमतो नियमविधिरिव
 भविष्यतीत्याशङ्क्य निषेधति न चेति । नियमः पितुरुद्धं विभज्जेदित्येवंरूपः ।
 दृष्टार्थत्वादिति । दृष्टमात्रार्थत्वात् अदृष्टाजनकत्वादिति यावत् तथा चादृष्ट
 जनककर्म्मण्येव करणाकरणयोः शुभाशुभादृष्टमात्रार्थो नियमः यथा जलशुश्रूषयो-
 र्मगदौ गौरवतारणातुमन्त्रणयोर्जमानकर्त्तृकमन्त्रपाठनियमः करणे शुभादृष्टार्थः
 योष्यवर्गभरणादिनियमश्च अकरणादशुभादृष्टार्थ इति करणाकरणाभ्यां तज्जन
 कस्त्वयं विभागो वचनशतेनापि नियन्तुमशक्य इति भावः । कालनियमो यदि
 विभज्जेत् तदा पितुरुद्धमेव विभज्जेदित्येवंरूपः ॥ २५—२७ ॥

किञ्च पितर्युपरत इत्यनन्तरकाल एव विभागः स्यात्
 न तु परस्तादपि जातेष्टिवत् जातप्राणवियोगार्पित्समान-
 स्यात्त विरोधस्याभावात् पितृपरमानन्तरस्य च यावज्जीव-
 पर्यन्तस्य स्वेच्छात एव प्राप्तत्वात् ॥ २८ ॥

अतो जीवति पितरि सत्यपि पुत्राणां स्वाभ्ये विभाग-
 निषेधार्थं मनुवचनं वाच्यं तच्चान्याय्यम् अस्यार्थपरत्वापत्तेः
 ॥ २९ ॥

अथाल्लदृष्टार्थ एव कालनियम इत्यत आह किञ्चेति । पितृपरमानन्तर-
 मित्यन्तानन्तरम् अन्यवहितानन्तरम् अनन्तरमात्रं वा आद्येऽनन्तरकाल एवेति

पितृपरमाश्रयवद्विज्ञानान्तरकाल एवेत्यर्थः । विशेषणस्थितरव्यावृत्तिफलत्वादाह नन्विति । ननु यथा वैश्वानरं द्वादशकपालञ्चरुं निर्वपेत् पुते जाते इत्यत्र जातेत्यव्यवहितोत्तरकालस्य प्राप्तावपि बाधकमलादशौचान्ते क्रियते तथात्रापि समयान्तरं विभागे भविष्यतीत्यत्र आह जातेष्टीति । जातप्राण्येति । तथाच नाडीच्छेदानन्तरमशौचीत्यादात् जातकर्मवदच्छिन्ननाडीदशायामेव इष्टिर्वाच्या सत्यपानञ्च कृतवत् नाभीमिति ब्रूयात् स्नानञ्च प्रतिषेधेति गोभिलेन नाडीच्छेदात् परमभिहितं तावत् कालञ्च सत्यापाने शुष्ककण्ठतया क्षालविद्योगापत्तिरिति तदि-
गंधात् तत्र तथा इह तु न तद्विरोध इत्यर्थः । द्वितीये पितृपरमानन्तरस्येति । स्वेच्छात एवेति । तथाच पितृपरमात् पूर्वं पुत्राणामस्वाभ्यात् विभागाप्रसक्तिर्विभागे तदनन्तरकालस्यावश्यकतया विधिं विनापि सिद्धत्वेन अश्यावर्त्तकतया तथा नियमो व्यर्थ एवेति भावः । अट्टष्टार्थकलकल्पना चाट्टष्टादिकल्पना गौरव-
पराहतेवेति इदम्यम् । ननु तथापि परिसङ्ख्याविधिराणां जीवति पितरि पुत्रा न विभर्जयन्निति नानुवाद इत्याशङ्क्य निराकरोति अत इति । भवन्मते स्मृत्यस्य प्रागेव जातत्वात् अन्यथा प्रसक्त्यभावे निषेधातुपपत्तिरिति भावः । वाच्यं भवतेति शेषः । अस्वार्थेति कर्त्तुं भर्जयन्नित्यस्य जीवति न भर्जयन्नित्यस्वार्थ-
परत्वापर्यव्रित्यर्थः । इदमुपलक्षणं स्वार्थहानिरपि बोध्या । प्राप्तवाधत्तञ्च नान्ति जीवति पितरि विभागस्याप्राप्तेरिति बोध्यम् । एतेन स्वार्थहानिप्राप्त-
वाधार्वापि बोध्याविति चूडामण्युक्तं न युक्तम् ॥ २८ ॥ २९ ॥

अतो जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति किन्तू-
परतयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादिवचनम् एकः शाब्दोऽपर-
श्चार्थः ॥ ३० ॥

न चोपरममात्रमेव विवक्षितं किन्तु पतितप्रव्रजितत्वा-
द्युपलक्षयति स्वत्वविनाशहेतुतासाम्यात् ॥ ३१ ॥

तदाह नारदः ।

मातुर्निवृत्ते रजसि दत्तासु भगिनीषु च ।

विनष्टे वाप्यशरणे पितर्युपरतसृष्टे ॥ ३२ ॥ (नारद १३।३)

विनष्टे पतिते अशरणे गृहस्थाश्चमरहिते । यदा निवृत्ते
वापि मरणादिति पाठः तदा मरणान्निवृत्ते जीवति निःसृष्ट-
इति । पाठान्तरमनाकरम् ॥ ३३ ॥

सप्रयोजनतयाऽनुवादी न दीपार्थेति स्वमतमुपहसंहरति अत इति ।
 एको जीवति स्वास्याभावः शाब्दः अनौशा इति शब्दबोधितः । अपर उपरमे
 स्वास्यरूपः आर्थो विभागोन्नयः । उपरमपदस्य यथाश्रुतार्थपरत्वे पतितादौ
 जीवति पितरि तद्वनविभागाभावप्रसङ्ग इत्यत आह न चेति । नहीत्यर्थः ।
 आदिना तानप्रस्थलीपरतसृष्टत्वपरिग्रहः । लत्यतावच्छेदकमाह स्वत्वविनाशेति ।
 तथाच स्वत्वप्रतिसम्मानपूर्वकस्वत्वापगमहेतुव्यापारत्वेन लक्षणेत्यर्थः । तेन पितृ-
 दत्तादौ न विभागप्रसङ्गः दानादौ स्वत्वप्रतिसम्मानपूर्वकत्वादिति । पातित्यादः
 स्वत्वनाशकत्वं प्रमाणमाह तदाहिति । अत्र पुत्रा विभर्जयुरित्युपक्रमनात्वेन
 विभागानुपपत्तात् पितृस्वत्वापगमपुत्रस्वत्वयोरवगमादिति भावः । निर्दोषे पितरि
 स्थिते इति देवलवचनेन सदीपे पितरि स्थिते तन्मन्त्रास्यानाशपुत्रमन्त्रावगमात्-
 देकत्वाक्यत्वाच्च । विनष्टे पतिते इति । विनाशार्थकत्वे पितर्युद्धे गते पुत्रा
 इति नारदवचनान्तरेण सह पौनकत्वापत्तिरिति भावः । अत्र पातितव्याप
 सर्वस्वदानादिप्रायश्चित्तवचनात् प्रायश्चित्तपराङ्मुख्येति विशेषणं देयं तेन प्राय-
 श्चित्तप्रागभावाभावसङ्कलनं पातित्यं स्वत्वनाशहेतुरिति बोध्यम् । गृहस्थाश्रम-
 रहित इति । गृहस्थाश्रमो गार्हस्थ्यं तद्विहितं आचारात्तरगते इत्यर्थः ।
 गृहस्थाश्रमाशरणं इति पाठोऽपि शरणं गृहस्थित्वोक्तिरिति समाकांक्षात् तद्विहित-
 रिति स एतार्थः । उपरतसृष्टे स्वत्वमानकालीनेकाप्रागभावासमान
 कालीनेच्छात्वंसवति । यदेति । विनष्टे वापीति तृतीयवरणं निवृत्ते वापीति
 यदा पाठ इत्यर्थः तदा अस्य निसृष्टत्वविशेषणमाह तदेति । यदा तदेति
 अन्तरसमूचनाय, तद्वीजञ्च विशेषणवैयर्थ्यमेवेति । पाठान्तरमिति । निवृत्ते
 वापि रमणादिति प्रकाशादिधृतपाठान्तरमनाकरमित्यर्थः ब्रह्म यन्मन्त्रदर्शनात्
 तथाविधे पितरि विषयान्तरं सृष्टावत्यतिपसङ्गाच्चिति भावः ॥ ३०-३३ ॥

अत्राप्युपरतसृष्टत्वादिना पुत्राणां स्वत्वं पितृधने भव-
 तीति ज्ञापनादयमेकः कालो विभागस्येच्छाप्राप्तोऽनुद्यते
 प्राप्यनुसारित्वाच्चानुवादस्य स्वाभित्वाच्च प्राप्तेः ॥ ३४ ॥

एकस्यापि स्वधने स्वाभ्यादेकैच्छयापि विभागप्राप्तेः
 समेत्येति (मनु ८।१०४) सहितत्वं पक्षप्राप्तमनूद्यते । अन्यथा
 साहित्यवत् बहुत्वस्याप्यवगतेर्द्वयोर्विभागो न स्यादेव द्वयो-
 र्विभागप्रतिपादक शास्त्राभावात् ॥ ३५ ॥

ज्ञापनादिति । ज्ञापनायेत्यर्थः । समेत्येति । मिलित्वेत्यर्थः । मिलनञ्च सर्वेषामुद्यमसत्त्वे एव तत्किमेकेच्छया न विभाग इत्यत्राह एकस्यापीति । तथाच स्वामित्वेन स्वातन्त्र्यादेकेच्छया विभागी नैयायिक एवेति भावः । पक्षेति । कदाचित् सर्वेच्छया विभागः कदाचिदेकेच्छया यदा सर्वेच्छया तत्त्वज्ञप्ता इत्यर्थः । अन्यथा न्यायप्राप्तानुवादकतां विज्ञाय वचनबलादेव तस्य विवक्षितत्वे, साहित्यवदिति । साहित्यं मिलनमात्रं न तु परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणाम् एकक्रियान्वयित्वरूपसाहित्यं विभागक्रियाया वैशिष्टिकस्वत्वावधारण-रूपाया अक्षपातादिरूपतदनुकूलव्यापाररूपाया वा सर्वान्वययात् । वचनान्तरात् द्वयोर्विभागो भविष्यतीत्याशङ्कामपनयति द्वयोरिति । किञ्चैवम् एकस्य विदेशस्थत्वे बाल्यादिनाऽज्ञानित्वे वा मिलनाभावात् विभागाभावे अप्राप्तव्यवहाराणां धनं व्ययविवर्जितम् । न्यसेयुर्बन्धुवर्गेषु प्रीषितानां तथैव चेति वक्ष्यमाणवचनविरोधः स्यादिति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

ननु उपरते पितरि ज्येष्ठ एव धनाधिकारी नेतरः ।
यथा मनुः ।

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पितरं धनमशेषतः ।

शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ (मनु ८।१०५)

ज्येष्ठोऽत्र पुत्रामनरकव्यावर्त्तकोऽभिप्रेतो न तु जीवदपेक्षः ।
यथा मनुः ।

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।

पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्तन्मृमर्हति ॥

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्यमश्रुते ।

स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः ॥ ३६ ॥

(मनु ८।१०६।१०७)

नैतत् सर्वेच्छाधीनज्येष्ठाधिकारश्रुतेः । यथा नारदः ।

विभृयाहेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ।

भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षा कुले स्थितिः ॥

सर्वेच्छया कनिष्ठोऽपि शक्तः सन् विभूयादिति ॥

(नारद १३।५)

ज्येष्ठता चातन्त्रं यथा मनुः ।

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।

पृथग्विवर्द्धते धर्मस्तस्माद्वर्त्या पृथक्क्रिया ॥

(मनु ८।१११)

सह पृथग्वेति पदाभ्यां काम्ययेति चेच्छाया विकल्पकत्वं दर्शयति ॥ ३७ ॥

पितृवज्ज्येष्ठ एव पितुरनन्तरं धनाधिकारी तेन सह विभाग एवेतरेषां नास्तीत्याशङ्कते नन्विति । पुत्री भवतीति । पुत्रासनरकटाणकर्तृपुत्रवान् भवतीत्यर्थः । स तस्मादिति । तथाच ज्येष्ठस्य धनलाभे पुत्रासनरकटाण-कर्तृत्वरूपपुत्रत्वस्य हेतुर्लानीपादानात् तद्रूपज्येष्ठस्यैव धनाधिकारः नूतद्रूपस्य जीवदपेक्षज्येष्ठस्येति भावः । एतच्च सजातीयस्त्रीजातेषु, विजातीयस्त्रीजातेषु च उत्कृष्टाजातस्यैव ज्येष्ठत्वम् । सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषता । न मातृतो ज्येष्ठमस्ति जन्मतो ज्येष्ठमुच्यते इति मनुवचनात् । धर्मज्ञः न तु रागजः । अपुत्राः सन्त्यदिन इति निन्दाद्येनादादिति भावः । अदिना-ऽदनशीला राक्षसा इति मियाः । तथाच विभागवचनं मृतज्येष्ठकनिष्ठ मातृगणविषयमिति पूर्वपक्षयितुरभिप्रायः । ज्येष्ठता चातन्त्रमिति । ज्येष्ठ एवेत्यवधारणं ज्येष्ठस्य सति भरणमाप्त्यर्थं ज्ञेयम् । पृथग्विवर्द्धते इति । यद्यप्य विभक्तानामप्येकेनेव कर्मणा सर्वेषां धर्मदियात् पृथग्भावे धर्मवृद्धिरनुपपन्ना तथापि पार्थक्यं स्वस्वाधारणद्रव्येण कृतकर्मणोऽतिशयितधर्मोत्पत्तं लघोक्तमिति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

तदेवं पितृस्वत्वापगम एकः कालोऽपरस्थानपगत एव पितुः स्वाम्ये पितुरिच्छयेति कालद्वयम् ॥ ३८ ॥

न पुनः पितर्युपरत इत्येकः कालः, पितर्युपरतसृष्टे मातुश्च निवृत्ते रजसीत्यपरः, अनिवृत्तेऽपि मातृरजसि पितरि ससृष्टे तदिच्छयेति कालद्वयमुद्गृणीयम् । मातृरजोनिवृत्तेः

पितृपरतसृहत्वविशेषणत्वे, त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां
द्वादशवर्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सौदति स्वत्वर
इति (मनु ६।६४) मनुना विवाहकालविधानात्, वनं पञ्चा-
शतो व्रजेदित्याश्रमान्तरगमनकालविधानात् तदा च
रजोनिवृत्तेर्मातुरसम्भवे पितरि चोपरतसृहे वानप्रस्थे तत्-
पुत्राणामिच्छतामप्यविभागप्रसङ्गात् ॥ ३९ ॥

निर्विशेषणमुपरतसृहत्वमेव पितृधनविभागकाल इति
चेन्न, अनुपरतसृहे पितरि पतितेऽप्यविभागप्रसङ्गात् ॥ ४० ॥

अयमप्यपरः काल इत्यभिधाने कालचतुष्टयापत्तिः
पितुरुपरमः, पतितत्वं, निस्सृहत्वं, इच्छा चेति ॥ ४१ ॥

अनुपगत एवेति । यद्यपि पितुरिच्छया विभागेऽप्युपेक्षया पितुः स्वत्वनाशो-
ऽप्यवश्याभ्युपेयः अन्यथा स्वीकृतविभागस्यैवानुपपत्तिः तथापि विभागेच्छाधीन-
तदनधीनस्वत्वापगमाभ्यां कालद्वयमुक्तम् । वस्तुतो लाघवादितरस्वत्वाभिसम्माना-
पूर्वकपितृस्वत्वापगमकाल एक एव दायस्य विभागे निमित्तं न तु कालद्वयं
गौरवादिति बोध्यम् । चूडामणिसम्प्रतीऽप्ययं पञ्च इति । यत्र तु पुत्राणां
सम्भाव्यमानानुभाविकलह्निराकरणार्थं पिता तत्तदंशानवधाय्यं पुनस्तेषु स्वय-
मधिकरोति न तत्र विभागः पितरुपेक्षाविरुद्धेण तत्स्वत्वस्यैव विद्यमानत्वात्
तेन तत्र विभागप्रयोगी भाक्त एवेति । मिताचराकृत्यन्तं निरस्यति न पुन-
रिति । वहेत् उदहेत् सत्वर इत्यनेन उक्तकालादल्पकालपरिगृहीतदारः ।
तदा चेति । हात्रिंशच्चतुस्त्रिंशद्वर्षमभ्य इत्यर्थः त्रिंशद्वर्षेणोद्वाहताया द्वादश-
वर्षीयायाः स्त्रियाः पत्युः पञ्चाशद्वर्षसमये हात्रिंशद्वर्षवयस्कत्वात् एवं चतुर्विंशति-
वर्षेणोद्वाहायाः स्त्रिया अष्टवर्षीयायाः पत्युः पञ्चाशद्वर्षे चतुस्त्रिंशद्वर्षीयत्वात् ।
अविभागप्रसङ्गादिति । इदन्तु न सम्यक् इदानीमविभागस्येष्टत्वात् अन्यथा
पुत्रेषु दारान्निक्षिप्य वनं गच्छेत् सदैव वा इति रागनिवृत्त्यनिवृत्तिभ्यां प्रकार-
द्वयविधानेन रागानिवृत्तौ सङ्गवनगमनपक्षे वानप्रस्थाश्रमीत्यन्नपुत्राणां उत्ति-
लीपापत्तेः । गृहस्थस्तु यदा पश्येहलीपलितमात्मनः । अपत्यपुत्रतत्पुत्रां
सदारण्यं समाविशेत् इत्युक्तकालान्तरे चारण्यगमने विभागस्य नानुपपत्तेः
इदानीं मातृरजो निवृत्तेरपि सत्त्वादिति बोध्यम् । केचित्तु अविभागप्रसङ्गादिति ।

न चेष्टापत्तिः व्यवहारविरोधात् वानप्रस्थस्य पत्नीसहितवनगमनपक्षे, पूज्यैत-
स्मात् अपत्यसम्भावनानिवृत्तेः स्वतःसिद्धत्वेन तत्परत्वासम्भावात् अष्टार्थकल्पना-
गौरवाच्चेत्याहुः । तदसत् न हि वनगमनमेव पुरुषस्य ऊर्ध्वरेतस्त्वं जनयति येन
तदनन्तरपत्यसम्भावनानिवृत्तिः स्यादिति । निवृत्ते रजसीत्यस्य तु विषयः स्वयमेव
परतो वक्ष्यते । कालचतुष्टयं दर्शयति पितुरुपरम इत्यादिना ॥ ३८—४१ ॥

यच्च कार्याक्षमे पितरि पुत्राणां विभागे स्वातन्त्र्यमुक्तं
तद्वचनानभिज्ञत्वेन । तथा च हारोतः । जीवति पितरि
पुत्राणामर्थादानविसर्गाक्षेपेषु न स्वातन्त्र्यं कामं दीने प्रोषिते
आप्तिं गते वा ज्येष्ठोऽर्थान्श्चिन्तयेत् । सुव्यक्तं माहृतुः शङ्क-
लिखितौ । पितर्य्यगक्ते व्यवहारान् ज्येष्ठः प्रतिकुर्यात्
अनन्तरो वा कार्य्यञ्चस्तदनुमतो नत्वकामे पितरि रिक्थ-
विभागो वृद्धे विपरीतचेतसि दीर्घरोगिणि वा ज्येष्ठ एव
पितृवदर्थान् पालयेदितरेषां ऋक्थमूलं हि कुटुम्बमस्वतन्त्राः
पितृमन्तो मातुरप्येवमवस्थितायाः ॥ ४२ ॥

एतद्वचनद्वयं कार्याक्षमे दीर्घरोगिणि च पितरि विभागं
निषिध्य ज्येष्ठ एव गृहं चिन्तयेत् तदनुजो वा कार्य्यञ्च
इत्याह । अतो नत्वकामे पितरोत्येतदेव कार्याक्षमे पितरि
रिक्थविभाग इति भ्रान्तलिखितम् ॥ ४३ ॥

कार्याक्षम इति । अतिवृद्धत्वादिनेति शेषः । आदानं यद्वृत्तं, विसर्ग-
स्यागः, आक्षेपो न्यासकरणम् । न स्वातन्त्र्यं न तदनुमतिं विनाऽधिकारः ।
दीनेऽतिवृद्धत्वादिना दुःखिते । आप्तिं गते अत्यन्तशोकोरोगादिभिः पीडिते ।
एतद्वचने स्वयं वक्ष्यमाणः कार्याक्षमादौ पितरि विभागनिषेधेन ज्येष्ठस्य गृह-
योगक्षेमाचरणरूपोऽर्थो न व्यक्तः न स्वातन्त्र्यमित्यस्य पितुः स्वाख्यदशायामेव
सम्भावात् चिन्तयेदित्यस्य तु विभागार्थं चिन्तयेदित्यर्थसम्भावादत आह सुव्यक्त-
मिति । वृद्धे सर्वकार्याक्षमे । विपरीतचेतसि उन्मादेन । दीर्घरोगिणि
चिरतरकालं मङ्गारोगिणि । पितृवदिति । पिता यथा सर्वेषां पालनपुरः-
सरमर्थान् पालयेत् तथेतरेषां कनिष्ठानां पालनपुरःसरमर्थान् पालयेदित्यर्थः तेन

तथाभूते पितरि ज्येष्ठस्य कनिष्ठपालनपुरःसरमर्थपालकता प्रतिपादिता । अर्थपालने हितुमाह ऋक्थमूलं ह्रीति । कुटुम्बं कुटुम्बभरणं गार्हस्थ्यं वा । अस्वतन्त्राः यथेष्टविनियोगानधिकारिणः, अमीन पितृसत्त्वे पुत्राणामस्वातन्त्र्यं विभागादौ स्फुटमेवाभिहितमिति । एवं मातरि जीवन्त्यामस्वतन्त्राः । अत उक्तवचनानभिज्ञत्वात् । एतदेवेति । सुपांसुपेति समस्यर्थे प्रथमा, एतत्पाठस्थल उच्यते । कार्यान्तरे पितरि रिक्थविभाग इति यल्लिखितं तद्विभक्तिलिखितमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

तस्मात् पतितत्वनिसृहत्वोपरमैः दात्वापगम इत्येकः कालोऽपरश्च सति स्वत्वे तदिच्छात इति कालद्वयमेव युक्तम् ॥ ४४ ॥

मातुर्निवृत्ते रजसीति (नारद १३।३) तु पितामहादिधनाभिप्रायं निवृत्ते रजसि पुत्रान्तरसम्भावनाभावात् तदानीमपि पितुरिच्छयैव पुत्राणां विभागः अनिवृत्ते रजसि क्रमागतधनविभागे पश्चाज्जातानां वृत्तिलोपापत्तेः न चामौ युक्तः ।

ये जाता येऽप्यजाता वा ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।

वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः ॥

इति मनुवचनात् ॥ ४५ ॥

यत एव पितृधने कालद्वयं अत एव मनुगौतमादिभिर्मृतपदं परित्यज्य ऊर्द्धमित्युक्तम् ऊर्द्धं पितुरिति (मनु ८।१०४। गौतम २८।१) पितुस्तदा स्वत्वापगमात् तदर्थमेवोर्द्धमित्युक्तम् अतोऽयमेको विभागकालः । ऊर्द्धं विभागाज्जातस्वित्यनेन (मनु ८।१६। नारद १३।४३) च ससृहे पितरि तदिच्छया विभागकालोऽपरो दर्शितः ॥ ४६ ॥

दत्तासु भगिनीषु चेति (नारद १३।३) न कालार्थं किन्तु तासामवश्यं दानार्थम् ।

तथा यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो दत्तुं पैतृकं ततः ।

भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यं सृणी न स्यादथवा पिता ॥

(नारद ३।३२)

इदं नारदवचनं पितृर्णशोधनावश्यम्भावार्थं न विभाग-
कालार्थम् ॥ ४७ ॥

अस्माच्च नारदवचनादयमर्थः सिध्यति यद्विभागकर्त्तृ-
भिरुत्तमर्णानुमत्यैव पित्रादि ऋणं विभजनीयं परिशोध्यं
वा शोधनावशिष्टधनविभागप्रतिपादनस्यैतत्प्रयोजनत्वात् ।
अत एव मातृधनस्यापि ऋणावशिष्टस्य विभागमाह याज्ञ-
वल्काः । मातुर्दहितरः शेषमृणात् ताभ्य ऋतेऽन्वयः । (याज्ञ-
वल्का २ । ११८) एतच्च विस्तरेण ऋणादाने वक्ष्यते ॥ ४८ ॥

यद्वा दत्तासु भगिनीषु मातृधनं पुत्रैरेव विभजनीयम्
अदत्तासु ताभिः सह साधारणम्, एतच्चावसरे वाच्यम् ॥ ४९ ॥

एवं तावत् पितृधनविभागस्य कालद्वयमप्युक्तम् ॥ ५० ॥

कार्याद्यसमयरूपविभागकालान्तरं निरस्य स्वीकृताभ्यां पुनरुपसंहरति
तस्मादिति । ननु तर्हि मातुर्निवृत्ते रजसीत्यस्य को विषय इत्यत आह मातु-
रिति । पुत्रान्तरसम्भावनाभावादिति । तेन मातृपदं पितृपुत्रापक्षक्षम् ।
तदानीमपि पितृपुत्रीरजःनिवृत्त्युत्तरकालेऽपि । पितुरिच्छयैवेति । अत्र प्रमाणं
वक्ष्यते । ननु पुत्रान्तरसम्भावनासत्त्वे पितामहधनविभागे का क्षतिरित्यत आह
अनिवृत्त इति । वृत्तिलोपः पितामहधने निरञ्जितम् । अयुक्तत्वं हेतुमाह ।
ये जाता इति । जाता उत्पन्ना, अजाता भविष्यद्भक्ष्यम्भवाः । ऊर्ध्वं स्वत्वाप-
गमात् । रजोनिवृत्तिरुपस्वतन्त्रकालनिरासेन पुनरुपसंहरति अत इति । अयं
स्वत्वापगमकालः । प्रमाणदर्शनपूर्वकं कालान्तरमाह ऊर्ध्वमिति । अपरः
पितृस्वत्वापगमादन्तः पितुरिच्छासमयरूपः । यच्छिष्टं यदवशिष्टम् । यथेदं
नारदवचनं न विभागकालान्तरप्रदर्शनार्थं किन्तु ऋणपरिशोधनावश्यम्भावार्थं
अन्यथा ऋणौ न स्यादिति वैयर्थ्यापत्तेः तथा दत्तास्त्विति भगिनीदानावश्यम्भावार्थ-
मित्यर्थः । एतत् प्रयोजनत्वात् ऋणपरिशोधनावश्यम्भावप्रतिपत्तिमात्रप्रयोजनत्वात् ।

अतएव ऋणपरिशोधनस्यावश्यकत्वादेव । ताभ्य ऋते दुहितृभ्यो विना । ननु
अन्वयी दुहितुर्मातुर्वा तत्राह एतच्चेति । वक्ष्यते मातुरन्वय इति व्यवस्थापयि-
ष्यते । पञ्चान्नरमाह यद्वेति । मातृधनमयौतकं यौतके सर्वा दुष्टित्वाभाव एव
पुत्राधिकारस्य वक्ष्यमाणत्वात् तथाच दत्तासु भगिनीषु चेति मातुरयौतकधन-
विषयमिति भावः । अतस्ते प्रकृतसमाप्तौ स्त्रीधनविभागप्रकरणे । उक्तं व्यव-
स्थापितं न्यायवचनाभ्यामिति शेषः ॥ ४४—५० ॥

द्वितीयाध्यायः ।

सम्प्रति पितामहधनविभागकालोऽभिधीयते ।

तत्र बृहस्पतिः ।

‘ पित्रोरभावे भ्रातृणां विभागः सम्प्रदर्शितः ।

मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि शस्यते ॥ १ ॥

नास्य वचनस्य पितृधनगोचरत्वं ऊर्द्धं विभागाज्जातस्त्व-
त्यस्य (मनु ८ । २१६ । नारद १३ । ४४) निर्विषयत्वापत्तेः
निवृत्ते रजसि पुत्रोत्पत्तेरभावात्, मातृधनविषयत्वञ्चास्य
नाशङ्कनीयम् एवं मातुरेव निर्धनत्वापत्तेः अतो निवृत्ते
रजसोति पितामहादिधनविषयम् ॥ २ ॥

न चेच्छामनपेक्ष्य रजोनिवृत्तेर्विभागनिमित्तत्वं सम्भवति
अनिच्छया विभागाभावात् ॥ ३ ॥

मत्यामिच्छायां कस्येच्छेत्यपेक्षायाम् ऊर्द्धं पितुः पुत्रा-
रिक्त्वं विभजेयुः निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छतीति
(गोतम २८ । १—२) गोतमवचनात् पितुरेवेच्छात इति
निर्णीयते ॥ ४ ॥

अतः पित्रोरभाव इत्येकः कालः । पित्रोरिति द्विवचन-

निर्देशात् सोदरभ्रातृणां पितृधनविभागोऽपि मातुरभाव एव
कार्थः ॥ ५ ॥

न तु मातृधनविभागार्थं मातुरभावस्योपादानं जीवतोर-
पोत्यस्य मातृधनगोचरत्वानुपपत्तेः अन्यधनगोचरत्वमवश्यं
वाच्यं तेन यत्रैव विभागे पितृरभावो निमित्तं तत्रैव जीव-
तोरपोत्यपिशब्देन जीवनस्यापि शस्त्वकीर्तनात् न मातुर-
भावो मातृधने व्याख्येयः । एतच्च विस्तरेण वाच्यम् ॥ ६ ॥

पितृधनविभागकाले कथिते पितामहधनविभागकालस्य चाकाङ्क्षितत्वात्
तं वक्तुं प्रतिजानीते सम्प्रतीति । निर्विषयत्वे हेतुमाह निवृत्ति रजसीति । न च
पितृरभाव इति वचनं पितृधनविषयं ऊह्ये विभागाज्जातस्त्विति पैतामहधन-
विषयमिति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यात् । पितामहधने पितुः पुत्रेभ्यः स्वेच्छा-
कृतन्यूनाधिकदानस्यापि निषेधेन उत्पत्त्यमानपुत्रनिरंशतायाः सर्वथैव निषिद्ध-
त्वात् तत्रैव मातृरजोनिवृत्तेः सङ्कारित्वौचित्यात् । न च पित्रा स्वयं गृहीते
हंशे तदनन्तरं तस्यैवाधिकारात् न निरंशतेति वाच्यं तस्य पितृपभोगोपचीणत्वे
निरंशताया दुर्वारत्वात् पैतृके तु तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे इति विण्ववचनेन
इच्छाया, नियामकत्वाभिधानात् इच्छयोत्पत्त्यमाननिरंशतायामप्यविरोधात् न
तत्रास्य सङ्कारितेति, अतएव हत्तिस्त्रीषो विगर्हित इति प्राशुक्लवचने हत्तिपदं
पितामहधनपरमिति सुधीभिर्भाव्यम् । निहन्तृत्वापरं रिति । रजोनिवृत्ति-
मात्रेण तस्याः खलनाशे पुत्राणां तद्वनविभाग इत्यर्थः । उपसङ्हरति अत
इति । यतो न पितृधनगोचरत्वं नापि मातृधनगोचरत्वमत इत्यर्थः । ननु
निरपेक्षश्रुतिवत्त्वात् पितुरनिच्छयापि मातृरजोनिवृत्तौ पुत्राणां विभागः स्यादत
आह न चेच्छामिति । विभागनिमित्तत्वं विभागोपपादकत्वम् । अनिच्छयेति
स्वारसिकेच्छां विनैत्यर्थः । विभागाभावादिति । विभागस्य दृष्टार्थकतया
स्वारसिकेच्छाधीनत्वनियमादित्यर्थः । सत्यामपेक्षितायामिच्छायां कस्य पि-
तुस्य वा पितुरेवेच्छात इति । जीवति चेच्छतीत्यनयो रिच्छाजीवनयोः सामानः
धिकरणानुरोधादिति भावः । तेन तदानीमपि विभागे पितुरेव स्वामित्वात्
स्यातन्मात्रं न पुत्रेच्छया विभागोऽस्वामित्वेनास्वातन्त्र्यादित्यभिहितम् । यथा
श्रुतानु न सङ्गच्छते इच्छायाः सामानाधिकरण्यकृतिद्वारा विभागप्रयोजकत्वस्य
सिद्धत्वेन तत्र कस्यैवाकाङ्क्षानुदयात् तत्प्रतिपादनस्य प्रकृतानुपयोगित्वार्थं

द्रष्टव्यम् । अत इति । यतो हङ्स्थितवचनस्य न पितृधनविषयत्वमतं धृत्यर्थः । एकः कालः पितामहधनविभाग इति शेषः । अथवा यतोऽपत्यसम्भावनाभावः पितुरिच्छासङ्गत एव विभागनिमित्तं न तु स्वातन्त्र्येण अत इत्यर्थः । एकः काल इति पितुरिच्छासङ्गतमातरजीनिष्ठतिकाद्यादतिरिक्तकाल इत्यर्थः, अन्यथा मरणादावपि अपत्यसम्भावनाविरहस्याप्यविशिष्टत्वेन पित्रोरभाव इति पृथ-
कालो नाभिहितः स्यादिति भावः । अतोऽस्य नोपसंहारायत्वं तेन वक्ष्यमाणतस्या-
दित्युपसंहारेण सङ्ग न यौनकृत्यमिति द्रष्टव्यम् । एतेनास्याप्युपसंहारार्थ-
त्वादित्यभिप्रायेण लिखित्यमाणतस्यादित्युपसंहारि पुनरुपसंहारतीति चूडामणि-
लिखनमप्यालोचनविकृतमिति बोध्यम् । ननु पित्वोरिति साहित्यमविव-
क्षितमेव अन्यथा जीवति पितरि मातुरभावेऽपि साहित्यावच्छिन्नाभावसत्त्वान्
विभागप्रसङ्गात् तथाच द्विवचनस्यावैयर्थ्याय पितुरभावो मातुरभावश्चेति इयं
विभागनिमित्तं स्यात् न तु पितुरुपरममात्रम्, अद्वैष्टापतिमाह पित्वोरतीति ।
विमातृमातृत्वाभावात् तत्सत्त्वे सपत्नीपुत्राणां विभागे बाधकाभाव इत्यर्थे बल-
सम्बन्धाद् सोदरभातृणामिति । कार्य इति प्रशस्त इत्यर्थः, अतएव वक्ष्यति
सोऽपि च मातरि जीवन्त्यां न धर्म्य इति तथाच मातुरभावो विभागप्राशस्त्य-
मात्रनिमित्तं न तु विभागे, पितृपरमानन्तरमेव पुत्राणां धनस्वामित्वेन विभागे
स्वातन्त्र्यात् अद्वैष्टार्थत्वकल्पनायाच अन्यथ्यत्वादिति भावः । अस्य उक्तवचनस्य ।
मातृधनगीचरत्वानुपपत्तेरिति । मातृर्निर्देनत्वापत्तेरिति शेषः । अन्यधनगीच-
रत्वं, मातृधनानतिरिक्तधनगीचरत्वम् । तत्रैवेति । सन्निहिते बुद्धिरन्तरङ्गा
इति न्यायात् उपस्थितविभाग एव न त्वनुपस्थिते विभागान्तर इति भावः ।
ननु तर्हि मातृधनविभागे किं निमित्तमत्राह एतच्चेति । वाच्यं मातृधन-
विभागावसरे इति शेषः ॥ १—६ ॥

तस्मात् पितामहादिधनस्यापि पित्वोरभाव इत्येको
विभागकालः तथा मातृर्निवृत्ते रजसि पितुरिच्छात इत्यपरः
॥ ७ ॥

न तु पितुरिच्छामन्तरेण तस्य विभागः अनौशास्ते हि
जीवतोः (मनु ८।१०४।) तथा अस्त्राम्यं हि भवेदेषां
निर्दोषे पितरि स्थिते (नारद—देवली) तथा जीवति
चेच्छतीति (गोतम २८। २) तथा पितुरुन्मत्त्या दायविभागः

(बौधायनः) तथा जीवति पितरि रिक्त्यविभागोऽनुमतेः (शङ्क-
लिखितौ) तदेवमादिमनुनारदगोतमबौधायनशङ्कलिखिता-
दिभिरविशेषेण जीवति पितरि पुत्राणां यावद्वनगोचरा-
स्वामित्वस्य पितुरिच्छाधीनविभागस्य च प्रतिपादनात्
पैतामहधनविभागकालस्य च पृथगेभिरनभिधानात् पैतामह-
धनगोचरत्वमप्यनीशत्वपित्रनुमतिवचनानाम् ॥ ८ ॥

उपसंहरति तस्मादिति । विशेषाभिधानाय पुनराह न लिति । उक्त-
वचनानां पितृधनविभागप्रकरणनियन्तित्वात् तद्विषयकत्वशङ्कामपनेतुमाह पैता-
महेति । तथाच प्रकरणमपि साधारणमिति भावः ॥ ७ ॥ ८ ॥

यत्तु याज्ञवल्क्यवचनम् ।

भूर्यां पितामहोपात्ता निवन्धो द्रव्यमेव वा ।

तत्र स्यात् सट्शं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः ॥ •

(याज्ञवल्क्य २ । १२२ ।)

तस्य निरवयवविद्योद्योतेन द्योतितस्तत्त्वतोऽयमर्थः । यत्र
द्वयोर्भ्रात्रोर्जीवत्पितृकयोरप्राप्तभागयोरेकः पुत्रमुत्पाद्य
विनष्टोऽन्यो जीवति अनन्तरं पिता मृतः तत्र पुत्र एव तद्धनं
प्राप्नोत्वतिसन्निकर्षात् तदर्थं सट्शं स्वाम्यमिति वचनम् । यथा
पैतामहधने पितुः स्वाम्यं तथैव तस्मिन्मृते तत्पुत्राणामपि
न तत्र सन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यां कोऽपि विशेषः पार्वणविधिना
पिण्डदानेन द्वयोरपि तदुपकारकत्वाविशेषादित्यभिप्रायः
॥ ८ ॥

अत एव मृतपितृपितामहकः प्रपौत्रोऽपि पुत्रपौत्राभ्यां
सह तुल्याधिकारी भवति पिण्डदत्त्वाविशेषात् ॥ १० ॥

जीवति तु पितरि पुत्राणां पितामहधनस्वामित्वे स पुत्रा-

पुत्रभ्रातृद्वयविभागे तत्पुत्राणामपि भागः स्यात् स्वामित्वा-
विशेषात् ॥ ११ ॥

तथाचाप्रक्रान्तत्वेनातदर्थत्वं वचनस्य अनेकपितृकाणा-
मेव प्रक्रमात् ॥ १२ ॥

निबन्धः कार्त्तिक्यां कार्त्तिक्यामिदं दास्यामीति यन्नि-
वद्धम् ॥ १३ ॥ ७ ६ २ ४ ५

द्रव्यं भूसाहचर्यात् द्विपदमभिहितम् ॥ १४ ॥

पेतामहं पितुरेव स्वामित्वे याचयत्कृतवचनविरोधमपनेतुमाह यत्त्विति ।
सदृशं स्वास्यमिति । यथाश्रुतार्थमादाय विरोधी बोध्यः । तस्य उक्तवचनस्य
निरवयवमिति । निरवयवा उत्कृष्टा या विद्या मेव दिवाकर तस्माद्योतेनोदयेन
द्योतितः प्रकाशित इत्यर्थः । गुणसिन्धुरित्यादौ सिन्धुपदार्थसामर्थ्यात् यथा
गुणे जलत्वं व्यङ्गं तथा उद्योतपदार्थसामर्थ्यात् विद्यायां दिवाकरत्वं व्यङ्गमिति
यन्न एवेति, न तु सतपितृकपौत्रस्य । तदर्थं सतपितृकपौत्रस्य प्राप्तार्थं,
तथैवेति । एतेन सतपितृकपौत्राणां बहूनामपि मिलितैकोभागः पितृव्यस्य
चापरी भागो न तु तेषां प्रत्येकं पितृव्येण सद्य तुल्यांशतेति प्रातिपादितम् ।
अतएव उपकारकत्वाविशेषादेव । पिण्डदत्ताविशेषादिति । तेन पतृपद-
पार्वणाधिकारिमगोत्रोपलक्षणं पितामहपदञ्च पार्वणाद्विश्वपितृपूर्वपुरुषपर-
पितृपदम् अश्विपूर्वपुरुषधन्यपत्यपरमिति बोध्यम् । नन्वेवं सतपितृकपौत्रस्य
प्रपितामहधने पितामहेन सद्य तुल्याधिकारः स्यादुपकाराविशेषादिति चेन्न
तस्य प्रपितामहपार्वणानियमात् पितामहे जीवति तु पितृर्थेव समापयेदित्या-
द्युक्तेः । अतो नियततत्पार्वणकर्तुः पितामहस्य तदपेक्षयोपकारविशेषस्य स्फुट-
त्वादिति । निरवयववचनस्य सङ्कोचेन सामान्यत एव पौत्राणां पित्रा सद्य
पितामहधने तुल्यस्वामित्वे बाधकमाह जीवति त्विति । स्वामित्वाविशेषादिति
भवन्मत् इति शेषः तथाच व्यवहारविरोध इति भावः इदमुपलक्षणम् ।
एवमेतत् पुत्रेच्छयापि विभागे प्राप्ते मातृनिवृत्ते रजसि जीवति चेच्छतीति
पितृरिक्ताधीनविभागप्रतिपादकप्रागुक्तशास्त्रविरोधो द्रष्टव्यः । अतदर्थत्वं पितृ-
द्रव्यं सतपितृकभातृपुत्रेण सद्य पितृव्यस्य तुल्यस्वामित्वविषयकत्वम् । प्रक्रमा-
दिति । अनेकपितृकाणान् पितृतोभागकल्पनेत्यनेन अनेकपितृकाणामेव प्रक्रान्त-
त्वादित्यर्थः । अत्रानेकपितृकाणाम् एकपितृकभिन्नानां विभिन्नपितृकाणामित्यर्थः ।

निवन्धः प्रतिवर्षं प्रतिमासादि वा टातव्यत्वेन प्रतिश्रुतवस्तुरूप इति व्याचष्टं निवन्ध इति । साङ्ख्यार्थादिति । स्थावरं विपदस्यैव यद्यपि स्वयमर्जितं मित्यादि वक्ष्यमाणे भूविपदयोरेकक्रियान्वयादित्यर्थः ॥ ७—१४ ॥

अयं वा धारेखरपुरस्कृतो वचनार्थः । इच्छया विभाग-
दानप्रवृत्तस्य पितुः पैतामहधने सदृशं स्वाम्यं पुत्रैः सह न
तत्र स्वोपार्जितधन इव न्यूनाधिकविभागमिच्छातः कर्तुमर्ह-
तीति ॥ १५ ॥

यथा विष्णुः । पिता चेत् पुत्रान् विभजितस्य स्वेच्छा
स्वयमुपात्तेऽर्थं पैतामहे तु पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम् ॥ १६ ॥

(विष्णु १७।१—२)

इदं सुव्यक्तं यदि पिता पुत्रान् विभजति तदा स्वोपात्तेऽर्थं
न्यूनाधिकविभागं स्वेच्छया पुत्रेभ्यो दद्यात् पैतामहे तु नैतत्
यस्मात् तत्र तुल्यं स्वामित्वं न पुनः पितुः स्वच्छन्दवृत्तित्वा
॥ १७ ॥

अतः पितापुत्रयोः पैतामहधने समविभागार्थं सदृशं
स्वाम्यमिति वचनं, पुत्राणां वा विभागस्वातन्त्र्यार्थमिति
मतद्वयमपि हेयम् ॥ १८ ॥

एवमेवापरमपि वचनं व्याख्येयम् ॥ १९ ॥

नन्वेवं द्रव्यपदस्य विपदपरत्वे पैतामहमणिमुक्तादिद्रव्यं पितृव्यस्यैव स्यात्
न तथाविधपौत्रादीनां द्रव्यसामान्यपरत्वे च भूत्यादीनां पृथग्गुणादानं व्यय
अथ गोरूपन्यायात् भूमिनिवन्धयोः प्राशस्त्यार्थमेव पृथग्गुणादानं साङ्ख्येयं
न्यायपर्यवसायितया शास्त्रतो दुर्गललादकिञ्चित्करमिति चेत्तथापि उपकारित्वा-
विशेषात् प्रतिपौत्रं पितृव्येण सह तुल्याश्रित्वापत्तौ श्रिष्टाचारविरोध इति
विभाव्याह अयं वेति । अयं वक्ष्यमाणः । तमेवाह इच्छयेति । सत्कार्यं
सुनिस्वरसमाह यथेति । स्वरसं प्रकाशयति इहमिति । अत्रायं भावः
यदि विष्णुवचने स्वेच्छैव विभागप्रयोजिका इत्यर्थक्यमनया स्वीर्जितं पुत्रेष्वा
भाववर्त्तते तदा पैतामहे पुत्रेच्छयाऽपि विभागः प्रसज्येत तत्र न सम्भवति

स्वार्जिते पुत्राणां स्वामित्वाभावेन तेषामिच्छया विभागप्रसक्तेः वचनवैफल्यत्
जीवति सिद्ध्यतीति प्रागुक्तेन विरोधश्च स्यात् अतः स्वीपात्तेऽर्थे स्वेच्छा न्यूनाधिक-
विभागप्रयोजिकेत्येवार्थः । एवञ्च सति व्यवच्छेदबोधकतुशब्दबलात् स्वेच्छायाः
पैतामहे न्यूनाधिकविभागप्रयोजकत्वव्यवच्छेद एव लभ्यते इत्येतदेवाह यदीति ।
नैतत् न स्वेच्छया न्यूनाधिकविभागदानम् । न पुनरिति । स्वच्छन्दवृत्तिता
न्यूनाधिकविभागदानाधिकारिता । तथा चीकार्थं तुल्यं स्वामित्वमिति
लाक्षणिकः प्रयोगः लक्षणा चैयम् उक्तयुक्तिप्राप्ता न दूषणावहेति भावः ।
अत इति । यत उक्तार्थपरतयोपपत्तिरत इत्यर्थः । मतद्वयमिति । मित-
क्षराकृतप्रधत्तीनामिति शेषः । हेयमिति समविभागः पश्चान्निरसनैयः पुत्रेच्छया
विभागस्तु निरस्त एवेति भावः । एवमेव पितामहधने पौत्राणां पितृकृत-
विषमविभागनिषेधपरतयेव । भागद्वयमिति जीवद्विभागे तु पिता गृह्णीतांश-
द्वयं स्वयमित्यादिवचने भागद्वयस्य वक्तव्यमाणत्वात् सिद्धवन्निर्देशः ॥ १५—१६ ॥

अतः पैतामहादिधने पितुर्भागद्वयं पितुरिच्छात एव
विभागो न पुत्रेच्छयेति सिद्धम् ॥ २० ॥

यच्च मनुविष्णू ।

पैतृकन्तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।

न तत् पुत्रैर्भजेत् सार्द्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥

(मनु ८।२०८)

स्वार्जितत्वेन हेतुना नाकामो विभजेदिति वदन्ती
स्वयमनर्जिते पैतामहधने पितुरनिच्छयापि पुत्राणां विभागं
दर्शयतस्तत्रापि विभागदानप्रवृत्तः पिता पितामहधनं
स्वार्जितं नाकामो विभजेत् अन्यत् पुनरकामोऽपि विभजे-
दित्यस्वेच्छात एवेत्यर्थः । न पुनः पुत्रेच्छया विभागं ज्ञाप-
यतः ॥ २१ ॥

मणिमुक्तादौ तु पुनः पैतामहे पितृनर्जितेऽपि स्वार्जित
इव पितुरेव स्वाम्यं न्यूनाधिकविभागदानार्हत्वम् । तथा
याज्ञवल्करः ।

मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः ।

स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥ २२ ॥

पितामहश्रुतेस्तद्वनविषयकं वचनम् । मणिमुक्ताद्युपा-
दाय पुनः सर्वस्येत्युपादानात् सर्वेषां भूम्यादिष्वतिरिक्तानां
दानादिषु पितुः प्रभुत्वं न स्थावरनिबन्धद्रव्याणाम् । तत्रापि
सर्वस्येत्युपादानात् सर्वस्य कुटुम्बवर्त्तनहेतोर्दानादिनिषेधः
कुटुम्बस्यावश्यं भरणीयत्वात् । यथा मनुः ।

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् ।

नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्ने न तं भरेत् ॥ २३ ॥

अल्पस्य तु कुटुम्बवर्त्तनाविरोधिनो न दानादिनिषेधः
सर्वस्येत्यानर्थक्यापत्तेः ॥ २४ ॥

स्थावरग्रहणात् निबन्धद्विपदयोर्दण्डापूपन्यायात् दाना-
दिनिषेधसिद्धिः ॥ २५ ॥

यदि पुनः सर्वस्थावरादिविक्रयमन्तरेण कुटुम्बवर्त्तनमेव
न भवति तदा सर्वस्यापि विक्रयणादिकमर्थात् सिद्धति ।
सर्वत एवात्मानं गोपायीतेति वचनात् ॥ २६ ॥

पितुरिच्छात इति । जीवति चेच्छतीति प्रागुक्तेरिति भावः । न पुत्रे-
च्छयेत्यत्र वचनान्तरविरोधमपनेतुमाशङ्कते यचेति । पैतृकम् अन्तरपन्नतम् अन-
वामम् अंशान्तरैरनुद्धृतम् अवापुयात् स्वयमेवाहरेदिति वदन्तौ मनुविष्णू
इत्यन्वयः । ननु कामनां विना कथं विभागः विभागकृतेः कामनासाध्यत्वादत
आह अस्वेच्छात इति । अस्वारसिकेच्छातः प्रत्यवायभयमात्रजनितेच्छात एवे-
त्यर्थः । एवञ्च प्रकारान्तरेण जीवनक्षमेषु खोद्धृतभूम्याद्यंशदाने न प्रत्यवायः
अनुद्धृते न्यूनाधिकदानस्यैव निषिद्धत्वादिति बोध्यम् । आपद्यत इति, जीवति
चेच्छतीति प्रागुक्तविरोधादिति भावः । पित्रनर्जिते पित्रनुद्धृते । स्वाभ्यं
स्वातन्त्र्याम् । तदेव विद्वषोति न्यूनाधिकेति । पितामहश्रुतेरिति । पितृ-
स्थावरादौ पितामहप्रभुत्वस्याप्रसक्तेरिति भावः । पुनः सर्वस्येति । विभक्ति-
वचनभेदात् मण्यादीनां विशेषणत्वासम्भवेन पृथगुपादानस्य सुवर्णादिद्रव्यान्तर-

प्राप्तार्थत्वादिति भावः । न चैवं सर्वस्वेत्यनेनैव सिद्धौ मण्यादीनां पृथगुपादानं वैयर्थ्यं एतस्योपलक्षणत्वात् सुवर्णादिषु कस्य प्रभुत्वमिति जिज्ञासाया अपि निवर्त्त्यत्वात् गोदण्डन्यायाद्वा पृथगुक्तिरिति । पोष्यवर्गस्येति । स च पितृमाता गुरुभार्या प्रजा दीनाः समाश्रिताः । अभ्यागतीति धिष्यैव पोष्यवः उदाहृत इति मनुनैवीकृतः । आनर्थक्यापत्तिरिति । अल्पस्यापि दाननिषेधं सर्वस्वेत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिरित्यर्थः । स्थावरयज्ञादिति । त्रयाणां युगनद्धवाङ्गत्वादिति भावः । ननु निवन्धद्विपदयोः कथं स्थावरयज्ञात् सिद्धिः तयो स्थावरपदार्थत्वाभावात् अत आह दण्डेति । तथाचापदार्थत्वेऽपि न्यायादेव तत्सिद्धिरित्यर्थः । स च न्यायो यथा दण्डविज्ञापूपानां दण्डानयनादवश्यमानयनं तथा युगनद्धवाङ्गत्वात् एकस्य यज्ञादपरयोरपि सिद्धिरिति केचिदाहुः । वस्तुतस्तु एकत्र स्थापितयोर्दण्डापूपयोर्यदा पूपो नास्ति दण्डस्त्वृषिकैर्भक्षिती वृत्तं ते तत्र यथा मूषिकस्य दुष्करदण्डभक्षणसिद्धौ तत्सङ्घर्षरिताः पूषभक्षणमपि सिद्धाति तथैकस्याप्रभुत्वे सिद्धे युगनद्धवाङ्गत्वादपरयोरप्यप्रभुत्वसिद्धातीति समुदायार्थः । न्यायमूलकत्वात् प्रायिकत्वेनान्यथाप्याह यदि पुनरिति । कुटुम्बवर्त्तनरूपस्य हेतोरविशेषादित्याशयः । अर्थात् कुटुम्बस्यावश्यं भक्तव्यत्वरूपात् । एवञ्च यत्र भूत्यादिकं नास्ति मण्यादिरेवास्ति तत्र न सर्वव्यये प्रभुत्वं हेतोरविशेषात् तत् प्रभुत्ववचनन्तुभयसङ्गावविषयमिति द्रष्टव्यम् । सर्वत्र इति । तथाच पोष्यवर्गस्वेवात्मनोऽपि रक्षार्थं कृतः सर्वविक्रयः कुटुम्बविरोधिऽपि सिद्धातीति द्रष्टव्यम् ॥ २०—२६ ॥

न च स्थावरस्य समस्तस्य गोत्रसाधारणस्य च ।

नैकः कुर्यात् क्रयं दानं परस्परमतं विना ॥

विभक्ता अविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः ।

एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये ॥

एतद्व्यासवचनद्वयेन एकस्य विक्रयाद्यनधिकार इति वाच्यं यथेष्टवियोगार्हत्वलक्षणस्य स्वत्वस्य द्रव्यान्तर इवात्राप्यविशेषात् ॥ २७ ॥

व्यासवचनन्तु स्वामित्वेन दुर्हृत्तपुरुषगोचरविक्रयदानादिना कुटुम्बविरोधात् अधर्मभागिताज्ञापनार्थं निषेधरूपं न
* तु विक्रयाद्यनिष्पत्त्यर्थम् ॥ २८ ॥

एवञ्च

स्यावरं द्विपदञ्चैव यद्यपि स्वयमर्जितम् ।

असम्भूय सुतान् सर्वान् न दानं न च विक्रयः ॥

इत्येवमादिकं तदप्येवमेव वर्णनीयम् ।

तथाहि कर्त्तव्यपदमवश्यमत्राध्याहार्यम् ॥ २८ ॥

तेन दानविक्रयकर्त्तव्यतानिषेधात् तत्करणत् विध्यति-
क्रमो भवति न तु दानाद्यनिष्यत्तिः वचनशतेनापि वस्तुनो-
ऽन्यथाकरणाशक्तेः ॥ ३० ॥

अतएव नारदः ।

यद्येकजाता वहवः पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः ।

पृथक्कर्मगुणोपेता न चेत् कार्येषु सम्मताः ॥

स्वभागान् यदि दद्यास्ते विक्रीणीयुरथापि वा ।

कुर्युर्यथेष्टं तत्सर्वमौशास्ते स्वधनस्य वै ॥ ३१ ॥

(नारद १३।४२—४३)

अत्र दायादानुमतिं विना न दानसिद्धिः कृतमपि दानं दानाभासतया
निवर्त्तनीयमिति 'चण्डश्चरमतमपाकर्त्तुं' शङ्कते न चेति । कथं विक्रयम् ।
विभक्ता अविभक्ता वेति । तथाच स्यावरस्येति वचनस्याविभक्तस्यावरमात्र-
विषयकत्वं न सम्भवतीति भावः । न च निभक्तपद द्रव्यान्तरविभक्तपरं स्यावर-
पदञ्चाविभक्तस्यावरपरम् अतो नानुपपत्तिरिति वाचम् । तथा सति एकस्या-
स्याव्यादनधिकारस्य द्रव्यान्तरेऽप्यविशिष्टत्वात् स्यावरोपादानवैधर्ष्यापत्तेरतो
विभक्तस्यान्तरे वाचनिकोऽयं निषेधो न यौक्तिक इति । अविभक्तावेति वा
अष्ट इवार्थे वास्यादिकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये इति विश्वोक्तेः । अत्र
स्यावरे तथाच विभक्तस्यैवाविभक्तस्यावरस्यापि स्वामिक्ततदानादि सिद्ध्यत्येव
अचपातादिना पश्चादंशपरिचयसम्भवादिति भावः । यद्यपि स्वयमर्जितमिति ।
स्वयमर्जितं द्विविधं पैतामहमन्येन हतं पश्चात्तदुद्धृतं स्वयं वाऽर्जितम् अविशेषात्त-
दुभयमपीत्यर्थः । निषेधरूपत्वे हेतुमाह तथा हीति । अवश्यमिति । न च
सिद्धाति सम्भवतीत्येवं कुतो नाध्याक्रियते तथात्वे ज्ञानेन सह समानकर्तृक-

त्वानुपपत्तिरिति भावः । अथाऽयं दानविक्रयनिषेधी नादृष्टार्थकः किन्तु स्वत्व-
ध्वंसानुपत्तिरुपदृष्टप्रयोजनकः दृष्टार्थत्वसम्भवेऽदृष्टार्थत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात्
इत्यञ्च विशिष्य स्वावरदानादौ दायदानुमतेरपि सङ्गकारिता कल्प्यत इति ।
मेवं कृतकारणादेव स्वाभ्यात् दानादिनिर्वाहेऽतिरिक्तकारणकल्पने गौरवात्
अतएवादृष्टकल्पनाऽपि न दूषणावज्ञा प्रामाणिकत्वादिति । अतएवेति । यतो
दानादिनिश्चितरत एवेत्यर्थः । एकजाता इति । धर्मोऽशौचं दण्डादश-
रात्रादि । क्रिया याजनपालनादि । कर्म तपःशौर्यादि । गुणो मृदुत्व-
अण्डत्वादित् । तथाच विभिन्नजातीयमातृका इत्यर्थः । कार्येषु एकैकक्रिय-
माणदानादिषु न सम्भताः । यदि दयुरिति । सद्वृत्तगोचरदानादिविषयो-
ऽयं निषेधस्तु दुर्वृत्तगोचर इति विभाज्यम् । कुर्युरिति । तथाचासम्भत्यापि
दानादि सिद्धयतीति स्फुटमुक्तमिति । इत्यञ्च स्वावरादावनापदि सर्वदान-
विक्रयनिषेधोऽयं मर्यादपेक्षया विशेषो बोध्यः । एतस्य स्वार्जितविषयत्वे तु
वचनधैर्यपातादिति ॥ २७—२१ ॥

प्रकृतमनुसरामः । तदेवमुक्तप्रबन्धेन पितामहादिधने
पितापुत्रयोः समभागविधानानुपपत्तेः पुत्राणां विभाग-
स्वातन्त्र्यप्रतिपत्तिपरत्वाभावाच्च जनकेच्छाधीनन्यूनाधिक-
विभागनिराकरणार्थं मृतपिम्बकस्य भ्रातुः पुत्रस्य पित्र्येण
सह तुल्याधिकारार्थं वा वचनम् ॥ ३२ ॥

एवञ्च पितामहधनस्यापि पितुरिच्छयैव विभागः कार्यः
किन्तु मातुर्निवृत्ते रजसीति विशेषः, स्त्रीपात्ते तु रजो-
निवृत्तिमन्तरेणापि पितुरुर्द्ध्वमिति तु उभयत्राप्यविशिष्टम्
॥ ३३ ॥

तेन पैतामहधनेऽपि कालद्वयम् ॥ ३४ ॥

तत्र यदा पितैवेच्छातः पुत्रान् विभजति तदा पैतामह-
धनात् भागद्वयं स्वयं गृह्णीयात् । जीवद्विभागे तु पिता
गृह्णीतांशद्वयं स्वममिति हृदयतिना द्वावंशौ प्रतिपद्येत

विभजन्मात्मनः पितेति (नारद १३। १२) नारदेन चाविशेषेण
प्रतिपादनात् ॥ ३५ ॥

प्रकृतमिति । न पितामहधने पित्रा सह तुल्याश्रित्वं न वा धीनेच्छया
विभाग इति प्रकृतमित्यर्थः । एतदेव विशिष्य व्यवस्थापनेनानुसराम इत्यर्थः ।
व्यवस्थापितवचनार्थमुपसंहरति तदेवमिति । समविभागानुपपत्तिर्वक्ष्यमाणहेतोः
पुत्राणाञ्जेल्यायुक्तहेतोरुक्तप्रत्यक्षेण जनकीच्छाधीनेत्याद्यर्थवचनेनेत्यर्थः । सतपितृक-
स्येति । बाकारोऽनास्यायाम् अन्यथा भूमिनिषत्सनादावेव पितृव्येण सह तुल्या-
श्रिता स्यात् मणिमुक्तादिद्रव्यान्तरस्य सर्वं पितृव्यस्येव स्यादिति, तस्माद्भूना-
धिकविभागनिराकरणार्थमिति पूर्वकाल एव साधीयानिति । एवञ्च पुत्राणां
विभागस्वातन्त्र्याभावाच्च । पितामहधनविभागकालमुपसंहरति तेनेति । काल-
इयमिति । मरणादिना पितृस्वत्वापगमः, निवृत्ते मातृरजसि पितुरिच्छेति
कालइयमित्यर्थः । वस्तुतस्तु पैतामहे स्वार्जिते वा पितृस्वत्वापगमकाल एक एव
विभागस्य, विशेषस्तु पितामहधनविभागे मातृरजोनिवृत्तिकालस्य सहकारित्व-
मिति बोध्यम् । पितृकृतविभागेऽपि तस्योपेक्षया पुत्राणां स्वांशं स्वत्वावकमात्
अन्यथा पितृस्वत्वे विद्यमाने पुत्राणां प्रागुत्पन्नस्वत्वाभावात् तदने दायत्वस्य
विभागस्य चानुपपत्तिरिति भाव्यम् । ननु वचने पितामहपदायवयात् कथं
तद्वनविषयत्वमत आह अविशेषेणेति । स्वार्जितधनं पितामहधनं वा विशेष्यतो-
ऽनुपादायेत्यर्थः तथाच स्वार्जितधनविषयत्वे विष्णुवचनविरोधात् पितामहधन-
विषयत्वमेवास्य वचनस्येति भावः । ननु भूर्भुवःत्रयादिवचनविरोधात् पितृधन-
विषयत्वमेव कुतो न स्यात् तथाच सति पितामहधने पितापुत्रयोस्तुल्याश्रितैव
युक्तेति चेन्न विष्णुवचनविरोधस्य जागरुकत्वात् ॥ ३२—३५ ॥

किञ्च इतोऽपि पितामहधनात् पितुर्भागइयम् ॥ ३६ ॥

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।

ततोऽर्द्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयन्तु यवीयसः ॥

(मनु ८। ११२)

तथा एवं समुद्धृतोद्दारे समानंशान् प्रकल्पयेत् ।

उद्दारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽर्ध्यर्द्धं ततोऽनुजः ।

अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥

(मनु ८ । ११६—११७)

एतैर्मनुवचनैः सर्वद्रव्यवरसहितविंशतदर्भतत्तुरीयोच्चारा दर्शिताः तथा एकांशाधिकाद्वांशाधिकचतुर्थभागाधिकभागाः प्रतिपादिताः । गौतमेनापि विंशतिभागो ज्येष्ठस्य मिथुन-मुभयतो दद्युक्तो रथो गोवृषः । (गौतम २८ । ५) मिथुन-मजादीनां उभयतोदत् अश्वादि तद्युक्तो रथः, गोयुक्तो वृषः, एतत्सर्वं ज्येष्ठस्य । तथा काणखोरकूटवण्डा मध्यमस्थानेकाश्चेत् । (गौतम २८ । ६) खोरो वृद्धः, कूटो वामनाकृतिः, वण्डो विकृतलाङ्गूलः, एते मध्यमस्य यदि बहवो भवन्ति पशवः । तथा अविर्ज्ञान्यायसी गृहमनोयुक्तं चतुष्यदाञ्चैकैकं यवीयसः सममितरत् सर्वम् । (गौतम २८ । ७—८) अविप्रभृतयः कनीयसः अवशिष्टं सर्वं समं विभजेरन्निति प्रतिपाद्य, तांशीवा पूर्वजः स्यादेकैकमितरेषामिति (गौतम २८ । ९—१०) सूत्रेणांशद्वयं ज्येष्ठस्योक्तम् ॥ ३७ ॥

वचनमुक्ता युक्तिमप्याह किञ्चेति । अथवा ननु तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे इति विण्ववचनस्य पुत्रेभ्यो न्यूनाधिकभागदाने स्वेच्छा इत्येवार्थः विभागे तु तस्य स्वोपात्ते तु बांशित्वम् उक्तवचनाभ्यां पैतामहे तु भूयैत्यादिवचनस्य यथाशुतार्था-नुरोधात् तुल्यांशित्वैव न्यूनाधिकविभागनिषेधपरत्वे लक्षणापत्तिरतीयुक्तिं प्रमाण-यति किञ्चेति । इत इति, वक्ष्यमाणप्रबन्धयुक्तेरित्यर्थः । विंशः ११ विंशतेः पूरणः । उद्ध्रियते साधारणधनात् बद्धिर्भाव्यते इत्युद्धारः । वरं श्रेष्ठं यत्किञ्चित् भूरत्ना-दिकम् । एवञ्च ज्येष्ठस्य दशमं भागं न्यायवृत्तस्य दापयेदिति देवलवचनं विंशोच्चाराहपेक्षया ज्येष्ठस्यातिशयगुणवत्त्वे बोध्यम् । मध्यमशब्दोऽत्र ज्येष्ठा-नन्तरजपरः तदनुजाय सर्वं यवीयः पदार्थाः उत्तरवचनेऽध्यर्जं ततोऽनुज इत्यभिधानात् अंशमंशं यवीयांस इति बीसावलाञ्छेति बोध्यम् । उद्धारोऽनुजुते इति । सीदरमात्रक्रियमाणविभाग इत्यर्थः । सीदरासीदरविभागे तु विंशो-च्चारादिकमेव । एतच्च सीदरासीदराभिप्रायकं कल्पद्वयं विद्यादिगुणवतां

ज्येष्ठादीनामिति वक्ष्यते । एकाधिकमिति । एकमधिकभागं तेन भागद्वय-
मित्यर्थः । अर्धमिति । अधिकम् अर्धं तेनार्धाधिकमैकभागम्, अंशमंश-
मित्यत्रापि अधिकपदार्थान्वयः तेन पादं पादमधिकं तथाच सपादैकभाग-
मित्यर्थः । मिथुनं स्त्रीपुंसौ, तौ च पशुप्रसावात् पशूनामेव तत्र गोः पृथगुपा-
दानादाह अजादीनामिति । आदिना मेषादिसंयुक्तः । ननु गीष्ठश्च इत्यत्र
न हन्त्वसंभवः समाहारपक्षे पुल्लिङ्गानुपपत्तेः इतरैतरपक्षे एकवचनानुपपत्तेरित्यत्र
आह गीयुक्त इति । तथाच मध्यपदलोपिसमासाश्रयणेन तत्पदं साधु नात्र
हन्त इति भावः । अनेकाद्येदित्यनेन तेषामेकत्वे ज्येष्ठप्राप्त्योद्धारानुरूपमेव
कल्प्यम् । अत्र ज्येष्ठस्यापि मनुक्तविशोद्धारतैव गीतमेव मनुवचनादधिकमन्तं
तदत्यन्तगुणवत्त्वे बोध्यम् । एकैकमितरेषामित्यपि तेषां निर्गुणत्वे बोध्यम् ।
गृहमिति । पित्रवस्थानातिरिक्तगृहमित्यर्थः गृहं यवीयसोऽन्यत्र पितरवस्थाना-
दिति ग्रहवचनात् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

न चोपार्जकत्वेन ज्येष्ठस्यांशद्वयमिति वाच्यम् उद्धारैऽनुवृत्ते
भागद्वयस्य विधानात् अर्जकत्वे चोद्धारस्यासंभवात् मध्यम-
कनीयसोऽचोपार्जकतया ज्येष्ठेनाप्यविशेषात् तयोरध्यक्षादि-
विधानानुपपत्तेः ज्येष्ठादिपदानर्थक्याश्च ॥ ३८ ॥

अतएव पुत्रिकौरसयोः पितृधनविभागे मनुरपि ।

पुत्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्रोऽनु जायते ।

समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रिया ॥

इति । (मनु ८।१३४) स्त्रीत्वेन ज्येष्ठत्वाभावात् सम-
भागतां प्रतिपादयन् पुरुषस्य भागद्वयं प्रतिपादयति ॥ ३९ ॥

पूर्वजस्य हंशित्वाभिधानं न ज्येष्ठताप्रयुक्तं किन्त्वर्जकत्वप्रयुक्तमेवेत्याशङ्कते न
चेति । उद्धारस्यासंभवादिति । अत्रायं भावः उद्धारैऽनुवृत्त इत्यनेन यत्र
विषये उद्धारप्रसक्तिसत्त्वैव विषये भागद्वयविधानम् उद्धारश्च ज्येष्ठत्वपुरस्कारेणैव
श्रुती न त्वर्जकत्वेनेति । यद्यपि उद्धारः सोदरासोदरविषयः हंशादिकन्तु
सोदरमात्रविषयमित्यस्ति विषयभेदः तथापि ज्येष्ठत्वपुरस्कारेणैव उद्धारविधानात्
सोदरमात्रविभागेऽपि ज्येष्ठस्य तत्प्रसक्तिरस्तीत्याशयः । ननु उद्धारैऽनुवृत्ते इत्यनेन
उद्धारार्हविषये हंशित्वं न विधीयते उद्धारहंशित्वयोरसोदरसोदरविषयत्वेन

भिन्नविषयत्वात् किन्तु भक्त्यतिशयाभावेनोद्गाराभावेन समभागबोधकशास्त्रान्तर-
 संवादितया समभागमर्थतः सूचयित्वाऽर्जकत्वेनैव ह्यंशित्वमभिधीयते तथाविधविष-
 यत्वे ह्यंशित्वस्यात्यन्तासम्भवयुक्तकत्वादत आह मध्यमकनीयसीरिति । अय्यर्हा-
 दीति । अधिकार्हाधिकपादविधानेत्यर्थः । तथोरय्यर्हादिभागस्य वाचनिकत्वे तदृष्ट-
 कल्पनागौरवमिति भावः । ननु सर्वत्रार्जकत्वेनैव ह्यंशित्वं मध्यमकनीयसी-
 रय्यर्हादिविधानन्तु अर्जनस्यात्याप्यतरत्वादिनाऽप्युपपन्नं न बाधकमत आह
 ज्येष्ठादिपदेति । अर्जकत्वेनैव ह्यंशित्वे मध्यमादीनामपि तद्विशिष्टतायाः
 सर्वसिद्धत्वात् ज्येष्ठपदस्यानर्थक्यादिति भावः । अतएवेति । यत एव
 ज्येष्ठत्वेनैव ह्यंशित्वमस्य एवेत्यर्थः । भागद्वयमिति । ननु ज्येष्ठस्य विषमभाग-
 नेव ज्ञापयति मनुः वैषम्यस्य च सीङ्गारभागेऽपि सम्भवात् कथं भागद्वयज्ञापन
 मिति चेन्न उद्गारस्य भागवैषम्याप्रयोजकत्वात् एवं समुद्भूतोद्गारे समानंशान
 प्रकल्पयेदिति वचनात् । न चैवं स्त्रिया अपि विंश उद्गारः स्यात् तावतापि
 समभागसम्भवादिति वाच्यम् उद्गारस्य ज्येष्ठत्वपुरस्कारिणैव युतेः स्त्रियाश्च तद
 भावात् तदिदमुक्तं ज्येष्ठता नासीति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

यदुक्तं होलाकाधिकरणे प्राच्यकर्तृकहोलाकानुष्ठानोप-
 पत्तये होलाका कर्त्तव्येति श्रुतिः कल्पिता तावतैव तदुपपत्तेः
 न तु प्राच्यादिपदवती कल्पनागौरवात् तद्वदत्राप्यर्जकोऽंश-
 द्वयं गृह्णीयादिति श्रुतिः कल्पनीया न पुनः पित्रादिपदव-
 तीति तदयुक्तं तत्र प्राच्यकर्तृकहोलाकानुष्ठानस्यावश्यकल्प-
 नीयसामान्यश्रुत्यैवोपपत्तेः न चाप्राच्यानामननुष्ठानार्थं प्राच्य-
 पदवती कल्पयतामिति वाच्यं तेषामननुष्ठानस्यानाचार-
 रूपस्य श्रुतिकल्पनानिमित्तत्वानुपपत्तेः इह तु मन्वादीनां
 ज्येष्ठपदप्रयोगात् तदुपपत्तये ज्येष्ठपदवत्या एव श्रुतेः
 कल्पनार्हत्वात् अर्जकपदवत्या एव अवश्यकल्पनीयत्वा-
 भावात् ज्येष्ठपदवत्या अर्जकपदवत्याश्च कल्पनायां
 विशेषप्रमाणाभावात्, न चान्यत्रार्जकस्य भागद्वयार्थं
 श्रुतेरवश्यं कल्पनीयत्वादत्रापि सैव मूलमस्तु लाघवात् ज्येष्ठ-

पदञ्चार्जकपरमस्त्विति वाच्यं वैपरीत्यस्यापि सम्भवात् अत्रैव
ज्येष्ठपदयुक्तश्रुतिकल्पनायामर्जकपदस्यापि ज्येष्ठपरत्वकल्पना-
सम्भवात् विनिगमनाप्रमाणाभावात् । किञ्चैवं लाघवादिना
यत्किञ्चित् त्रिचतुरादिपदवतीमेकां श्रुतिमनुमाय सकल-
स्मृतिपदानां गौण्या लक्षण्या वा वृत्त्या तत्परत्वमपि वाच्य-
मित्यतीवात्मनः स्मृतिनिपुणता निरूपिता । तस्माद्यस्मा-
देवाचारात् स्मृतिवाक्याद्वा या श्रुतिरवश्यं कल्पनीया तथैव
तद्वत्स्याचारांशस्य स्मृतिपदस्य च उपपत्तेर्न तत्राधिक-
कल्पनेति होलाकाधिकरणस्यार्थः ॥ ४० ॥

यदुक्तमिति । होलाका वसन्तीत्यवशिष्टः प्राच्यैः क्रियते, प्राच्यादीत्यादि-
पदात् दाक्षिणात्यक्रियमाणकरञ्जार्कपूजारूपोत्सवाचारोपपत्तये कल्पनीयश्रुतौ
दाक्षिणात्यपदपरिशुद्धः । न पित्रादीति । तथाच पितुरपि अर्जकत्वेनैव भाग-
द्वयं नान्यथा तेन तस्यापि स्वार्जितधन एव द्वांशित्वं नान्यत्रेति मतं* तस्य ।
सामान्यश्रुत्येवेति । प्राच्यादिपदाघटितश्रुत्येवेत्यर्थः । श्रुतिकल्पना निमित्तत्वेति ।
आचारस्यैव साधूनामित्यनेनाचारस्यैव वेदमूलकत्वाभिधानात् न त्वनाचारस्येति
भावः । न च श्रुतौ प्राच्यपदाप्रवेशेऽप्राच्यानामपि तत्प्राप्तेस्तेषां तदकरणात्
प्रत्यवायार्पितिरिति वाच्यम् आचारस्य नित्यत्वे प्रमाणाभावात् । तदुपपत्तये
ज्येष्ठपदसार्थक्याय । ज्येष्ठपदवत्या इति स्मृतेः स्वसमानार्थकश्रुतिमूलत्वादिति
भावः । तथाचाचारे पदविरहात् पदवैयर्थ्यापत्तिरुप-बाधकविरुद्धेण सामान्य-
श्रुतिरेव तत्र कल्प्यते स्मृतौ तु ज्येष्ठपदवैयर्थ्यापत्तिरुप-बाधकसत्त्वात् न सामान्य-
श्रुतेः कल्पनम् अपि तु ज्येष्ठपदवत्या एवेति भावः । अवश्यंति । यथा
ज्येष्ठपदवत्या अवश्यकल्पना न तथा अर्जकपदवत्या अवश्यकल्पना, द्वांशी वा
पूर्वजः स्यादित्यादावर्जकपदाश्रयणात् अर्जकी द्वांशमहंतौत्यस्य तु निरपेक्षार्जक-
त्वापुरस्कारेणैव श्रुतिकल्पकत्वं तत्र ज्येष्ठपदाश्रयणादिति भावः । ननु ज्येष्ठा-
र्जकपदवतीभ्यां स्मृतिभ्यामिकमूलत्वकल्पनालाघवेन ज्येष्ठार्जकी द्वांशं गृह्णीयात्
इत्येकैव श्रुतिः कल्प्यते तावतापि ज्येष्ठस्यार्जकत्वपुरस्कारेणैव द्वांशित्वमिति
सिद्धमेवेत्यत आह ज्येष्ठपदवत्या इति । प्रमाणाभावादिति । निरपेक्षप्र-
तायामेकैकस्मृतौ पदद्वयाश्रयणादिति भावः । तथात्वे कनिष्ठाजंजानाम-
द्वांशित्वे सर्वतन्त्रविरोधीऽपि द्रष्टव्यः । अन्यत्र कनिष्ठाजंजितधने । श्रुतेः

अर्जकोद्वंशं गृह्णीयादिति श्रुतेः । वैपरीत्यं विवृणीति अत्रैवेति । विनि-
गमनंति । लक्षणाया उभयताप्यविशिष्टतया तस्यावश्यकल्पनम् अस्य वेत्येक-
तरयाहकप्रमाणाभावादित्यर्थः । अथ पितृव्यादौनामपि साधारणधनेनार्जकत्वे
द्वंशित्वम् उभयवादिसिद्धमित्यतदेव विनिगमकमस्तीत्यत आह किञ्चेति । लाघ-
वादिन्यादिना एकत्र विप्रतिपत्तिः अन्यत्र उभयवादिसिद्धिरूपविनिगमनासंग्रहः ।
स्मृतिनिपुणैरेति । तस्मान्मुख्यार्थस्य प्रथमोपस्थितत्वात् लक्षणायां गौरवात्
नत्कल्पनाभावाच्च शब्दानां मुख्यार्थबोधकत्वस्थितौ कथं ज्येष्ठादिपदानामर्जके-
नाक्षिणकत्वसम्भव इति भावः । तर्हि क्वास्य न्यायस्य विषय इत्यत्राह
तस्मादिति । अवश्यं कल्पनीयेति । प्राच्यादिपदवतीकल्पनेऽपि हीलाका कर्त्त-
व्येति भागस्यावश्यकत्वादिति भावः । आचारांश्च आचारविषयस्य स्मृतिपदस्य
स्मृतिविषयस्य ॥ ४० ॥

अतएव वशिष्ठेन ज्येष्ठस्यांशद्वयमभिधाय उपार्जक-
स्याप्यंशद्वयं पृथगभिहितम् । यथा । अथ भ्रातृणां दाय-
विभागो (वशिष्ठ १७।३६) द्वंशं ज्येष्ठो हरत् (वशिष्ठ
१७।३७) ततोऽनतिदूरे पुनराह । येन चैषां समुत्पादितं
स्यात् सोऽपि द्वंशमेव हरत् (वशिष्ठ १७।४२) अनेनार्जक-
तया भागद्वये दर्शिते ज्येष्ठस्यांशद्वयाभिधानमनर्थकं स्यात्
॥ ४१ ॥

द्वंशहरत्वमपि न ज्येष्ठतामात्रेण । यदाह बृहस्पतिः ।

जन्मविद्या गुणज्येष्ठो द्वंशं दायदावाप्नुयद्वात् ।

समांशभागिनस्त्वन्ये तेषां पितृसमस्तु सः ॥

उपार्जकत्वेन भागद्वये जन्मविद्यादिकीर्तनमनुपयोगि

॥ ४२ ॥

एतच्च भागद्वयं सोदरमात्रभ्रातृविभागविषयम् । सोदरा-
सोदरविभागगोचरश्च ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः । यदाह बृह-
स्पतिः ।

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ।

उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ ४३ ॥

सवर्णासु बह्वीषु स्त्रीषु जातानाम् उद्धारपूर्वकविभागश्रुते-
र्भागद्वयं सोदरमात्रगोचरमेव सिद्धति । युक्तञ्चेत् सोदर-
तयाधिकगौरवात् ॥ ४४ ॥

उद्धारोऽपि दशसु गवादिषु न कार्यः । तथा मनुः ।

उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु ।

यत्किञ्चिदेव देयं स्याज्ज्यायसे मानवर्द्धनम् ॥ ४५ ॥

(मनु ८।११५)

अत एवेति । यत एव ज्येष्ठतमजकत्वञ्च परस्परनैरपेक्ष्येण ह्यंशित्वप्रयोजकम-
त एवेत्यर्थः । पृथगभिहितमिति । तथा चेकमुनिवचनयोरैकवचनवैयर्थ्यापत्त्या
कवाक्यत्वामश्ववान्न तथात्वमिति भावः । पृथगभिधायकतद्वचनमाह यथेति ।
यनेति । एषां भागिनां मध्ये येनार्जितं सोऽर्जितधनात् ह्यंशं हरेदित्यर्थः ।
ज्येष्ठता, आदिगर्भप्रभवता । जन्मविवेति । तथा चेत्तद्वचनानुरोधाज्ज्येष्ठपदस्य
जन्मविद्यादिज्येष्ठपरत्वावश्यकत्वे कथमर्जकपरत्वसम्भव इति भावः । अनुपयोगीति ।
तत्रार्जनस्यैवोपयोगित्वादिति भावः । सोदरासोदरेति । उपलक्षणमेतत् ।
असोदरमात्रविषयोऽपीति भाव्यम् । उद्धार इति । दशस्थानेऽधिकांशां न
उद्धारः, अविभक्तद्रव्यात् तस्य पृथगक्रियमाणत्वादिति भावः । समवर्णास्त्विति ।
विषमवर्णासु जातानाञ्च ब्राह्मणादिपुत्राणां कर्मणश्चतुस्त्रिद्विकभागित्वमिति
वक्ष्यते, द्विजन्मनामित्यनेन शूद्रस्य विंशोद्धारनिवृत्तिः तन्निवृत्त्या च दण्डाप्रप-
न्यायात् दशस्यापि निवृत्तिः अतएव मनुष्येण शूद्रस्य न सर्वथा नान्या भार्याप-
दिश्यते । तस्यां जाताः समांशाः सूर्यादि पुत्रशतं भवेत् इत्यनेन शूद्रस्य समाश-
मेव विदधाति । न च द्विजन्मनामित्युपादानात् समवर्णास्त्वित्यत्र बहुवचनोप-
दानाच्च सोदरासोदराणां द्विजन्मनामेवोद्धारविधिः, दशविधिस्तु तदन्वया
सोदरमात्राणां द्विजन्मनां सामान्यतः शूद्रभातृणाञ्चैवं किं नस्यादिति वाच्यं
पूर्वोक्तमनुवचनैरुद्धारदशश्रयोः समानविषयत्वावगमात् उद्धारविषये शूद्र-
दशश्रिताप्रसक्तेः । वस्तुतस्तु ज्येष्ठशूद्रस्याप्युद्धारो युक्तः तस्यापि पुत्रानमरकनिव-
र्णकत्वेन अधिकोपकारकत्वात् अधिकधनसम्बन्धस्य अधिकोपकारनिवन्धनत्वात्
हृदयतिवचने समवर्णास्त्विति विषमवर्णाजातानां विषमविभागसूचनार्थम् अत-
एव शूद्रस्य विषमवर्णाजाताभावेन सूचनीयस्य विषमभागस्य तत्रासम्भवात्तद्व्याव-

न्यर्थं द्विजन्मनामिति कृतं न तु शूद्रस्योद्धारनिवृत्त्यर्थं युक्तिविरोधात् । न च मनुना समानांशभिधानात् तद्विरोधः उद्धारस्य भागवैषम्याप्रयोजकत्वात् । यथोक्तम् उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे सममिति भाव्यम् । इतरे सममिति । ज्येष्ठस्य सगुणत्वे इतरेषां निर्गुणत्वे इदं तेन नाध्यक्षादिभागविधिविरोधः । न च ह्यंशविधिर्जन्मविद्यादिज्येष्ठविषयोऽस्तु उद्धारविधिस्तु तदितरविषय इति निर्गुणस्यापि उद्धार इति तेन सीदरासीदरसाधारणौ व्यवस्थास्त्विति वाच्यं समवर्णास्त्विति बह्वनूचनानुपपत्तेः भवन्मते एकस्या जातानामपि तथात्वस्य सिद्धेः । दशस्त्विति । तत्पत्यन्तं इत्यर्थः । स्वकर्मसु सम्पन्नानामित्यनेन सर्वेषां तुल्यगुणवत्त्वं एव तत्, अधिकगुणवत्त्वं तु ज्येष्ठस्य तत्रापि त्रिंश उद्धार इति चूडामणिः ॥४१ ४५॥

तदेवमुक्तप्रवचनेन यत्र ज्येष्ठभ्रातृरेव पितृधने भागद्वयं कथं तत्र जनकस्य दानविक्रयपरित्यागक्षमस्य पितामहधनसम्बन्धमूलस्यातिगुरोः पितुरेव स्वपितृधने भागद्वयं न सम्भवति जन्मविद्यागुणज्येष्ठ इति वाक्येन च पितृसमत्वेन भागद्वयं ज्येष्ठस्यातिदिशन् पितुर्भागद्वयं ज्ञापयति बृहस्पतिः । जीवद्विभागे तु पिता गृह्णीतांशद्वयं स्वयमिति सामान्येनांशद्वयाभिधानोपदेशो बृहस्पतिना दर्शितः । तथा नारदः ।

द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता ।

समांशहारिणी माता पुत्राणां स्यान्मृते पतौ ॥ ४६ ॥

(नारद १३।१२)

द्रव्यं विभजन् पिता द्वावंशावात्मनो गृह्णीयात् न पुनरात्मनो द्रव्यं विभजनिति सम्बन्धः पूर्वोक्तविरोधात् ॥ ४७ ॥

किञ्च पैतामहधने पितापुत्रयोः समभागित्वे यावद्धनं पितुस्तावदेव पुत्रस्यापीति वाच्यं न तु यावदेव यदेवं धनं, तावदेव तदेव पुत्रस्यापीति, मध्यगत्वापत्तेः, जायापत्योरिव विभागाभावप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥

बृहस्पतिवचनमपि पितुर्द्वयं प्रमाणयति जन्मेति । अतिदिशन्निति ।

तेषां पितृसमस्तु स इत्यतिदेशेन यथा पुत्रादिभिः सह स्वपितृधनविभागे क्रिय-
माणे पितृर्ह्यशिलं, तथा ज्येष्ठस्यापि भ्रातृविभागे स्वपितृधनर्ह्यशिलमित्यवगमा-
दिति भावः । सामान्येन, स्वार्जितपितृधनाद्यनुल्लेखेनांशद्वयाभिधानरूप
उपदेशः पितृधनविषयतया ब्रह्मस्यतिना दर्शितोऽतिदेशेनेति शेषः । नारद-
वचनादात्मधन एव, पितुरंशद्वयमिति शब्दामपनेतुं स्वमतसाधकतया तदव-
तारयति तथेति । पूर्वोक्तिः । तस्य स्वेच्छा स्वयमुपाप्तेऽर्थे इति पूर्वोक्तिविषयवचनस्य
स्वत्वेन वा विभज्य भूयिष्ठमादाय वसेदिति द्वारौतीक्तस्य च विरोधादित्यर्थः ।
केचित्तु इतोऽपीत्यादि पितामहधनगोचरभागद्वययुक्तिविरोधादित्याहुः तदसत्
पितामहधनर्ह्यशिलयुक्तेः पितृधनर्ह्यशिलविरोधाप्रसक्तेः । पितामहधने पिता-
पुत्रयोस्तुल्यांशिले बाधकमप्याह किञ्चेति । मध्यगत्वापत्तेरिति । मध्यगत्वञ्च,
उभयनिरूपितस्वत्वद्वयवदिकद्रव्यम् । अथैवं पितरि सृते सत्यां मातरि विमातरि
वा पुत्राणां स्वत्वानुदयः स्यात् मात्रादिस्वत्वस्य विरोधिनः सत्त्वात् । न च
पितृमरणादेव तासां स्वत्वनाशोऽन्यमरणस्यान्यस्वत्वनाशकत्वे प्रमाणाभावात् ।
न च उभयनिरूपितं व्यासज्यवृत्ति एकमेव स्वत्वं प्रतियोगिनाशादेव नश्यति इति
वाच्यम्, तथा सति पत्रां सृतायां तद्वने पत्युः स्वत्वनाशप्रसङ्गात् मातृधृजान्तर
इव तत्पुत्रकन्यादीनामधिकारप्रसङ्गात् । किञ्च पत्रां जीवन्त्यां स्वधनस्य पर-
स्वत्वेन निर्णीतस्य विनियोगे प्रतिषेधं पत्युर्धौर्घ्यं स्यादिति चेन्नैवं, पितृमर-
नानन्तरं पुत्राधिकारप्रतिपादकशास्त्रस्यैव पतिमरणात् पत्नीस्वत्वनाशे प्रमाणा-
त्वात् । अतएव पुण्यापुण्यफले समे इत्यपि सङ्गच्छते । अन्यथा पत्राः पतिधने
स्वत्वाभावे तदनुपपत्तेरित्यादि सुषौभिर्भाष्यम् । विभागाभावेति । यत्रैव पितुः
स्वत्वं तत्रैव पुत्रस्यापीत्यभ्युपगमे विभागानन्तरमपि तदवधारणात् वैशेषिक-
व्यवहारानर्हतायास्तादवस्थादिति भावः ॥ ४६—४८ ॥

एवञ्च सति भ्रातृणां विभागे यदा ज्येष्ठस्य ज्येष्ठतया
भागद्वयकल्पनं तदा तत्पुत्रस्यापि भागद्वयकल्पने पुत्रेण सह
ज्येष्ठस्य चत्वारोऽंशाः भ्रातृन्तरस्यैकोऽंशः स्यात् बहुपुत्रत्वे
च ज्येष्ठस्य तत्पुत्राणां पितृसमभागकल्पने कनिष्ठभ्रातु-
र्यत्किञ्चिदेव स्यादिति महाजनविरोधः ॥ ४९ ॥

यच्च ब्रह्मस्यतिवचनम् ।

द्रव्ये पितामहोपाप्ते स्थावरे जङ्गमे तथा ।

सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

अंशित्वं समं समानं न च स्वेच्छया स्वीपात्तधनवत् न्यूना-
धिकविभागं दातुमर्हति न पुनरंशः सम इति तस्यार्थः ॥५०॥

द्विपितृकपित्रभिप्रायं वा समभागवचनम् ॥ ५१ ॥

तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यमिति वचनन्तु प्रागेव व्याख्यातम्
॥ ५२ ॥

बहुपुत्रत्वे चेति । पूर्वे सपुत्रापुत्रभाट्टद्वयविभागे तत्पुत्रस्यापि भाग इत्ये-
तावन्मात्रमुक्तम् इह तु कनिष्ठस्याप्यप्राप्तिरिति विशेषात् न पुनरुक्तिः । यच्चेति ।
जङ्गमो द्विपद एव स्थावरसाहचर्यात् । समानमिति, समानमेवेत्यर्थः ।
लक्षणाफलमाह न चेति । गत्यन्तरसम्भवे लक्षणाश्रयणमन्यायमित्यभिप्रायेणाह
द्विपितृकेति । स यद्येकपुत्रः स्यादिति वक्ष्यमाणशङ्कवच्चनानुरोधादिति भावः ।
चूडामणिसु तस्यार्थ इत्यन्तं भूय्यां पितामहोपात्ता इत्यनेनैकवाक्यत्वादिति
महेतुकं व्याख्याय ननु अंशित्वस्य अशानतिरिक्ततया कथमंशित्वस्य श्रवेष्यं
तथाच स्थावरजङ्गमपदस्योपलक्षणतया द्रव्यसामान्यशङ्कात् कुतो भूय्येत्यादि-
नैकवाक्यत्वमभाव इत्यत आह द्विपितृकेतीत्याह । तदयुक्तं, वक्ष्यमाणसिद्धान्ते
भूय्येत्यादिना तस्य वचनस्य तुल्यविषयताया वक्ष्यमाणत्वात् उक्तव्याख्यैव
सामञ्जसाच्च ॥ ४९—५२ ॥

किञ्च यद्यसौ पिता स्वपितुः पुत्रामनरकनिवर्त्तको ज्येष्ठ-
स्तदा तस्य स्वभ्रातृनेवापेक्ष्य यत्र पितृसमत्वेन भागद्वयं
सुतरां तस्य पुत्रापेक्षया भागद्वयं युक्तं पुत्राणां क्रमागतधन-
मस्वस्यस्य पितृधीनुत्वात्, अथ यः पितुर्न ज्येष्ठः पुत्रस्तस्य
स्वपुत्रैः सह समांशतोच्यते ॥ ५३ ॥

तत्र, मध्यमादिपुत्राणामप्यध्यर्द्धादिविधानात् पितृतया
भागद्वयस्यैव सुतरां युक्तत्वात् । सामान्येन च पितापुत्रयोः
समांशाभिधानस्य भवतो मुनीनां चानुचितत्वात् ॥ ५४ ॥

किञ्च पितुरंशद्वयाभिधानं स्वीपात्तद्रव्यगोचरमित्यप्यनुप-
पन्नं तदिच्छानुरोधित्वात् विभागस्य, इच्छातस्य भागद्वयत्रय-

न्यूनाधिकानामपि प्राप्तेर्विफलो विधिः, नियमार्थत्वञ्च
वचनस्य न वर्णनीयं, विष्णुविरोधात् तदाह । पिता चेत्
पुत्रान् विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थं पैतामहे तु
पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वाम्यम् (विष्णु १७।१—२) ॥ ५५ ॥

अस्यार्थः । स्वोपात्ते यावदेव ग्रहीतुमिच्छति अर्द्धं
भागद्वयं त्रयं वा तत् सर्वं तस्य शास्त्रानुमतं न तु पैतामहेऽपि
॥ ५६ ॥

तथाच हारीतः ।

जीवन्नेव वा पुत्रान् प्रविभज्य वनमाश्रयेत्

वृद्धाश्रमं वा गच्छेत् स्वल्पेन वा विभज्य भूयिष्ठमादाय
वसेत् यद्युपदश्येत् पुनस्तेभ्यो गृह्णीयात् ॥ ५७ ॥

अनेन स्वल्पस्य विभागो भूयिष्ठद्रव्यस्य ग्रहणञ्च पितुंरभि-
हितम् । वृद्धाश्रमः प्रव्रज्या ॥ ५८ ॥

पितामहधने पितुर्ह्यशित्वं प्रकृते युक्त्यन्तरमाह किञ्चेति । ननु उत्कृष्टाया
नरकनिसारकर्तृव्येष्ठपुत्रस्य पितुः पैतामहधने ह्यशित्वं तदकर्तृय कनिष्ठपुत्रस्य
पितुस्तद्वने पुत्रैः सङ्गं समांशितास्तु वचनानां सामञ्जस्यादित्याशङ्कते अथेति ।
मध्यमेति । मध्यमादिपुत्राणामेव साक्षांशादिद्वारकत्वं यत्र तत्र ततो न्यूनस्य
एकांशमात्रस्य पितुः पित्रत्वेनानौचित्यात् भागद्वयमेव युक्तमिति भावः । ननु
पैतामहे पितापुत्रयोस्तुल्याधिकारित्वमेवोच्यते तथाच प्राथम्यात् व्यष्टिनेव पितुः
समानाधिकारिता भविष्यति न मध्यमेन कनिष्ठेर्वा तत् कथं न्यूनत्वमत
आह सामान्येनेति । सामान्येन सममंशितमित्यादौ अवशिष्टेष्वेत्यर्थः । अनु-
चितत्वादिति । तथाचैकपुत्रस्य पितुर्ह्यशित्वं द्विपुत्रकस्य तु चैत्रजादेः पितुश्च
समांशित्वमित्येवोचितमिति भावः । पितुर्ग्रहणविधानस्य स्वोपात्तविषयत्वा-
सम्भवात् पितामहधनविषयत्वमेवेत्याह किञ्चेति । उपदश्येत् भुक्तसर्वधनः
स्यात् ॥ ५९—६० ॥

यच्च शङ्खलिखितवचनम् । स यद्येकपुत्रः स्यात् द्वौ

भागावात्मनः कुर्यात् । अस्यायमर्थः । एकस्य पुत्रः एक-
पुत्रः न पुनरेक एव पुत्रो यस्येति बहुव्रीहिः तस्यान्यपदार्थ-
प्रधानत्वेन षष्ठीतत्पुरुषादुर्बलत्वात् एकपुत्रश्चौरसः तथा-
विधस्य पितुर्भागद्वयं न तु चैत्रजस्य पितृत्वेऽपि । तत्र स्यात्
सदृशं स्वाम्यमिति वचनं चैत्रजपितृभिप्रायमेव वर्णनीयम्
॥ ५८ ॥

चैत्रजो हि द्विपितृकः । तदाह बोधायनः ।

मृतस्य च प्रसूतो यः क्लीवस्य व्याधितस्य वा ।

अन्येनानुमतो वा स्यात् स्वे चैत्रे चैत्रजः स्मृतः ॥

स एव द्विपितृको द्विगोत्रश्च द्वयोरपि स्वधाकरो रिक्थ-
भाग्भवति ॥ ६० ॥

अस्यार्थः । क्लीवादेः स्वे चैत्रे तदनुमतोऽन्येन प्रसूतः
चैत्रजः ॥ ६१ ॥

तथा नारदः ।

चैत्रिकानुमते चैत्रे वीजं यस्य प्रकीर्यते ।

तदपत्यं द्वयोरेव वीजिचैत्रिकयोर्मतम् ॥ ६२ ॥

(नारद १२।५७)

भागद्वयवचनं स यदेकपुत्रः स्यादित्यनेनैकमूलतया एकपुत्रकपितृविषय-
मिति मतसंपाकर्तुं तद्वचनमन्यथा व्याख्यातुमुत्थापयति यच्चेति । दुर्बलत्वादिति ।
एकदेशलक्षणापेक्षया समुदाये लक्षणाया गौरवगुणत्वादिति केचित् । तदसत्
समुदाये शक्त्यभावेन लक्षणाया अप्रसक्तेः । वस्तुतस्तु तत्पुरुषे उत्तरपदं मुख्य-
मेव पूर्वपदन्तु सम्बन्धिनि लाक्षणिकं बहुव्रीहौ द्वयोरेव पदयोर्मुख्यार्थत्वात्
तदपेक्षया दुर्बलत्वमिति । चौरसस्यापि पितुर्भागद्वये चैत्रजस्य पुत्रेण सह
तुल्यांशित्वस्थितौ तद्विषयतया सदृशं स्वाम्यमिति वचनस्य मुख्यत्वसम्भवं न्यूना-
धिकविभागनिषेधेन लक्षणा अन्याय्यत्वभिप्रेत्याह तत्र स्यादिति । द्विपितृक-
माह, चैत्रजो ह्येति । मृतस्य चेति । स्वे चैत्रेऽन्येन प्रसूत उत्पादितः क्लीवादेः
चैत्रे वा तदनुमतोऽन्येनोत्पादित इत्यर्थः ॥ ५८—६२ ॥

अतश्चैकपुत्र आत्मनो भागद्वयं कुर्यादिति विधौ एक-
पुत्रत्वस्य कर्तृविशेषणतया विवक्षाहत्वात् उद्देश्यविशेषण-
त्वेनाविवक्षितत्वमित्यपि परास्तं भवति ॥ ६२ ॥

किञ्च परमप्रेक्षावस्तुनूतमदक्षादिप्रयुक्तपदानां प्रति-
क्षणमविवक्षामाचक्षाणः स्वस्यैव साक्षादविवक्षितत्वं स्थाप-
यति ॥ ६४ ॥

तथा पुत्रार्जितेऽपि धने पितुरंशद्वयं द्वावंशाविति (नारद
१३।१२) गृह्णीतांशद्वयमिति चाविशेषश्रुतेः । सुव्यक्तमाह
कात्यायनः ।

द्वंशहरोऽर्द्धहरो वा पुत्रवित्तार्जनात् पिता ।

मातापि पितरि प्रेते पुत्रतुल्यांशभागिनी ॥ ६५ ॥

पुत्रस्य वित्तार्जनात् पितुर्द्वंशहरत्वम् अर्द्धहरत्वं वेत्य-
स्यार्थः ॥ ६६ ॥

न च पुत्रश्च वित्तञ्चेति पुत्रवित्ते तयोरर्जनात् पिता द्वंश-
हरः पुत्रानर्जनात् सर्वहर इति वाच्यम् अनर्जितपुत्रस्यापि
भ्रातृभिर्विभागे वित्तार्जकतया अंशद्वयस्येष्टत्वात् कथं सर्व-
हरत्वम् अतो विभागार्हसम्बन्धिनि विद्यमाने अर्जकस्य
द्वंशित्वम् असति तु सर्वहरत्वं वाच्यं तथात्र पितापुत्रयोः
प्रमत्तगीतता स्यात् । किञ्चार्जनं स्वत्वहेतुभूतव्यापारः अर्जनं
स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धमित्यभिधानात् न च पुत्रेषु
स्वत्वमस्तीति सर्वस्वदाने प्रदर्शितम् अतस्तत्र गौणमर्जनपदं
वित्ते च मुख्यं न चैतत् सक्तच्छ्रुतस्य सम्भवति ॥ ६७ ॥

न च पुत्रेणार्जितत्वात् पुत्रस्य द्वंशप्राप्तेः पितुश्च भाग-
द्वयस्यास्माद्वचनादृतेऽपि प्राप्तेः समभागत्वापातात् विधान-

मनश्चैकमिति वाच्यम् एतद्वचनमन्तरेण पुत्रधने पितुर्भाग
द्वयस्याप्राप्तेर्वचनस्यार्थवत्त्वात् ॥ ६८ ॥

अथैकपुत्रोद्देशेन भागद्वयविधानात् इविरुभयत्ववत् यद्वैकत्ववच्च उद्देश्य
विशेषणतया एकपुत्रत्वविशेषणमविवक्षितं किन्तु पक्षप्राप्तानुवादमात्रम् अत
सर्वेषामेव भागद्वयमित्याशङ्काह अतश्चेति । कर्तृविशेषणतयेति । एकपुत्र
कर्तृकात्मसम्बन्धिभागद्वयस्य विधेयतया एकपुत्रत्वं विधेयविशेषणमेव न तद्देश्य
विशेषणं येनाविवक्षितं स्यादिति भावः । केचित्तु कर्तृराख्यातवाच्यत्वेन विधेय
तया तद्विशेषणस्यैकपुत्रत्वस्य द्विपिठकव्यावर्तकत्वेन सप्रयोजनकतया विवक्षितत्व
मित्याहुः । स्वधनान्तरिकधने पितुर्भागद्वययुक्तिदार्ढ्यायमाह तथेति । पुत्र-
वित्तार्जनादिति । इन्द्राश्वत्थान्वयानुरोधत्वात् कृद्भिर्हितो भावो द्रव्यवत्
प्रकाशते इति व्युत्पत्तेः पुत्रार्जितवित्तादित्यर्थः । न चेति । तथाच पुत्रा-
र्जितवित्ते न पितुर्द्वार्शित्वं येन दृष्टान्तबलात् प्रकृतदार्ढ्ये स्यादिति भावः
पितापुत्रयोः पितापुत्रपदयोः । ननु विभागोऽर्थस्य पितृस्य इतिवत् पिता
पुत्रपदं सम्बन्धिसमाव्रीपलक्षणं सामान्यकल्पनायां लाघवस्य मूलत्वादत् आह
किञ्चेति । विप्रतिषिद्धं विरुद्धं तथा चार्जनं स्वत्वमापादयत्येवेत्यर्थः । अभि-
धानात् प्राप्तेरिति शेषः । दर्शितमिति । तत्र पुत्रदाननिषेधस्य स्वत्वाभावेन
प्राप्त्यमूलत्वादिति भावः । सम्भवतीति । सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं
गल्यतीति न्यायात् युगपद्वृत्तिद्वयविरोधाच्चेति शेषः । तेन न इन्द्रगर्भतत्पुरुष
सम्भवतीति भावः । इन्द्राश्वत्थेति । अर्जको इन्द्राश्वत्थेरेति वचनात् पितु
भागद्वयं दृक्कीर्तांशद्वयं स्वयमिति सामान्याभिधानादिति भावः । अनर्थकमिति
अद्वैतत्वाभिधानमनर्थकमित्यर्थः इदमुपलक्षणम् । प्राङ्निर्दिष्टइन्द्राश्वत्थ-
मादाय विरुद्धार्थकत्वमपि बोध्यम् । भागद्वयस्याप्राप्तेरिति । इन्द्राश्वत्थ-
द्विविधभागस्याप्राप्तेर्नियमेनाप्राप्तेरित्यर्थः । तथाच श्रुत्यार्जितवत् सर्वत्रैव स्वाभ्यात्
भूयिष्ठयद्वयस्यापि प्राप्तेर्नियमार्थं पक्षद्वयसुक्तमिति भावः । विरुद्धार्थकत्वञ्चै-
तयोर्विषयभेदस्य वक्ष्यमाणतया निरसनीयमिति ॥ ६९—७० ॥

किञ्च पुत्रवित्तार्जनादित्यस्य पितृधनविषयत्वे पितुरि-
च्छातो इन्द्राश्वत्थत्वमद्वैतत्वं वेत्यनुपपन्नम् इच्छानुरोधित्वात्
ग्रहणस्य इच्छायाश्चानियतत्वात् सार्द्धसपादपादोनांशग्रहण-
स्यापि सम्भवात् कथं पक्षद्वयमात्रकीर्तनं नियमार्थत्वञ्च

पितृधनगोचरं न सम्भवतीत्युक्तं प्राक् । अत्र च पुत्रार्जित-
वित्तस्य यथा दंशहरत्वं तथा तस्यैव वित्तस्यार्द्धहरत्वमिति
युक्तम् ॥ ६६ ॥

न पुनर्दंशस्यार्द्धमेकोऽंशस्तद्ग्रहणार्थं वचनम् अर्द्धस्य
दंशस्य चैकदेशत्वेन एकदेशिन आकाङ्क्षितत्वात् पुरुषविश-
षणतया हरणकर्मत्वेन च द्वयोः समत्वात् परस्परसम्बन्धानुप-
पत्तेः । वित्तार्जनादिति पञ्चम्यन्तेन दंशरूपैकदेशान्वयार्थो-
पादानस्याविवादात् अर्द्धपदेनापि तस्यान्वयो युक्तः वित्ता-
र्जनार्द्धपदयोश्चाव्यवधानात् वित्तस्यैवार्द्धं प्रतीयते न पुन-
र्दंशस्यार्द्धमेकोऽंशः प्रतीयते स्वायत्ते चैकांशपदे प्रयोक्तव्ये-
ऽवाचकपदप्रयोगस्यान्याय्यत्वात् वित्तस्यैवार्द्धं युक्तम् ॥ ७० ॥

तत्र पितृद्रव्योपघातेन पुत्रार्जितवित्तस्यार्द्धं पितुः अर्ज-
कस्य पुत्रस्यांशद्वयम् इतरेषामेकैकांशिता अनुपघाते तु पितु-
रंशद्वयम् अर्जकस्यापि तावदेव इतरेषामनंशित्वम् ॥ ७१ ॥

ननु पुत्रे स्वत्वमस्यैव अन्यथा विक्रयश्चैव दानञ्च न नियाः स्युरनिच्छवः ।
दारान् पुत्राञ्च सर्वस्वमात्मन्येव नियोजयेत् । आपत्काले च कर्तव्यं दानं
विक्रय एव च । अन्यथा न प्रवर्त्तते इति शास्त्रार्थनिश्चय इति कात्यायनेन
विरोधः स्यात् अतएव मातापितृदत्तविक्रीतौ पुत्रौ दत्तमक्रीतौ मरुराह स्य ।
यत्तु पुत्रदारीपक्रमे नारदेनोक्तम् । आपत्स्वपि च कष्टासु वर्त्तमानेन देहिना ।
अदेयान्याङ्गुराचार्या यज्ञान्यसौ प्रतियुतमिति तत् पुत्रादीनामनिष्काविषयमिति
न विरोधः । न च मत्वादिभिरर्जनगणनमर्थ्य अपत्योत्पादनस्यागणनात् कुतः
पुत्रे स्वत्वं कात्यायनादिवचनस्यैव तस्य स्वत्वे हेतुले प्रमाणत्वात् सर्वस्वदाने न
वचनबलादेव पुत्रस्यादानम् अतएव स्वं कुटुम्बाविरोधेन दिवं दारमुत्पादितं
इत्युपपद्यते अन्यथा स्वत्वाभावादेव तदप्राप्तिरुपपद्यते स्यात् अत आह किञ्चित् ।
नियमार्थत्वं पञ्चद्वयनियमार्थत्वम् । उक्तं तस्य स्वेच्छेति स्वत्वेन वा विभज्य
भूयिष्ठमादाय वसेदित्याभ्यामिति शेषः । तथा चानायस्या पुत्रार्जितविषयत्वं
वचनस्मेति भावः । एकदेशत्वेन स्वसम्बन्धिकत्वेन एकदेशिनः सम्बन्धितवचनस्य ।

नन् तयोः सम्बन्धिसाकाङ्क्षेऽपि द्वांशस्य पुत्रवित्तरूपसम्बन्धिना अर्धस्य
द्वांशरूपसम्बन्धिना अन्वयोऽस्त्वित्यत आह पुरुषेति । तथाच गुणानाञ्च पराः
त्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यादिति जैमिन्युक्तन्यायिन द्वयोर्विशेषणयोः परस्य
नान्वयसम्भव इति भावः । वित्तार्जनादिति पञ्चम्यन्तेन द्वांशरूपैकदेश-
योऽन्वयः तदर्थापादानस्य तदर्थद्वांशोपादानस्य अतिवादात् भवतोऽपि सम्भ-
त्वात् अर्धपदेनापि तदन्वयो युक्त इत्यर्थः द्वांशस्य तु पञ्चम्यन्तानुपस्थित्या तदन्व-
यः न युक्त इति शेषः । पञ्चम्यन्तत्वेनेति पाठे वित्तार्जनादित्यनन्तरम् इति षष्ठान्
तत्परासर्गशीयस्य उपादानेनान्वयः । आसत्तिवत्त्वात् पञ्चम्यन्तेन सह प्रथम
अर्धस्यैवान्वयो नऽतु द्वांशस्य आसत्तिवत्त्वस्यादित्याह वित्तार्जनेति । अ-
चानन्वयिव्यवधानाभावस्यैव आसत्तिघटकतया ह्यपुत्रवित्तपदैर्वावधानेऽ-
नासत्त्यनुपपत्तिरिति ध्येयम् । न पुनरिति । तस्यानन्वयिना ह्यह इत्यने-
न व्यवधानात् पञ्चम्यथवणाच्चेति भावः । द्वांशेनान्वयः तात्पर्याभावमाह स्वाय-
दिति । अवाचकपदंति । एकांशत्वेनावचकाहपदैत्यर्थः । अन्याथत्वादिति
तथाच न तदन्वये तात्पर्यमिति भावः । द्वांशाद्वयोर्विषमश्रुततया विषये-
विरोधात् व्यवस्थितविकल्पमाह तदिति ॥ ६९—७१ ॥

यदा विद्यादिगुणसम्पन्नस्य पितुरर्द्धहरत्वं विद्यादिनाऽपि
ज्येष्ठस्यैवाधिकांशदर्शनात् विद्यादिशून्यस्य जनकतामात्रं
द्वांशित्वम् ॥ ७२ ॥

तेन क्रमागतधनाद्वा पुत्रार्जितधनाद्वा भागद्वयं पित-
रस्य गृह्णीयात् अतोऽधिकमिच्छन्नपि नार्हतीति वचनार्थः
स्वार्जितधनात् यावदेव गृह्णीतुमिच्छति तावदेव गृह्णी-
यात् ॥ ७३ ॥

पुत्राणान्तु पितामहधनात् विंशोद्धारं दत्त्वाऽदत्त्वेव व-
विभजेत् स्त्रीपार्जितधनात् पुनर्गुणवत्त्वेन सम्मानार्थं, बहु-
कुटुम्बत्वेन वा भरणार्थम्, अयोग्यत्वेन वा कृपया, भक्तत्वेन वा
प्रसन्नतया, अधिकदानेच्छुर्नूनाधिकविभागं कुर्वन् धर्मकार-
पिता ॥ ७४ ॥

तदाह याज्ञवल्क्यः ।

न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः ।

(याज्ञवल्क्य २।११७) ।

तथा बृहस्पतिः ।

समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः ।

तथैव ते पालनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा ॥

नारदश्च ।

पितैव तु विभक्ता ये समन्यूनाधिकैर्धनैः ।

तेषां स एव धर्म्यः स्यात् सर्वस्य हि पिता प्रभुः ॥ ७५ ॥

(नारद १३।१५)

सर्वधनप्रभुत्वस्य हेतुत्वात् पैतामहे च तदसम्भवात् न्यूनाधिकविभागः पितृकृतः पितृधनविषय एवायं धर्म्यः । तथाच विष्णुः । पिता चेत् पुत्रान् विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्ते ऽर्थं पैतामहे तु पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम् ॥ ७६ ॥

(विष्णु १७।१—२)

नन्वत्राप्युपपत्त्यवसाने द्वाग्धाभिधानमनर्थकमत आह यदिति । इदं च पितुर्गुणवत्त्वनिर्गुणत्वाभ्याम् अर्द्धरत्नद्वयं शृङ्गरत्नाभिधानम् अंशिन्यनेकानि पतं वेदितव्यम् एकस्मिन्वर्जकपत्रे अंशिन गुणवति पितरि द्वाग्धत्वं निर्गुणऽस्मिति वैपरीत्यं नैयायिकं संधीभिर्भाव्यम् । दत्त्वादत्तैव वेति । ज्येष्ठं वा यद्वभागेन सर्वे वा स्युः समांशिन इति वक्ष्यमाणवचनादित्याशयः । पितामहवने पितृ-रिक्त्या न्यूनाधिकदाने निरस्ते पितुः स्वार्जितमात्रपथ्यवसायिवक्ष्यमाणन्यूनाधिकविभागकारणमाह स्वोपार्जितधनादिति । धर्मकारीति । तथाच उक्तान्य-तमकारणं विना स्वार्जितधने पुत्राणां विषमभागी न धर्म्य इति भावः । विनेया दण्ड्याः पितृधनविषय एवेति । स्वार्जितधनविषय एव इत्यर्थः । पैतामह इति । यद्यपि पितामहसर्वधनप्रभुत्वमपि पितुरक्षतमेव तथापि प्रभुत्वमिह न स्वामित्वं किन्तु यथेष्टविनियोगयोग्यत्वं, सर्वस्मिन् पैतामहे पितुर्न तथात्वमिति भावः ॥ ७४—७६ ॥

ननु विभागश्चेत् पिता कुर्यादिच्छया विभजेत् सुतात् ।
 ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वं वा स्युः समांशिन इति (याज्ञवल्क्य
 २।११५) याज्ञवल्क्यवचनात् उद्धाररूपश्रेष्ठभागावगतेः कथं
 ततो न्यूनाधिकत्वमभिधीयते । उच्यते । उपरते पितरि
 भ्रातृभिरपि विभागे क्रियमाणे विंशोद्धाररूपश्रेष्ठांशस्य
 मिद्वत्वादचनानर्थक्यात् न तदर्थत्वम् ॥ ७७ ॥

अथ विनाप्युद्धारं समांशतायाः पितृकृताया धर्म्यत्वार्थं
 वचनमुच्यते तन्न न्यूनत्वमेव तर्हि पितृकृतं धर्म्यं स्यादित्य-
 धिकपदमनर्थकं स्यात् ॥ ७८ ॥

किञ्च उद्धाराभिप्रायेण समन्यूनाधिकत्ववर्णने इच्छया
 विभजेदित्यनर्थकं पदम् एतदितरपदत्रयेणैव वक्तव्यस्याभि-
 हितत्वात् अस्मन्मते तु इच्छया विभजेदिति स्वोपात्तधन-
 विषयं श्रेष्ठांशतासमानांशतयोस्तु पैतामहधनगोचरत्वमिति
 न किमप्यनर्थकम् ॥ ७९ ॥

याज्ञवल्क्याय न्यूनाधिकविभागवचनं विभागश्चेत् पिता कुर्यादिति वचनञ्च
 स्मार्जिते पितामहधने वा सामान्यत एव सोद्धाररूपश्रेष्ठसमभागविषयमित्यभि-
 प्रायेण श्रद्धते नन्विति । श्रेष्ठभागावगतेः समभागावगतेश्च । कथमिति ।
 तदीयैतदचनेनेव तस्य प्राप्तत्वात् विधानानुपपत्तिरिति भावः । यत एव वैयर्थ्यं
 स्यादत एव न तदर्थत्वमित्याह उच्यते इति । वचनानर्थक्यादिति । भ्रातृकृत-
 विभागापेक्षया पितृकृतविशेषाभावेन न्यूनाधिकविभक्तानामिति वचनानर्थक्या-
 दिति । तथाच तदचनं न सोद्धारानुद्धाररूपन्यूनाधिकभागबोधकं किन्तु
 पितृरिक्ताकृतस्यैवान्यस्य न्यूनाधिकविभागस्यैव बोधकमिति भावः । प्रयोजना-
 न्तरप्रदर्शनेन वचनसार्थवत्त्वमाश्रद्धते अथेति । धर्म्यत्वार्थमिति । तदचने धर्म्यं
 इत्यनेन धर्म्यत्वप्रतिपादनादिति भावः । न्यूनत्वमेवेति । भ्रातृकृतसोद्धार-
 पेक्षया पितृकृतसमभागस्यैव न्यूनत्वादिति भावः । अधिकपदमिति । सोद्धार-
 रूपाधिकभागस्य भ्रातृकृतस्यापि धर्म्यत्वेन पितृकृतविषयेऽधिकपदोपादानवैयर्थ्या-
 दिति भावः । चूडार्माणस्तु अधिकपदमिति ज्येष्ठस्य विंश उद्धार इत्यनेन

सामान्यत एव प्राप्तैरनर्थकमित्यर्थ इत्याह । अथ पितृकृतसमभाग एव सोऽङ्गार-
भागापेक्षया न्यूनः कनिष्ठानामर्थादधिको भवतीति स एवैको भागो न्यूनाधिक-
पदाभ्यामुच्यते न पृथगिति नाधिकपदवैयर्थ्यमित्यत आह किञ्चेति केचित् ।
वस्तुतो ननु समभागमात्राभिधाने पितृकृतत्वनिमित्तविशेषाभिधानेन सामान्य-
प्राप्ताधिकांश्चाधापत्तिरतीऽधिकपदं सोऽङ्गारभागप्रापकतया सार्थकं वाच्यं तथा
सति ज्येष्ठं वा ज्येष्ठभागेनैत्युक्त्याश्रयत्वावचनान्तरं व्यर्थं न्यूनाधिकवचनेनैव
तदुक्तद्विविधभागावगतेरतो वचनमेतत् विषयान्तराभिप्रायकतया सार्थक्यति-
किञ्चेति । अनर्थकमिति । भागद्वैविध्यमात्राभिधानेन तत्रेच्छाया अप्रयोजक-
त्वादिति भावः । पद वचनचतुर्थांशः । एतदितरपदत्रयेणैवेति । विभागश्चतु-
पिता कुर्यादिति ज्येष्ठं वा ज्येष्ठभागेनैत्यादि पादत्रयेण वक्तव्यस्य भागद्वय-
रूपस्य । कथं तर्हि वचनस्यार्थवत्त्वम् अत आह अस्मादिति । स्तोपात्तविषयमिति ।
पितामहधनपरत्वे वेद्यथोपातादिति भावः । न किमपीति । न्यूनाधिकवचनस्य
स्तोपात्तविषयतया, विभागद्वैदित्यस्य च पितामहधनगोचरतया वचनयोरर्थ-
वत्त्वादिति भावः । इदञ्च न समीचीनमुक्तम् इच्छया विभर्जितित्यस्य स्वार्जित-
विषयत्वेनैव तत्र न्यूनाधिकविभागे सिद्धे न्यूनाधिकवचनवैयर्थ्यतादवस्थात्, धर्म्य-
त्वार्यं तत्कार्यकञ्च पितामहादिधनसामान्यनिषयत्वपक्षेऽपि समानमिति भाव्यम्
॥ ७८—७९ ॥

किञ्च । पितर्युपरतेऽपि द्विप्रकारो विभागो ब्रह्मस्यति-
नोक्तः । यथा ।

द्विप्रकारो विभागस्तु दायादानां प्रकीर्तितः ।

वयोज्येष्ठक्रमेणैकः समापरांशकल्पना ॥

ज्येष्ठक्रमेणेत्युद्धारं दर्शयति तथा समांशता परेति
भ्रातृणामपि परस्परविभागस्य द्विप्रकारत्वात् पितृकृतस्य
विशेषो न स्यात् ॥ ८० ॥

तथा नारदः ।

पितैव वा स्वयं पुत्रान् विभजेद्वयसि स्थितः ।

ज्येष्ठं वा ज्येष्ठभागेन यथा वास्य मतिर्भवेत् ॥ ८१ ॥

(नारद ११४)

ज्येष्ठस्य अष्टभागमभिधाय पुनर्यथा वास्य मतिर्भवेदित्य-
नेन यादृशे न्यूनाधिकविभागे पितुः पूर्वोक्तकारणात्
कर्त्तव्यतामतिर्भवेदिति पृथगभिधानात् अष्टभागादन्य-
एवायं न्यूनाधिकविभागः प्रतीयते ॥ ८२ ॥

नन्विच्छया विभज्येदिति स्वयाच्छाश्विषयकमेव वाच्यं स्वल्पेन वा विभज्य-
भयिषमादाय यमेदित्येकमूलकत्वात् तत्कथमनर्थकमत आह किञ्चेति ।
विशेषो न स्यादिति । तथाच वचनवैयर्थ्यतादवस्थ्यात् न तथार्थसम्भव इति
भावः । यद्यप्ययं दोष उच्यते इत्यादिना प्रागेवोक्तस्तथापि तस्य दार्ढ्यं प्रति
पादनार्थं पुनरभिधानमिति वाच्यम् । ननु न्यूनाधिकवचनस्य सोद्धारानुद्धार-
भागद्वयनियामकत्वं पित्रा येषामिति प्रतीकं व्यर्थं स्यात् भातविभागोऽपि
द्विविध्यमस्त्वात् अतो न्यूनाधिकविभागः सोद्धारानुद्धारभ्यामन्य एवेत्यत्र प्रमाणा-
न्तरमाह तथेति । यादृश इति । एतस्य समाशमात्राभिधायकत्वं विभज्य-
इयसि स्थित इति पूर्वप्रतीकेनैव सम स्यादश्रुतत्वात् विशेषस्येति न्यायात् समाश-
प्राप्ता वैयर्थ्यं स्यादिति भावः ॥ ८०—८२ ॥

यत् पुनर्नारदवचनम् ।

व्याधितः कुपितश्चैव विषयामक्तचेतनः ।

अथथाशास्त्रकारो च न विभागे पिता प्रभुः ॥

इति (नारद १३।१६) तद्व्याधिना आकुलचित्ततया
कस्मिंश्चित् पुत्रे क्रोधाद्वा सुभगा पुत्रस्नेहाद्वा अथथाशास्त्रं
विभजति तद्विषयं पूर्वोक्तकारणात् शास्त्रीय एव विषम-
विभागः ॥ ८३ ॥

यथा कात्यायनः ।

जीवहिभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत् ।

निर्भाजयेन्न चैकैकमकस्मात् कारणं विना ॥ ८४ ॥

नैकमधिकदानेन विशेषयेत् न च निर्भाजयेत् विभाग-
शून्यं न कुर्यात् कारणं विना उद्घारादिविशेषो हि बह्वनामेव

नैकस्य एकस्यापि च पुत्रस्य कारणं विना विशेषो न कार्यः
कारणवशात् कार्य एव एकस्यापीत्यवगतेर्नीहारापेक्षो
विशेषः किन्तु पितुरिच्छाकृत एवेति यथोक्त एवार्थः ॥ ८५ ॥

यदि पुनः पितरि जीवति पुत्रा एव विभागमर्थयन्ते तदा
विषमविभागः पित्रा न दातव्यः । तदाह मनुः ।

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत् मद् ॥

न तत्र भागं विषमं पिता दद्यात् कथञ्चन ॥ ८६ ॥

(मनु ८।२१५)

उद्धारस्तु तदा पित्रा दातव्य एव तस्य विषमविभागरूप-
त्वाभावात् न्यूनाधिकविभागस्यैव निषेधात् ॥ ८७ ॥

इति पितृकृतो विभागः ॥ ८८ ॥

आकलचित्ततया कर्तव्याकर्तव्यविवेचनगन्तव्या । पूर्वोक्तकारणात् भक्तत्वं
बहुपोष्यत्वादि । कारणादिति यदुक्तं तत्र प्रमाणमाह यथेति । कारणं विना
पूर्वोक्तकारणं विना अन्यस्यासम्भवात् नैकं पुत्रं विशेषयेदित्यन्वयः । निर्भाज्य-
दित्यत्र कारणं विना पातित्यादिकं विना इत्यर्थः । ननु कारणं विना इत्यस्य
गुणं विनेत्येवार्थः तथाच कारणं गुणं विना न विशेषयेत् नोद्धारदिना विशेषये-
दिति वचनार्थः तत् कथं पूर्वोक्तकारणात् विशेषं ब्रूय इत्यत्र आह उद्धारदि-
विशेषो ह्येति । बहूनामेवेति । विश्वं तदङ्गैतत्तुरीयभागरूपाणामुद्धारणा बहून्वेव
उद्दिष्टत्वादिति भावः । नैकस्येति । तथाच एकस्य विशेषो ननु गुणकृतो-
द्धाररूपः उद्धारस्य सर्वपुत्रसाधारणतया एकपुत्रस्य विशेषत्वासम्भवात् किन्तु
कारणान्तरकृतभक्तोऽन्य एवेति भावः । यद्यपि ज्येष्ठस्य सगुणत्वं इतरपात्र
निर्गुणत्वे एकस्याप्युद्धारकृतविशेषः सम्भवत्येव तथापि स विशेषो न वचनार्थः
पितृपादानवेद्यर्थ्यात् भातृविभागेऽपि तथाविधविशेषसम्भवादिति बोध्यम् । ननु
एकपक्षणात् कारणं विना बहूनां विशेषः स्यादित्याशङ्क्याह एकस्यापीति ।
न्यायादपिरध्याहर्तव्य इति भावः । इच्छाकृत एवेति । स्त्राजितमार्तं पूर्वोक्त-
कारणसङ्कारिण इच्छाकृत एवेत्यर्थः । उत्थानं विभागोद्यमः । उत्थानमर्जितं
सङ्गुणपत् तथा च सर्वेषामर्जिते न विषमविभाग इति कृत्स्नभट्टव्याख्यानं
तदसत् । तत्र विषमविभागाभावस्य समविभागस्य च न्यायत एव प्रातिर्वचन-

नर्थक्यात् । विषमविभागरूपत्वाभावादिति । एवं समुद्भूतोद्गारे समानंशाः प्रकल्पयेदित्यादिना अविभक्तद्रव्यात् पृथक्कृतस्यैवोद्गारतया तस्य भागाभावादिति भावः । इति पितृकृतविभागः ॥ ८३—८८ ॥

तृतीयाध्यायः ।

प्रथम परिच्छेदः ।

इदानीमुपरते पितरि भ्रातृणां विभागः कथ्यते । सोऽपि च मातरि जीवन्त्यां सत्यपि पितृपरमाह्वनस्त्रामित्वे धर्म्या न विभागः सोदराणां भवतीति कथ्यते ऊर्द्ध्वं पितुश्च मातुश्चेति (मनु ८।१०४) उभयोरुपरमे सोदराणां पैतृकधनविभागस्य ज्ञापनात् ॥ १ ॥

न पुनर्मातुरुर्द्ध्वं मातृधनविभागार्थं पैतृकपदात् पितृधनमात्रस्यैव विभागावर्गतेः पैतृकपदस्यैकशेषकल्पनायां प्रमाणाभावात् ॥ २ ॥

किञ्च जनन्यां संस्थितायामित्यनेनैव (मनु ८।१८२) मातरि मृतायां तदीयधनविभागस्य मनुना वक्ष्यमाणत्वात् ऊर्द्ध्वं मातुरिति पुनरुक्तं स्यात् ॥ ३ ॥

यथा याज्ञवल्करः ।

विभजेरन् सुताः पितोरूर्द्ध्वं मृक्यमृणं समम् ।

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः ॥ ४ ॥

(याज्ञवल्कर २।११८)

मातृधनविभागस्य दुहितृणां सद्भावे अनधिकारः असद्भावे चान्वयपदेन पुत्राणामधिकार इत्युत्तरार्द्धेनैव प्रतिपादनात्

पूर्वाङ्गे पित्रोरिति पितृधनविषयमेव अन्यथा पुनरुक्तत्वा-
पत्तेः ॥ ५ ॥

पितृकृतविभागं निरूप्य मातृकृतविभागनिरूपणार्थं सख्योऽथावधानाय
प्रतिजानीते इदानीमिति । पितृकृतविभागनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । सोऽपि
मातृकृतविभागोऽपि । धर्म्यो नेति । तथाच विभाग, सिद्धयर्थव किन्तु स
धर्म्यो नेति भावः । अत एवोक्तं सत्यपीत्यादि विभागाधिकारज्ञापनार्थम् ।
नन्वेवं पितृसत्त्वे इव मातृसत्त्वेऽपि विभागासिद्धिरपि वचनायैतत्सम्भवे धर्म्यत्वेन
केमित्यदृष्टकल्पनागौरवमङ्गोक्तरोषि इति चेन्न, तवापि तदानीं तेषां धन-
स्वामित्वात् मातृसत्त्वं विभागाभावस्य वाचनिकत्वेनादृष्टकल्पनायामुच्यत्वात्,
विनिगमना तु तेषां पितृसत्त्वं अस्वामित्वात् युक्ता विभागासिद्धिः, मातृसत्त्वं
तु तेषां स्वस्वधनस्वामित्वात् विभागे बाधकाभाव इति न्याय एवेति विभाव्यम् ।
ज्ञापनात् मनुनेति शेषः । ननु मातुरुद्धर्मित्यस्य पितृधनविषयत्वादृष्टकल्पना-
गौरवमेव एकशेषकल्पनायां मानमत आह किञ्चेति । पुनरुक्तमिति । इयो-
ऽपि मनुवचनत्वादिति भावः । उक्तार्थे याज्ञवल्क्यवचनं स्फुटं प्रमाणीयति
श्रेयः । अनधिकार इति । पुत्राणामिति शेषः । पुनरुक्तत्वेति । पूर्वाङ्गे
पद्वोरित्यत्रैकशेषकल्पनया मातृधनविभागे मातुरुद्धर्मिति प्राप्तेः पुनर्मातृधन-
मित्यस्य पुनरुक्तत्वापत्तिरित्यर्थः । इदमुपलक्षणम् उत्तराङ्गे दुहितृभावे सत
प्राधिकारप्रतिपादनात् विरोधोऽपि द्रष्टव्यः । अथ पूर्वाङ्गे मातुरर्थोक्तधन-
विषयम् उत्तराङ्गे यौतकधनविषयम् अत्र प्रथमं दर्शितधिकारस्य वक्ष्यमाण
वात् अतो न पौनरुक्त्यं न वा विरोध इति चेन्न, अयोतकस्त्रीधने पुत्रकुमार्यो
र्गुणपदधिकारस्यैव वक्तव्यत्वेन केवलपुत्राधिकारप्रतिपादने विरोध-ताद-
र्यत्वात् । न च सुता इत्यत्राप्येकशेषकल्पनया कन्यापुत्रयोर्युगपदधिकार
प्राप्तिरिति वाच्यं, पितृधनसमभिव्याहारात् केवलपुत्राधिकारस्यैवावगते,
अन्यथा पितृधनेऽपि वयोर्गुणपदधिकारापत्तिः ॥ १ — ५ ॥

मातापित्रोरुपरमे भ्रातरो विभजेरन्निति वदता याज्ञ-
वल्केन उभयोरुपरमानन्तरकालस्य विभागार्थतया विधा-
नात् साहित्यं विवक्षितम् ॥ ६ ॥

तथाच शङ्खलिखितौ । रिक्त्यमूलं हि कुटुम्बमस्त्रतन्नाः

पितृमन्तो मातुरप्येवमस्थितायाः । मातुरपि सकाशाद-
स्वतन्त्रा विभागानधिकारिण इत्याहृतुः ॥ ७ ॥

सुव्यक्तमाह व्यासः ।

भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते ।

तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्द्धते ॥ ८ ॥

सहवासविधानमुखेन पृथग्भावनिषेधात् पितृमातृ-
जीवनवतश्च विभागनिषेधात् जीवतोरिति साहित्यमविव-
क्षितम् अत एकस्मिन्नपि जीवति विभागो न धर्म्यः किन्तु
उभयोरभावे ॥ ८ ॥

यथाह बृहस्पतिः ।

पितृरभावे पुत्राणां विभागः सम्प्रदर्शितः ।

मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि शस्यते ॥ १० ॥

निवृत्तरजस्कायां मातरि जीवन्त्यां विभागस्य मातृधन-
गोचरत्वानुपपत्तेः उभयाभावोक्तविभागस्यैव जीवतोरपीत्यपि-
कारेण शस्त्वकीर्तनात् उभयोरभावे भ्रातृविभागः पितृधन-
गोचर एवावधार्यते ॥ ११ ॥

अतएव जीवन्त्यां मातरि मातृप्रधानकं विभागं निर्दि-
शति व्यासः ।

समानजातिसङ्ख्या ये जातास्त्वे केन सूनवः ।

विभिन्नमातृकास्तेषां मातृभागः प्रशस्यते ॥

तथा बृहस्पतिः ।

यद्येकजाता बहवः समाना जातिसङ्ख्याया ।

सापत्नास्तैर्विभक्तव्यं मातृभागेन धर्मतः ॥ १२ ॥

पुत्राणां जातिसङ्ख्यासाम्येन विभागे विशेषाभावात्

मातुरिवायं विभागे न पुत्राणामित्युद्दिश्य विभागः कर्तव्यः
तेनेतरमातृधन इवात्रापि पुत्राणां मातरि जीवन्त्यां न पर-
स्परविभागे स्वातन्त्र्यं किन्तु मातुरनुमत्यैव परं विभागे
धर्म्यः ॥ १३ ॥

साहित्यमिति । पितृमातृपरमयोः साहित्यमित्यर्थः विवक्षितमिति ।
नदृक्चनस्य चकारेण हन्तृसमानार्थकेन साहित्यावगमादिति भावः । अतः च
साहित्यं विभागक्रियापेक्षया, साहित्यन्तु तत्त्वरूपाणां परस्परसापेक्षाणां सैक-
क्रियान्वयित्वं तत्र तत्त्वरूपाणां विशेषणविशेष्यभाषानापन्नानां तेन संप्रती-
धर्मसाचरेदित्यत्र साहित्यश्रुतामः पत्युविशेषणत्वेनैव पत्रा आचारक्रियान्वयात्
परस्परसापेक्षाणां परस्परनेरपेक्षेण तत्क्रियान्वयिना युगपत्तत्क्रियान्वयिना
मिति क्लृप्तायः तेन धवखदिरौ क्लृप्तौ चैव एकस्यामपि क्लृप्ताक्रियाव्यक्ती-
क्रमेणान्वितयोर्धवखदिरयोः साहित्यश्रुतामः युगपदन्वितयोरेव साहित्यप्रती-
तेरिति । अत्र संवादं दर्शयति तथा चेति । सृक्थेति । हि हतौ यतः
सृक्थमूलं गार्हस्थ्यम् अतोऽस्वतन्त्राः व्ययानधिकारिणः इतरथा सर्वेरेव सृक्थया
अन्यथे कृते धनविलयापत्त्या कुटुम्बरक्षा न स्यादिति भावः । अत्रैवं शब्देन
मातृवस्थाने अस्वातन्त्र्यास्य स्फुटमेवाभिधानमिति भावः । नन्वस्य वचनस्य
भार्यापुत्रश्रेण्यादिनैकमूलत्वात् स्वाजितधने चस्वातन्त्र्यपरत्वमस्तु दायभाग-
प्रकरणास्मानात् अतएव इदमस्यैव अतः स्पष्टमाह व्यास इति । विधान-
मूलेन प्रतिपादनमूलेन । सहवासस्य जन्मप्रभृतिप्राप्ततया तद्विधानासम्भवात् ।
पृथग्भावेति । पृथग्भावनिवेधस्यैव सहवास एवेति नियमेन परिसंख्यया
वा वचनार्थत्वादिति भावः । अत्र जीवतीरिति द्विवचनावगतसाहित्यस्य
विवक्षितत्वे एकमात्रजीवनेन सहवासस्याप्राप्ता मातरि जीवन्त्यामपि विभागः
स्यात् मातरि सताया पितृसत्त्वेऽपि विभाग आपद्येत अतस्तदविवक्षासाह
पित्रत्यादिना, जीवन्वत इत्यनेनाविवक्षितत्वर्वाजम् उद्देश्यविशेषणत्वं साहित्यस्य
प्रतिपादितं जीवन्वतमातृकमुद्दिश्य विभागाभावस्य विधेयत्वात् यद्यपि पितृ-
सत्त्वेऽस्मात्त्वेनैव विभागाप्राप्तेः पितृपादानवैयर्थ्यं तथापि दृष्टान्तात् तदु-
पादानमत एव प्रागुक्त मातुरप्यवस्थाया इत्यत्र एव शब्दः यथा पितरि
जीवति विभागास्वातन्त्र्यं तथा मातरि जीवन्त्यामपीति दृष्टान्तायकः प्रयुक्त
इति । उभयोरभावे अन्यतराभावे । एवञ्च जीवती. साहित्याविवक्षाया-
मुपरमसाहित्यं स्फुटमुक्तमिति भावः । मातृधनमीचरत्वानुपपत्तिरित्यस्य मातृ-

निर्धनत्वापत्तिरिति शेषः । उभयाभावीकृति । उपस्थितविभागानुषङ्गेनैव शक्तत्वात्त्वसम्भवे विभागान्तराध्याहारकल्पनायां गौरवादिति भावः । पितृधनगोचर एवेति पितामहधनस्यापि पितुः स्वत्ववत्त्वात् पितृधनत्वेन तस्यापि सगृहः । एवकारेण मातृधनमात्रव्यवच्छेदः तेनास्य वचनस्य न प्रागुक्तपितामहधनगोचरत्वविरोधः । मातृप्रधानकं मातृसम्बन्धित्वेन निर्देशपूर्वकम् अत्रापि पितृधने स्वस्वत्वाद्यदौभूतेऽपीत्यर्थः ॥ ७—१३ ॥

अतो यज्ञीतमादिभिरुक्तं विभागे तु धर्मवृद्धिरित्यादि
(गोतम २८।४) तस्मातुरुपरमे वेदितव्यम् ॥ १४ ॥

तत्र यद्यविभक्ता एव स्यातुमिच्छन्ति तदा ज्येष्ठ एव योगक्षेमशक्तः सर्वं गृह्णीयात् इतरे पितरमिव तमुपजीवेयुः ।
यथा मनुः ।

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पितरं धनमशेषतः ।

‘ शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ (मनु ८।१०५)

तथा गोतमः । सर्वस्वं वा पूर्वजस्य स इतरान् विभृयात्
पितृवत् (गोतम २८।३) वाशब्दात् पृथग्वा भवेयुः सहवास-
सेयुः । सहवासस्य सर्वेषामिच्छात एव । यथा नारदः ।

विभृयादेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ।

भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षा कुले स्थितिः ॥

(नारद १३।५)

शक्तः सन् कनिष्ठोऽपि सर्वान् विभृयात् मध्यमोऽत्र दण्डा-
पूपन्यायात् सिद्धः ॥ १५ ॥

विभागस्त्वैकस्यापीच्छया भवतीत्युक्तं प्राक् ॥ १६ ॥

अतएव विभागं प्रक्रम्याह कात्यायनः ।

अप्राप्तव्यवहाराणां धनं व्ययविवर्जितम् ॥

न्यसेयुर्बन्धुमित्रेषु प्रोषितानां तथैव च ।

तथा रक्ष्यं बालधनमाव्यवहारप्राप्तेरिति वचनम् ॥१७॥

अयञ्च पुत्राणां विभागः पुत्रपौत्रप्रपौत्राणां समानो
नात्रोत्पत्तिक्रमेणाधिकारक्रमः पुत्रादीनां त्रयाणामेव पार्वणे
तत्पिण्डतद्गोत्र्यपिण्डद्वयदानाविशेषात् । अतएव देवलः ।

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

उपासते सुतं जातं शकुन्ता इव पिप्पलम् ॥

मधुमांसेश्च शकैश्च पयसा पायसेन च ।

एष नो दास्यति आहं वर्षासु च मघासु च ॥

तथा शङ्खलिखितयमाः ।

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

जातं पुत्रं प्रशंसन्ति पिप्पलं शकुना इव ॥

मधुमांसेन खड्गेन पयसा पायसेन वा ।

एष दास्यति नस्तृप्तिं वर्षासु च मघासु च ॥

प्रपितामहग्रहणात् पुत्रपदं प्रपौत्रपर्यन्तपरम् । तदनेन
प्रपौत्रपर्यन्तस्य आह्वदानेन प्रपितामहपर्यन्तोपकारकत्वात्
तुल्यो दायाधिकारः ॥ १८ ॥

अतएव जीवत्पितृकयोः पौत्रप्रपौत्रयोरनधिकारः पार्व-
णानधिकारितया पिण्डाप्रदाहत्वात् ॥ १९ ॥

पित्वोरुपरमे च भ्रातृणां पितृकृतो विशेषः परं निवर्त्तते
अन्यत् तु सर्वमेव प्रत्येतव्यम् ॥ २० ॥

उक्तं प्रागिति । पितृधनविभागप्रकरणे एकस्यापि स्वधने स्वाभ्यादित्यादि-
नेत्यर्थः । अप्राप्तव्यवहारा बालकाः पञ्चदशवर्षानधिकवयस्काः । प्रोषिताना-
मिति अत्र तदनुमतिं विना विभागः स्फुट एवेति भावः । यत एव प्रपौत्र-
पर्यन्तानां तुल्योपकारतया अतएव प्रपितामहपर्यन्तानां तुल्योपासनेत्याह
अत एवेति । तस्मिन् दास्यति जनयिष्यति । प्रपौत्रपर्यन्तपरमिति । पार्वण-
कर्त्तृसुपिण्डलेन लक्षणयेत्यर्थः । अतएव धनाधिकारस्थोपकारनिबन्धनतादेन

पितृभागस्त्वेषीत्तरकालं तद्भामित्वात् न निरञ्जतेति कीञ्चम् । पिण्डाप्रदातृत्वा-
दिति । अत्र च पिण्डदानयोग्यतेन विवक्षिता न तु तदुपधानं तथात्वे देवा-
दकृतपार्वण्यस्य पुत्रादेरनधिकारापत्तेः स्वरूपयोग्यता तु पौत्रादेर्मृतपितृकपौत्र-
त्वादिनैव तथैव अविभक्ते स्मृते पुत्रे तत् सुतं रिक्थभागिनमित्यादि शास्त्रेणात्र-
गमात् तेन जीवत्पितृकपौत्रादेर्न स्वरूपयोग्यतेति कीञ्चम् ॥ १४ -- २० ॥

यदा चैकः पुत्रोऽस्ति अपरस्य पुत्रस्य पुत्राः सन्ति तदा
तस्यैको भागः अपरस्य बहूनां नमृणां स्वपितृधीनजन्ममूल-
त्वाद्धनसम्बन्धस्य यावत्त्येव धने तस्य स्वामित्वाह्वं तावत्त्येव
तेषामपि ॥ २१ ॥

यच्च अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पनेति (याज्ञ-
वल्क्य २।१२१) घचनं तस्य नायं विषयः पितृव्यपितुरेव तत्
सर्वं धनमिति पितृव्यस्यैव सर्वं स्यात् न तद्भातुः पुत्राणाम् ।
पितृतो भागकल्पने पितापुत्रविभागवद्भागकल्पने पितृभाग-
द्वयसम्बन्धात् पितृव्यस्य भागद्वयं भवेत् तद्भातुः पुत्राणां
त्वेकैको भागः स्यात् तदा च शिष्टाचारविरोधः स्यात् ॥ २२ ॥

अस्य पुनरेष विषयो यत्रैकस्य भ्रातुरल्पसंख्यकाः पुत्राः
सन्ति अपरस्य बहुसंख्यकास्तत्र पितृतो भागकल्पनेति ॥ २३ ॥

उपकाराविशेषात् बहूनां मृतपितृकपौत्राणां प्रत्येकं पितृतुल्यभागमाशङ्क्याह
यदेति । तावत्येवेति । तथा च रत्नाकरे कात्यायनः । अविभक्ते स्मृते पुत्रे तत्
सुतं रिक्थभागिनम् । कुर्वीत जीवनं येन लाभं नैव पितामहात् । लभेतांश
स पित्रात् पितृव्यात् तस्य वा सुतात् । स एवांशस्तु सर्वेषां भ्रातृणां न्यायतो
भवेत् । लभेत् तत् सुतो वापि निवृत्तिः परतो भवेदिति । अत्र न्यायत इत्यस्य
स्वपितृधीनजन्ममूलत्वादित्यर्थः । अतएव पार्वणपिण्डदातृत्वेऽपि दौहित्रस्य
नाधिकारः, मातुलादिसत्त्वे तन्मातुरेवानधिकारात्, प्रपौत्रपुत्रस्य तु पार्वण
पिण्डदातृत्वाभावात् नाधिकारः । अत्रैव विषये यत् केनचित् वचनात्तरं
साधकतया उपपन्नं तददृष्टयितुमेतद्वचनमाह यदेति । अनेकपितृकाणामिति ।
अनेके पितरौ येषामिति व्युत्पत्तिरनेकभ्रातृणामनेके पुत्राः सूचिताः । अयं

पितृव्यभाटपुत्रविभागः । पितृतो भागकल्पनेत्यस्य किं पित्रंश्च एव पुत्रस्य भाग इत्यर्थः, पिता पुत्रवत् भागो वार्थः । तत्र नाय इत्याह पितृव्यपितुरेवेति । द्वितीयमाशङ्क्य निषेधति पितृत इति । स्वमतमाह अस्य पुनरिति । यवेति । तथाच विभिन्नपितृकाणां पौत्राणां पितामहधनविभागे स्वस्वपितृनुसारेण भागकल्पनेति वचनार्थ इति भावः । पुत्रा इत्युपलक्षणं पौत्रा अपि बोध्याः । २१—२२ ॥

तृतीयाध्यायः ।

द्वितीय परिच्छेदः ।

इदानीं सवर्णभ्रातृणां विभागो विंशोद्धारादिपूर्वको वा सम एव वेति विकल्पः ॥ २४ ॥

उद्धारमन्तरेणापि समविभागमाह पितरीत्यनुवृत्ती हारीतः । समानतो मृते रिक्त्यविभागः । तथोशना ।

वर्णानामानुलोम्यानां विभागोऽयं प्रदर्शितः ।

समत्वेनैकजातानां विभागस्तु विधीयते ॥

तथा च पैठीनसिः ।

पैतृके विभज्यमाने दायाद्ये समो विभागः ।

तथा याज्ञवल्करः ।

विभजेरन् सुतापित्रोरुद्धुं मृक्थमृणं समम् ॥

(याज्ञवल्कर २।११८)

अतः सोद्धारानुद्धारभागयोर्विकल्पः ॥ २५ ॥

न च केवलसमविभागस्यापि शास्त्रीयत्वान्नित्यवत्तत्त्वेनानुष्ठानं स्यादिति वाच्यं, भक्त्यतिशयेन भ्रातृणामुद्धारानुमतेरपि सश्रवादिभागाविभागवद्विकल्पः ॥ २६ ॥

अतएवाद्यतनानां भक्त्यतिशयाभावात् समभाग एव लोः
दृश्यते उद्धारार्हज्येष्ठाभावाच्च ॥ २७ ॥

यस्तु स्वयोग्यतामात्रपरामर्शात् पितृपितामहादिधन-
विभागं निस्पृहः, स किञ्चिदेव तण्डुलप्रस्थमपि दत्त्वा तत्
पुत्रादेः कालान्तरीप्रदुरन्ततानिगमार्थं विभजनीयः ।

तदाह मनुः ।

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।

स निर्भाज्यः स्वकादंशात् किञ्चिद्वत्त्वोपजीवनम् ॥

(मनु ६।२०७)

तथा याज्ञवल्क्यः ।

शक्तस्यानीहमानस्य किञ्चिद्वत्त्वा पृथक्क्रिया ॥ २८ ॥

(याज्ञवल्क्य २।११७)

उदानां चात्तविशेषावशेषितभातविभागनिरूपणानन्तरम् । विक्त्यो द्विप्रकारः
निरूप्यत इति शेषः । तत्र मीडारः ज्येष्ठस्य विश उद्धार इत्यादिना प्रायेवोक्तः
सम्प्रति सम साधयति उद्धारमन्तरेणापीति । समानतः समत्वेन तृतीया विशेष-
धर्ण । आनलीस्यानाम् अनुलोमजातानां प्राज्ञणादीः बतियादिपुत्राणामित्यर्थः ।
एकजातानामेकजातीयमातृजातानामित्यर्थः । दायादखेदं दायाद्यं तस्मिन्
दायाद्यं विभागोऽशः सम इत्यर्थः, विभागी विभज्यमानदायः समान इति
वाच्यं । अतो विभागदेविध्यतः । विक्त्या व्यवस्थितः न त्वैच्छिकः विषमशिष्ट-
त्वात् । व्यवस्थितत्वं व्यवस्थापयितुमाशङ्कते न चेति । नित्यवदिति । नियत-
मित्यर्थः समभागस्यापि शास्त्रोक्तं मीडारं बलवद्देषादिति भावः । अद्यतना-
र्गमिति कनिष्ठानामिति शेषः । यत्र चाद्यगर्भमुन्म्वरूपज्येष्ठाभावसत्त्वापि
समी विभाग इत्यवधेयम् । ननु जन्मविद्यागुणज्येष्ठ इत्यनेन गुणस्थेवाधिकाश
प्रयोजकत्वमुक्तं न तु भक्त्यतिशयस्यापि प्रमाणाभावादत आह उद्धारार्ह इति ।
वेदविद्यानेदिककमानुष्ठानकनिष्ठावस्त्रनादिगुणवत एव उद्धारार्हतया कलौ
तादृशज्जलस्य प्रायेणासत्त्वादिति भावः, तेन विकृत्योऽपि गुणतदभावाभ्यां
व्यवस्थित एवेति द्रष्टव्यम् । स्वयोग्यतामात्रपरामर्शात् स्वयोग्यतावत्त्वात् ।

किञ्चिदिति । किञ्चिदगृहीत्वा निवृत्तिस्तस्यान्यत्रोपेक्षाव्यञ्जिका इत्यतस्तदुपा-
दानम् । भ्रातृणामिति । भ्रातृणां विभागे क्रियमाणं यन्तु जनः स्वकर्मणा
शक्तयेत् पितृधनं नेहेत न चेष्टत इत्यर्थः । एवमेव मिताक्षराकृच्छूलपाणिहला-
यधप्रभृतयः । प्रकाशकारादयस्तु भागिषु व्याप्रियमाणेषु आलस्यादिना यो न
व्याप्रियते स निर्भाज्यः मूलधनादंशमात्रं दत्त्वा अर्जितधनभागशून्यः कार्यः इति
वचनं व्याचक्रुः तदसत् एतस्योपघाताजितविषयत्वे साधारणधनोपघातनाजिते
निर्व्यापारस्यापि साधारणं समाश्रित्येत्यादिना भागावगतेर्विरोधात् अनुपघाता
र्जितविषयत्वे तु अनुपपन्नं पितृद्रव्यमिति तदीयपरवचनवैयर्थ्यापातादिति
॥ २४—२८ ॥

पितरि चोपरते सोदरभ्रातृभिर्विभागे क्रियमाणे मात्रे-
ऽपि पुत्रसमांशो दातव्यः । समांशहारिणी मार्तति वच-
नात् ॥ २९ ॥

मातृपदस्य जननीपरत्वात् न सपत्नीमातृपरत्वमपि
सकृच्छ्रुतस्य मुख्यगीणत्वानुपपत्तेः ॥ ३० ॥

समांशता च मातृभर्त्रादिभिः स्त्रीधनादाने दत्ते पुन-
रहेम् । पित्रा च पुत्रेभ्यः समविभागदाने सर्वपत्नीनामेव
पुत्रसमांशता कर्त्तव्या । तदाह याज्ञवल्करः ।

यदि कुर्यात् समानांशान् पत्न्यः कार्य्याः समांशिकाः ।

न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा ॥

(याज्ञवल्कर २।११६)

अधिविन्नस्त्रियै देयमाधिवेदनिकं समम् ।

न दत्तं स्त्रीधनं यासां दत्ते त्वद्भिः प्रकल्पयेत् ॥ ३१ ॥

(याज्ञवल्कर २।१४८)

पुत्रहीनाश्च पितुः पत्न्यः समानांशा न पुत्रवत्यः ।

तथा व्यासः ।

असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्त्तिताः ।

पितामहश्च सर्वास्ता मातृतुल्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

तथा विष्णुः । मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहारिण्यः,
अनूढा दुहितरश्च ॥ ३२ ॥ (विष्णु १८।३४—३५)

पुत्रभागानुसारेण यथा वर्णक्रमेण पुत्राणां चतुस्त्रिद्वेक-
भागिता तथा पत्नीनामपीति ॥ ३३ ॥

सोदरभातृभिरिति । सोदरासोदरविभागे तु नैवं तत्रैकस्याः सर्वपुत्रमातृ-
त्वाभावात् मातुरेवांशिताया वचनेन बोधितत्वात् । न सपत्नीमातुरिति ।
मक्रुक्षुतस्येति । युगपद्वृत्तिद्वयविरोधादिति भावः । इदञ्च प्राचीननयमा-
श्रित्याभिहितं न तु नव्यानां किन्तु नञ्चैरपि तावर्थ्यान्वयानुपपत्त्यैव गङ्गाया
घोषमन्वीक्ष्य इत्यादौ वृत्तिद्वयाङ्गीकारात् प्रकृते तथाविधोभयतात्पर्ययाङ्क-
प्रमाणाभावेन मुख्यपरत्वेति तन्मताश्रयणेऽपि न वृत्तिद्वयसम्भव इति भावः ।
अत एव पितृपत्नीत्वोभयसाधारणरूपेण लक्षणयैवोभयघोषसम्भव इत्यपि
परान्तं लक्षणाहेत्वभावात् । सर्वपत्नीनामिति । पुत्रह्नीनानामिति वक्ष्यति ।
पुत्रेभ्य इत्यत्र दत्ते पुनरईमित्यत्र च प्रमाणं क्रमेण वचनद्वयमाह तदाहिति ।
समानांशान् पुत्रानिति शेषः । अधिविद्वेति । उदाह्यमानस्त्रियमपेक्ष्याधिक-
विद्वान् पूर्वोदाहृता या तस्ये स्त्रिये इत्यर्थः । आधिवेदनिकम् अधिवेदननिमित्तं
समम् उदाह्यमानस्त्रिये दयसममित्यर्थः । यद्यपीदमधिविद्वत्स्त्रीसम्प्रदानकदान-
विषयं न दत्तं स्त्रीधनं यासामिति तु पितृकृतविभागविषयं तथाप्येकत्र
निर्णीतः शास्त्रार्थी बाधकं विना अन्यत्रापि तथेति न्यायात् अत्रापि तथा
कल्प्यात् इति तथोक्तम् । पुत्रह्नीनाचेति । अत्र कश्चिदिदं पितुः पत्न्या
इति स्वरसात् पुत्रकृतविभागविषयं पितृकृतविभागे तु सपत्न्यापुत्रपत्नीनामेवांश-
त्वमित्याह तदसत् मातृपदस्य न सपत्नीमातृपरत्वमिति व्याख्यानविरोधात्
भर्तृकृतविभागे पुत्रवतीनामप्यंशित्वे समांशहारिणी 'माता पुत्राणां स्यान्मृत-
पतावित्यत्र माता तु पितरि प्रेते पुत्रतुल्यांशहारिणीत्यत्र च मृते पताविति
पितरि प्रेते इति विशेषणवैयर्थ्याच्च । न च पतिसत्त्वे तत्समांशहारिणी तद-
भावे पुत्रसमांशिनोऽर्थो वाच्य इति वाच्यं यदि कुर्यात् समानांशानित्यत्र
उपस्थितपुत्रसमांशताया एव पत्नीनां प्राप्तेः न त्वनुपस्थितपतिसमांशताया
इति । तस्मात् पतिकृतविभागे पुत्रह्नीनपत्नीनामेवांशित्वं न पुत्रवतीनां
पुत्रकृतविभागे तु मातृणामेवांशित्वं न विमातृणामिति व्यवस्थेति पितुरिति

कर्त्तरि षष्ठौ । पितामह इति पितामहधनविषयम् । अत्र पितामहोपदं
पितृजननीमात्रपरं प्रागुक्तयुक्तेरिति केचित्, अपरे तु बहुवचनात् सर्वा इत्युपा-
दानाच्च सर्वासामेव पितामहपत्नीनामंशत्वमिति प्राहुः ॥ २८—३३ ॥

अनूदानां दुहितृणां पुत्रभागमनुसृत्य तच्चतुर्थांशः ।

तदाह बृहस्पतिः ।

समांशा मातरस्त्वेषां तुरीयांशाश्च कन्यकाः ॥ ३४ ॥

पुत्रस्य भागत्रयं कन्यकाया एको भागः ।

यदाह कात्यायनः ।

कन्यकानां त्वदत्तानां चतुर्थी भाग इष्यते ।

पुत्राणाञ्च त्रयो भागाः स्वास्यं स्वल्पधने स्मृतम् ॥ ३५ ॥

अल्पधने पुत्रैः स्वात् स्वादंशादाकथ्य कन्याभ्यश्चतुर्थ्यांशो
दातव्यः । यथा मनुः ।

स्वेभ्योऽंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।

स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्तवः ॥ ३६ ॥

(मनु ८।११८)

प्रदद्युरिति प्रदानश्रुतेरदाने च पतितत्वश्रुतेर्न कन्या-
भिरधिकारिवुद्ध्या ग्रहीतव्यं न ह्यधिकारिणे भ्रात्रेऽपरो
भ्राता स्वादंशाद्दाति ॥ ३७ ॥

यथा याज्ञवल्क्यः ।

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतेः ।

भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्त्वांशन्तु तुरीयकम् ॥

(याज्ञवल्क्य २।१२५)

भगिनीनां संस्कार्यतामाह नाधिकारिताम् ॥ ३८ ॥

एवञ्च बहुतरधने विवाहोचितधनं दातव्यं न चतुर्थीश-
नियम इति मिश्रति ॥ ३९ ॥

एतच्च कन्यापुत्रयोः समसङ्ख्यात्वे ज्ञातव्यं विषमसङ्ख्यात्वे
च कन्याया एव बहुतरधनं वा स्यात् पुत्रस्य वा निर्दिष्टता
स्यात् न चैतदुचितं पुत्रस्य प्राधान्यात् ॥ ४० ॥

स्वल्पधन इति । यज्ञस्य एकपुत्रस्यतुरीयांशेन कन्यासंस्कारी न सम्भवति
तदेव स्वल्पधनं तद्वधातृभिरिव विभजनीयं पश्चात्तैरेव स्वस्वद्रव्यादाकृष्य भगिनौ
संस्कारः कार्य इति भावः । न चतुर्थीशनियम इति । अतएव रत्नाकां
विष्णुः । अनूढानां कन्यानां वित्तानुसारेण संस्कारं कुर्यादिति । विषमेति
पुत्राणां चतुरादिसंख्यत्वे कन्यायाश्चैकले कन्यायाबहुतरधनं अतस्तृषु कन्यासु
सतीषु पुत्रस्यैकस्य निर्धनतेत्यर्थः ॥ ३४—४० ॥

यच्चेदमत्र बाधकमुक्तम् ।

अविद्यमाने पित्रर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः ।

अवश्यकार्याः संस्कारा भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥

(नारद ११।३४)

अस्मान्नारदवचनादवश्यकर्तव्यत्वाद्भगिनीनां संस्कारस्य
निरंशतापि न दोषायेति ॥ ४१ ॥

तदयुक्तं भ्रातृसंस्कारार्थत्वादस्य वचनस्य भ्रातृणां पूर्व
संस्कृतैरिति पाठस्यानाकरत्वात् भ्रातृसंस्कारस्य च प्रकृत
त्वात् । इदं हि पूर्वमुक्तं येषान्तु न कृताः पित्रा संस्कार
विधयः क्रमात् ।

कर्तव्या भ्रातृभिस्तेषां पैतृकादेव तद्वनात् ।

(नारद ११।३३)

तेषां तेषामिति पुंलिङ्गनिर्देशात् एतदनन्तरमेवाविद्य-

गान इति वचनारम्भात् भ्रातृसंस्कारार्थमेवेदं वचनम् ॥ ४२ ॥

इति पितृपितामहादिधनविभागः ॥ ४३ ॥

भ्रातृणामिति पाठे एकशेषाद्भगिनीसंस्कारस्याप्यावश्यकता स्यात् अतस्त-
द्वरस्यति भ्रातृणामिति । ननु भ्रातृसंस्कारार्थत्ववत् भगिनीसंस्कारार्थत्वमपि
वचनस्य कुतो न स्याद्विशेषाश्रयत्वात् अत आह भ्रातृसंस्कारस्येति । पुंलिङ्ग-
नदेशादिति । न च येषामपत्न्यानामिति नपुंसकनिर्देश एव कुतो न स्यादिति
व्युत्पत्त्यर्थसाधुत्वे सम्भवति शब्दसाधुत्वमात्रस्याप्यावश्यकतादिव्यभिप्रायादिति ।
स्तुतस्तु पितृपितामहाभावे भगिनीदानाधिकारितया भ्रातृप्यावश्यक एव
भगिनीसंस्कारः अथ ऋतुमतौ भवति दाता प्रतिशङ्कीता च नरकमाप्नोतीति
तेः अतएव याज्ञवल्क्यानापि भगिन्यश्च निजादंशादित्यनेन भगिनीनामपि
भ्रातृसंस्कारार्थत्वमुक्तम् इत्यतो बहुतरभ्रातृसंस्कारात् भ्रातृनिर्हन्तृतावत् भगिनी-
स्कारादपि निर्हन्तृता न दोषायेति सुधीर्भविष्यम् ॥ ४१—४३ ॥

चतुर्थः अध्यायः ।

प्रथम परिच्छेदः ।

अथ स्त्रीधनविभागार्थं प्रथमं स्त्रीधनं निरूप्यते ।

तत्र विष्णुः ।

पितृमातृसुतभ्रातृदत्तमध्यग्न्यापागतम् ॥

आधिवेदनिकं बन्धुदत्तं शुक्लान्वाधेयकमिति स्त्रीधनम्

। १ ॥ (विष्णु १७।१८)

अन्वाधेयमाह कात्यायनः ।

विवाहात् परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात् स्त्रिया ।

अन्वाधेयं तदुक्तान्तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा ॥

ऊर्ध्वं लब्धन्तु यत्किञ्चित् संस्कारात् प्रीतितः स्त्रिया ।

भर्तुः पित्रोः सकाशाद्वा अन्वाधेयन्तु तद्गृगुः ॥ २ ॥

बन्धुपदेन मातापित्रोरुपादानं, तेनायमर्थः मातापितृ-
द्वारेण सम्बन्धिनां पित्रोश्च सकाशात् यत्तु विवाहात् परतो
लब्धं तथा भर्तुः सकाशात् भर्तृकुलाच्च श्वशुरादितो यत्तद्ध-
धनं तदन्वाधेयम् । विष्णुवचने च बन्धुपदं मातुलाद्यभि-
प्रायं पित्रादीनां स्वपदेनैव निर्दिष्टत्वात् परिणयनसमयलब्धस्य
ब्राह्मणाद्यासुरादिविशेषेण भर्तुः पित्रोर्वाधिकारात् ॥ ३ ॥

स्त्रीधनमाह तु मनुकात्यायनौ ।

अध्यग्न्यध्यावाह्निकं दत्तञ्च प्रीतितः स्त्रियै ।

भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥

(मनु ८।१८४)

तथा नारदः ।

अध्यग्न्यध्यावाह्निकं भर्तृदायस्तथैव च ।

भ्रातृदत्तं पितृभ्याञ्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ ४ ॥

(नारद १३।८)

प्रकरणान्तरमाह अथेति अध्यग्न्यादिकमयं वक्ष्यते । विवाहात् परत-
इति । एतेन पितृमातृभ्रातृबन्धुदत्तमिति कालान्तरदत्तमात्रपरिग्रहार्थमिति
भुव्यक्तम् । बन्धुपदेनेति । लब्धं बन्धुकुलात्तथैत्यत्रेति शेषः । मातापितृद्वारे-
णेति । मातुः पितुर्वा यस्य सम्बन्धस्य घटकात्वं तत्सम्बन्धवतां मातुलपितृव्या-
दौनामित्यर्थः । एवञ्च सति मातृपितृभ्रातृदत्तस्य अन्वाधेयकं संज्ञा न स्यात्
अत ऊर्ध्वं लब्धमित्यभिहितम् । तल्लब्धार्थमाह पित्रोश्च सकाशादिति, तथा
भर्तुः सकाशादिति च । लब्धं भर्तृकुलादित्युक्तस्यार्थमाह भर्तृकुलाच्चेति ।
इत्थं च विष्णुवचनोपास्य सुतदत्तस्य नान्वाधेयत्वं सुतस्य साक्षादेव सम्बन्ध-
वत्त्वेन निरुक्तबन्धुभर्तृकुलवासम्भवादिति सुधीभिर्भाव्यम् । स्वपदेनेति । पितृ-
मातृसुतभ्रातृदत्तमित्यत्र पित्रादिपदेनेत्यर्थः । ननु विवाहात् परत इति, ऊर्ध्वं

संस्कारादिति च विद्वाव, साधनान्वेव भर्तृतत्कुलात् पितृमातृतत्कुलात्
लब्धस्यान्वाधिवसंज्ञा किमिति न कृतेत्याह दायामाह परिचयनसमयलब्धेति ।
अयं भावः अन्वाधिवसंज्ञावाक्तावत्तादृष्यऽप्रजः स्त्रीधने वक्ष्यमाणो भ्रातृधिकार
एव फलं परिचयनसमयलब्धे च न भ्रातृधिकारः ब्राह्मणादिपञ्चसु भर्तुः
आसुरादित्रिषु च पित्रोरेव तेषामभावे सोदरादेरेवाधिकारात् अतः संज्ञावा-
क्तासाधारण्ये प्रयोजनाभावः प्रत्युत तत्साधारण्ये तत्र भर्तृधिकारबोधकविशेष-
वचनेन भ्रातृधिकार वचनस्य विरोधप्रसक्त्या तस्य सङ्गीचो वाच्यः तथाच
प्रचालनाद्वि पदस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति न्यायेन तद्व्यावर्तनमेव संज्ञायाः
समुचितमिति । न च तथापि विवाहसमयादन्यत्रेत्येवीत्यतां किं परत इत्यादि-
पथ्यन्तेनेति वाच्यं तथा सति विवाहात् पूर्वं वाग्नानोतरं च पतिदत्तं भ्रातृधि-
कारापत्तेरिति ॥ १—४ ॥

एतद्व्याकुलं कात्यायनः ।

विवाहकाले यत् स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निमन्निधौ ।

तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥

यत् पुनर्लभते नारी नीयमाना हि पैटकात् ।

अध्यावाह्निकं नाम तत् स्त्रीधनमुदाहृतम् ॥ ५ ॥

पैटकादित्येकशेषेण पितृमातृकुलात् यत्नभते धनं भर्तृ-
गृहं नीयमाना तदध्यावाह्निकम् ॥ ६ ॥

भर्तृदायो भर्तृदत्तं धनं भर्तृदायमनभिधाय मन्वा-
दिभिर्भर्तृदत्तस्याभिधानात् नारदेनापि भर्तृदत्तमनभिधाय
भर्तृदायस्याभिधानात् ॥ ७ ॥

तथा अन्यत्रापि भर्तृदः भर्तृदायप्रयोगो दृष्टः ।

यथा कात्यायनः ।

भर्तृदायं सृते पत्यौ विन्दते स्त्री यथेष्टतः ।

विद्यमाने तु संरघेत् क्षपयेत्कुलेऽन्यथा ॥ ८ ॥

अस्यार्थः, भर्तृदत्तं धनं भर्तरि मृते यथेष्टं विनियुञ्जीत
जौवति तु तद्वचेत् इदममुक्तहस्तताज्ञापनार्थम् ॥ ८ ॥

तथा व्यासवचनमपि भर्तृदेयपर्यन्तताज्ञापनार्थम् ।

यथा द्विसहस्रपरो दायः स्त्रियै देयो धनस्य तु ।

यच्च भर्ता धनं दत्तं सा यथा काममश्नुयात् ॥

द्विसहस्रपर्यन्तः स्त्रियै देयो नाधिकः केनेत्याकाङ्क्षायां
भर्तेश्च्युतमन्वेति न पुनरश्नुतकल्पना तथाच देय इति
ददातिर्मुख्यः स्यात् मृतपतिधने तु तावति पत्न्या एव
स्वामित्वात् गोणः स चान्यायः ॥ १० ॥

यच्च भर्तृदत्तं धनं तद्यथा काममश्नुयात् ।

अतोऽपुत्रस्य मृतस्य पत्युर्धने द्विसहस्रपर्यन्त एव पत्न्या
अधिकारो न सर्वत्रेति यदुक्तं तद्विद्विहिरनादेयम् ॥ ११ ॥

एतच्च विस्तरेण वक्ष्यते ॥ १२ ॥

एतदयथादिक् । दायपदस्य संक्रान्तसम्बन्धिधनपरत्वशङ्कामपनयति
भर्तेदाय इति । मत्वादिभिरिति । आदिना कात्यायननिष्पत्तिरियम् । तः
मनुकात्यायनाभ्यां दत्तञ्च प्रीतितः स्त्रियै इत्यनेन विष्णुना च अन्वाधेयमित्यर्थः
नेति भावः । तथाच तैः सहैक श्रुतिमूलत्वानुगोधात् दायपदं दत्तपरमिति
भावः । न च वैपरीत्यं बहुषु लक्षणाप्रसङ्गात् मनुस्मृतेर्बलवत्त्वाच्च । भर्तेदाय
भूत इति । अत्र मृतेऽविद्यमाने इत्यभिधानात् न संक्रान्तसम्बन्धिधनपरता ।
विन्यसेत् विनियुञ्जीत । लपयेत् स्यापयेत् । अन्यथा स्वयं रक्षणासामर्थ्यं ।
अन्यथा तद्धनेन वर्तनासम्भवे तत्कुले लपयेत् तत्कुलमाश्रित्य कालं गमये-
दित्यर्थ इति केचित् । केनेत्याकाङ्क्षायां केन देय इत्याकाङ्क्षायाम् । अश्रुत-
कल्पनेति । अननराधिकारिणा भ्रात्रादिना स्वयं सर्वं गृहीत्वा द्विसहस्र-
पणपर्यन्तं स्त्रियै दायी देय इत्यश्रुतभावादीनां कर्तृत्वकल्पनेत्यर्थः । एतच्चेति
मृतस्यापुत्रस्य पत्न्याः सर्वधनाधिकारित्वेत्यर्थः । वक्ष्यत इति । अपुत्रधनाधि-
कारनिरूपण इति शेषः ॥ ५—१२ ॥

आह याज्ञवल्करः ।

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्नुरपागतम् ।

आधिवेदनिकश्चैव स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १३ ॥

(याज्ञवल्कर २।१४४)

यच्च द्वितीयस्त्रीविवाहार्थिना पूर्वस्त्रियै पारितोषिकं धनं
दत्तं तदाधिवेदनिकम् अधिकस्त्रीलाभार्थत्वात्तस्य ॥ १४ ॥

तथा देवलः ।

वृत्तिराभरणं शुल्कं लाभश्च स्त्रीधनं भवेत् ।

भोक्त्री तत् स्त्रियमेवेदं पतिर्नाहृत्यनापदि ॥ १५ ॥

तथा व्यासः ।

विवाहकाले यत्किञ्चित् वरायोद्दिश्य दीयते । *

कन्यायास्तद्वनं सर्वमविभाज्यश्च बन्धुभिः ॥ १६ ॥

उद्दिश्येति कन्याया इदं भवत्वित्युद्दिश्य वराय यद्दानं न
पुनरेतदभिसन्धिं विनापीत्यर्थः अतएव विवाहकाल इति
प्रदर्शनार्थं न पुनरेतदेव प्रयोजकं दात्रभिसन्धिनिमित्तत्वात्
स्वत्वस्य । तथाच प्रामाणिकं वचनम् ।

यद्वत्तं दुहितुः पत्ये स्त्रियमेव तदन्वितात् ।

मृते जीवति वा पत्यौ तदपत्यमृते स्त्रियाः ॥

विवाहकाल इति न विशिनष्टि । अभिसन्धिस्तु दुहितृ-
न्वयाभिधानादेव लब्धत्वान्नोक्तः ॥ १७ ॥

आहति । स्त्रीधनमिति प्रागुक्तान्वयः । पित्रादिदत्तं विवाहात् पूर्वं
परती वा, विवाहकाले दत्तस्य अर्ध्याग्नपदेनैव प्राप्तिः । वृत्तिः यासांश्चादनाव-
शिष्टम् । शुल्कं वक्ष्यमाणम् । लाभः कृणादिवृद्धिः । वराय दानं वरदक्ष-
समर्पणम् । प्रदर्शनार्थं उपलक्षणमित्यर्थः । उपलक्षणत्वे हेतुमाह दात्रभौति ।

तथाचाभिसन्धेः स्वत्वजनकत्वस्यान्वयः कृतप्रतयोक्तविषये विवाहकालस्य सङ्कारि-
त्वकल्पने प्रमाणाभावोऽदृष्टकल्पनानौख्यं स्यादिति भावः । तदुपलक्षणं
वचनमपि प्रमाणायति तथा चेति । न विशिष्टा न विशेषणं दत्तवान् ॥ १३ ॥ १७ ॥

तदेवमव्यवस्थितसङ्ग्रहस्त्रीधनकीर्तनात् न षट्सङ्ग्रहा विव-
क्षिता किन्तु स्त्रीधनकीर्तनमात्रपराणि वचनानि । तदेव च
स्त्रीधनं यत्र भर्तृ तः स्वातन्त्र्येण दानविक्रयभोगान् कर्तुमधि-
करोति ॥ १८ ॥

तदिदं किञ्चित् सङ्क्षिप्याह कात्यायनः ।

प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः ।

भर्तुः स्वाम्यं भवेत् तत्र शेषन्तु स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९ ॥

अन्यत इति पितृमातृभर्तृकुलव्यतिरिक्तात् यत्तत्त्वं शिल्पेन
वा यदर्जितं तत्र भर्तुः स्वाम्यं स्वातन्त्र्यम् अनापद्यपि भर्ता
ग्रहीतुमर्हति, तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनमस्वातन्त्र्यात्
॥ २० ॥

एतद्व्यातिरिक्तधनन्तु स्त्रिया एव दानविक्रयाद्यधिकारात् ।

तदाह कात्यायनः ।

ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽश्रवा ।

भर्तुः सकाशात् पितृवर्त्ता लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥

सौदायिकं धनं प्राप्त्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते ।

यस्मात्तदानृशंस्यार्थं तैर्दत्तं तत्प्रजौवनम् ॥

सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्तितम् ।

विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥

सुदायसम्बन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् ॥ २२ ॥

स्थावरेऽपि भर्तृदत्तमात्रे स्त्रिया दानादानधिकारः ।

तदाह नारदः ।

भर्ता प्रीतेन यद्वत् स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत् ।

सा यथाकाममश्नीयात् दद्याद्वा स्थावरादृते ॥

भर्तृदत्तविशेषणात् भर्तृदत्तस्थावरादृते अन्यत् स्थावरं
देयमेव भवति अन्यथा यथेष्टं स्थावरेष्वपीति विरुध्येत ॥२३॥

अव्यवस्थितसङ्गतिः । अनियतसङ्गतिर्यथः । मन्वाद्युक्तषड्विधादधिकस्यापि
शुक्लाभाददेवलादिभिरङ्कितत्वादिति भावः । पितृमातृभर्तृकुलेति । पितृमातृ-
भर्तारः सन्ध्यायिनी यस्मिन् कुले इति बहुव्रीहिः अन्यथा लब्धं भर्तृकुलात्तद्व्यव-
भर्तृकुलादिपदात् भर्तादिपरिग्रहो न स्यात् । अनापद्यपीति । तथाप्युक्त-
हविषस्त्रीधने भर्तृरिच्छेव स्वत्वजनिका पत्नीस्वत्वनाशिका च, तदन्यस्त्रीधने
। भर्ता आपत्कालोऽपेक्ष्यत इति भावः । स्त्रिया अपि धनं स्त्रीस्वत्वात्पदभूत-
तपि धनं न स्त्रीधनं नेतरनैरपेक्ष्य स्त्रिया यथेष्टविनियोज्यम् । अस्वाङ्गान्ना-
दति । एतच्च भार्यापुत्रस्येत्यादिना प्रतिपादितमेव प्राक् । स्त्रिया एवेति ।
स्त्रीणां स्वातन्त्र्येण विनियोज्यं स्त्रीधनमित्यर्थः । तथा च कात्यायननैकवाक्य-
तया भार्या पुत्रस्येत्यादिवचनमप्युक्तशिल्पलब्धादिहविषस्त्रीधनविषयमेव स्त्रीधना-
नरे तु स्त्रीणां स्वातन्त्र्येण यथेष्टविनियोगो निष्पत्स्य एवेति भावः । अत्र सवाद-
त्तदाहति । आनुश्रवणार्थम् अनुकम्पार्थम् । न चैवं शुक्लाभयोरसौदायि-
त्वात् तत्रास्वातन्त्र्यं स्यादिति वाच्यं पूर्वोक्तकात्यायनवचनेन अन्यतो लब्धः
शिल्पलब्धस्य च हयोरैवास्वातन्त्र्यप्रतिपादनेन एतयोरपि स्त्रीधनगृह्यपठितयोः
स्वातन्त्र्यावगमात् । स्थावरेष्वपीति यदुक्तं तस्यापवादमाह स्थावरैऽपीति ।
न्यथेति । स्थावरमात्रे दाननिषेध इत्यर्थः ॥ १८—२३ ॥

भर्ता तु यदा दुर्भिक्षादौ स्त्रीधनं विना वर्तनान्नमस्तदा
रहीतुमर्हति नान्यदा । यदा यान्नवत्क्षयः ।

दुर्भिक्षे धर्मकार्यं च व्याधी सम्प्रतिरोधके ।

गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥

(यान्नवत्क्षय २।१४८)

अन्यत्र पुनरधिकारमाह कात्यायनः ।

न भर्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च ।

आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः ॥

यदि ह्येकतरस्त्वेषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात् ।

स वृद्धिं प्रतिदाप्यः स्वादृणञ्चैव समाप्नुयात् ॥

तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत् प्रीतिपूर्वकम् ।

मूलमेव तदा दाप्यो यदा स धनवान् भवेत् ॥

अथ चेत् स द्विभार्यः स्यात् न च तां भजते पुनः ।

प्रीत्या विसृष्टमपि चेत् प्रतिदाप्यः स तद्बलात् ॥

यासाच्छादनवासानामुच्छेदो यत्र योषितः ।

तत्र स्वमाददौत स्त्री विभागं रिक्थिनां तथा ॥ २४ ॥

स्त्रिया धनं गृहीत्वा यद्यपरभार्यया सह वसति ताञ्चाद-
जानीते तदा गृहीतधनं राज्ञा बलाद्दाप्यः भक्ताच्छादना-
दिकं यदि भर्ता न ददाति तदा तदपि स्त्रिया आकृष्ट-
ग्राह्यम् ॥ २५ ॥

इति स्त्रीधनलक्षणम् ॥ २६ ॥

तदेति । तदैवेत्यर्थः । सम्प्रतिरीषके ऋणार्थमुत्तमर्थेन कृते स्नानभाजन-
श्वरगंधे । विसर्गे दाने । यासति । वासी गृहम् । तत्र स्वमिति । स्वको-
यासाच्छादनादीत्यर्थः । ऋक्थिनां स्वभर्तृसाधारणधनाधिकारिणां देवराटो-
सकाशात् विभागं स्वभर्तृयोग्यांश्चमाददौतित्यर्थः । केचित्तु ऋक्थिनां भद्राद-
सम्बन्धिनां सकाशात् स्वं विभागं यासाच्छादनादिरूपम् आददौतित्यर्थं दा-
याचकः तदसत् तत्र स्वमित्यनेनैव गतार्थत्वादिति ॥ २४—२६ ॥

चतुर्थः अध्यायः ।

द्वितीय परिच्छेदः ।

इदानीं स्त्रीधनविभागोऽभिधीयते । तत्र मनुः ।

जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्वे सहोदराः ।

भजेरन् मातृकं रिक्त्यं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १ ॥

(मनु ८।१६२)

इन्द्राश्रवणेऽपि तत्तत्कार्यकचकारेण भ्रातृभगिन्यो-
रितरेतरयुक्तयोर्विभागप्रतिपादनात् भगिन्यः सहोदराश्च
विभजेरन्नित्ययमेवास्य वचनस्यार्थः ॥ २ ॥

बृहस्पतिरपि चकारात् समुच्चयमाह ।

स्त्रीधनं तदपत्यानां दुहिता च तदंशनी ।

अप्रप्ता चेत्, समूढा तु न लभेन्मातृकं धनम् ॥ ३ ॥

अपत्यपदं पुत्रपरम् । तेषामप्रप्ताभिर्दुहितृभिः सह
मातृधनविभागः । तथाच शङ्खलिखितौ ।

समं सर्वे सोदर्या द्रव्यमर्हन्ति कुमार्यश्च ॥ ४ ॥

सर्वत्रैव प्रथमं पुत्रोपादानात् सर्वावस्थस्य पुत्रस्य मातृ-
धनेऽधिकारः चकारश्रुतिश्च सर्वत्रानुगता समुच्चयवाचिका ॥५॥

एतावताप्युद्ग्राहमल्लस्य देवलवचनं गलहस्तः । यथा,

सामान्यं पुत्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं स्त्रियाम् ।

अप्रजायां हरेद्भर्ता माता भ्राता पितापि वा ॥ ६ ॥

इह पुत्रकन्ययोः साधारणं मातृधनमिति सुव्यक्तं,
केवलकुमार्याः सकलमातृधनाधिकारित्वे यौतकधने विशेष-
वचनं मन्वादीनामनर्थकं स्यात् सर्वत्राधिकाराविशेषात् ॥ ७ ॥

इदानीं स्त्रीधननिरूपणानन्तरमित्यर्थः । सममिति । विंशोद्धारविधाय । भगिन्योऽदत्ताः, सनाभयः, सद्गोदराः । अत्र वचने हन्त्युतिर्नास्ति येनावगत-
साहित्यबलेन भगिनीभ्रातृर्युगपदधिकारः स्यात्, किन्तु क्रमेणैव तयोरधिकारः,
क्रमश्च न पाठिकः किन्तु प्रथमं भागिन्याः ततो भ्रातुरित्येवं रूपः मातृदुर्हि-
तरोऽभावे दुहितृणां तदन्य इत्यादि नारदादिवचनेषु बलवतः, शाब्दक्रमस्य
प्राप्तेरिति केषाञ्चिन्मतं तदपाकर्त्तुमाह हन्त्याश्रयणेऽपीति । तत्तुल्यार्थेति । चार्थे
हन्त्य इत्युक्तेहन्तसमानार्थता चकारस्य । पुत्रपरमिति । दुहितुः पृथगुपादानात्,
नपुंसकस्य चाधिकाराभावादिति भावः । सर्वावस्थस्येति । संस्कृतस्यासंस्कृतस्य
चेत्यर्थः । अत्र सद्गोदरपदाद्युपादानात् कन्यासत्त्वे दम्भादीनां नाधिकारः ।
दुहितृपेक्षया पञ्चमाद्यंशभागिता पुंजनवदिति केचित् । एतावतापि उक्त
क्रमेण युगपद्यावगमेनापि, उदयाह्निसमस्तस्य उदयाह्नीवादः स च चकारश्रुतिबलात्
न तयोर्विभागः सः । अत्र युगपदधिकारः त्रयोविधवपाकां चेत्यादाविव भिन्नकालोनयोरप्यक-
जातीयक्रियासम्बन्धमात्रेण तस्यान्तरितार्थत्वात् । अन्यथा पत्नीदुहितरर्थेत्यादौ
चकारश्रुतिबलेन पत्नीदुहित्वोर्वापि युगपदधिकारापत्तिरित्येवं रूपः, तत्र मल्लस्य
समर्थस्य, गलहस्तमन्त्रिवारक इत्यर्थः । तद्वचनमाह यथेति । अप्रजायामिति ।
प्रजा सन्ततिः । पुत्रदुहितृसपत्नीपुत्रपौत्रदौहितृप्रपौत्रसपत्नीपौत्रप्रपौत्ररहिताया
मित्यर्थः । सुन्यक्तमिति, सामान्यपदादिति शेषः । केवलकुमार्या इति,
भ्रातृसत्त्वेऽपीत्यादि विशेषवचनं वक्ष्यमाणम् ॥ १—७ ॥

यः पुनरेवं समाधानं ब्रूते भ्रातृभगिन्योस्तुल्यवज्जननी-
धनाधिकारित्वे समभागविधानं युक्तं, केवलभगिनीनां तद-
भावे च केवलभ्रातृणां धनसम्बन्धे समं स्यादश्रुतत्वाद्विशेष-
स्येति न्यायत एव समत्वप्राप्तेरनर्थकं सममिति । स एवं
वाच्यः भ्रातृभगिन्योरप्यधिकारे समं स्यादिति न्यायात्
समत्वप्राप्तेरविशेषादानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात् । किञ्च केवल-
भ्रातृधिकारपक्षेऽपि पितृधन इव, मातृधनेऽपि विंशो-
द्धारदिप्रसक्तिनिवर्त्तकतया समपदस्य सार्थकत्वात् कथ-
मनर्थकता । अतो वचनन्यायानभिज्ञः सर्वैः प्राज्ञैरवज्ञेय एव
किञ्चिज्ज्ञ इति ॥ ८ ॥

मनु भ्रातृभगिन्योरधिकारे भगिन्यपेक्षया भ्रातुरभ्यर्हितत्वेन विंशीद्वारप्रसक्तौ तन्निवर्तकतयैव समत्वविधानं सार्थकमिति यदि तदा केवलभ्रातृधिकारपक्षेऽपि तथैव सार्थकमिति कथमनर्थकतेत्याह किञ्चेति । वचनाभ्यायेति । वचनं सामान्य पुत्रकन्यानामिति, न्यायः किञ्चेत्यादिनीतयुक्तिः ॥ ८ ॥

किन्तुक्तादेव हेतोः पुत्रकुमारीदुहितोस्तुल्यवदधिकारः ।
एतयोश्चान्यतराभावेऽन्यतरस्य तद्वनं द्वयोरप्येतयोरभावे तु
ऊढाया दुहितुः पुत्रवत्याः सम्भावितपुत्रायाश्च तुल्योऽधिकारः
स्वपुत्रद्वारेण पार्वणपिण्डदानसम्भवात् ॥ ९ ॥

अतएव पूर्वोक्तदुहित्रभावे दौहित्रस्यैव धनाधिकारः ।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् (मनु ८।१३८)
इति मनुवचनात् न तु बन्ध्याविधवादुहितोः, स्वसत्तया
स्वजन्यसत्तया च पार्वणपिण्डदानाभावात् । अतएव नारदः ।

पुत्राभावे च दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् ॥ १० ॥

(नारद १३।५०)

पौत्रदौहित्रयोस्तु सङ्गावे पौत्रस्यैवाधिकारः, पुत्रेण परि-
णीता दुहितुर्वाधात् बाधकपुत्रेण बाध्यदुहितृपुत्रबाधस्य
न्याय्यत्वात् ॥ ११ ॥

उक्तानान्तु सर्वेषां दौहित्रपर्यन्तानामभावे बन्ध्याविध-
वयोरपि मातृधनाधिकारिता, तयोरपि तत्प्रजात्वात् प्रजा-
भावे चान्येषामधिकारात् ॥ १२ ॥

अन्यतरिति । भावीरिव तुल्याधिकारादिति भावः । ऊढाया इति ।
न पुनर्वक्ष्यमाणयौतकधनवत् कन्याया अभावे वाग्दत्तायास्तदभावे ऊढाया
इति क्रमः प्रमाणाभावादिति भावः । अतएव पार्वणपिण्डदानादेव । उप-
कारान्तरमपि हेतुमाह दौहित्रोऽपीति । स्वसत्तया साक्षात्, स्वजन्यसत्तया
स्वपुत्रद्वारेण, चीहितौ । यद्यपि पुत्रवतीनामपि स्वसत्तया पिण्डदानाभावः
अथापि दृष्टान्तार्थं तदुक्तिः । यतः स्वपुत्रद्वारेण तदुपकारतया दुहितृणां धना-

धिकारः अतएव नारदीन सन्तानदर्शनं दुहितृधिकारे हेतुतया निर्दिष्टमित्याह
अतएवेति । पत्रेणेति । एतेन यौतकधने दौहित्रस्यादावधिकारः सूचितः तत्र
पुत्रस्यैवोदावाध्यत्वादिति बोध्यम् । दौहित्रपर्यन्तानामिति प्रपौत्रपर्यन्तोपलक्षणं
दौहित्रानन्तरं महीपकारकत्वेन तस्यैवाधिकारात् । तथोरपौति एतेन पूर्वं
यस्यथोरनधिकारकथनं तदुक्तपर्यन्तसद्भावे श्रेयम् ॥ ६—१२ ॥

यत्तु दुहितृमात्राधिकारार्थं गौतमवचनं स्वीधनं दुहितृ-
णामप्रदानामप्रतिष्ठितानाञ्च (गौतम २८।२२) यच्च नार-
दस्य मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः (नारद १३।२)
यच्च कात्यायनस्य दुहितृणामभावे तु रिक्तं पुत्रेषु तद्ववेत् ।
यच्च याज्ञवल्करस्य मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः
(याज्ञवल्कर २।११८) तानि पूर्वोक्तदेवलादिवचनविरोधेन
यौतकद्रव्यविषयाणि । अतएव मनुः ।

मातुश्च यौतकं यत् स्यात् कुमारोभाग एव सः ॥ १३ ॥

(मनु ८।१३१)

यौतकं परिणयनलब्धं युमिश्रण इति धातोर्युत इतिपदं
मिश्रतावचनं मिश्रता च स्त्रीपुरुषयोरिकशरीरता विवाहाच्च
तद्वति अस्थिभिरस्थीनि मांसेर्मांसानि त्वचा त्वर्चमिति
श्रुतेः, अतो विवाहकाले लब्धं यौतकम् ॥ १४ ॥

अतएव वशिष्ठः ।

मातुः पारिणाय्यं स्त्रियो विभजेरन् । (वशिष्ठ १७।४०)

पारिणाय्यं परिणयनलब्धं धनम् ॥ १५ ॥

यौगपद्याधिकारे केवलकन्याधिकारबीधकवचनविरोधं परिहर्षुं तद्वचना
न्याह यस्त्विति । नन्वत्र विनिगमकाभावः देवलादिवचनानां यौतकविषयत्व
अनन्तरोक्तगौतमादिवचनानाम् अयौतकविषयत्वमित्यस्यापि सम्भवात् अत
मनुवचनैकमूलकत्वं विनिगमकमाह अत एवेति । यत एव केवलयौतक ए
प्रथमं कुमार्यधिकारः अतएव मनुना कुमार्यधिकारे यौतकपदमभिहितं

ऽभि भावः । अस्थिभिरिति । कन्यास्थिभिर्वरास्थीन्येकतामाप्नुवन्तीत्यर्थः एव-
मन्यत्रापि । यतो विवाहसमयस्तत्रमेव यौतकम् अतोऽत्र वशिष्ठेनापि पारि-
णायपदमुक्तम् अन्यथा मूलान्तरकल्पनापत्तेरित्याह अतएवेति । अतएव
पारिणायपदमपि विवाहसमयलक्षणपरमेव न तु कल्पतरुप्रभृतिभिरुक्तं यत्
रिक्तदादर्शकद्रुतिकादिरूपं पारिणाय्यं तत्परम् । तथात्वे शुक्तिभेदकल्पना-
भातात् परिणयशब्दस्य विनाष्टे रुदत्वाच्च ॥ ११—१५ ॥

यत्तु मनुवचनम् ।

स्त्रियास्तु यद्वेदित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन ।

ब्राह्मणी तद्धरेत् कन्या तदपत्यस्य वा भभेत् ॥

(मनु ८।१८८)

अत्र पित्रा दत्तमिति विशेषणात् विवाहसमयादन्यत्रापि
यत् पितृदत्तं तत् कन्याया एवेत्येतदर्थं ब्राह्मणीपदञ्चानु-
वादः । यद्वा ब्राह्मणीपदस्य चानर्थक्यभयात् क्षत्रियादि-
स्त्रोणामनपत्यानां पितृदत्तं धनं सपत्नीदुहिता ब्राह्मणी
कन्या हरेत् न पुनरप्रजा स्त्रीधनं भर्तुरिति वचनावकाश इति
वचनार्थः । अन्यथा सकलवचनानामसामञ्जस्यं स्यात् ॥ १६ ॥

न च वाच्यं नारदादिभिर्दुहितुरभावे दुहितुः पुत्राणामेव
धनाधिकारो दर्शितः प्रत्यासन्नदुहितृपदेनैवान्वयपदस्यान्वया-
दिति यतो दुहितृपदस्य अन्यविशेषपरत्वेन जनकाकाङ्क्षित-
त्वात् ॥ १७ ॥

न जन्यान्तरेणान्वयपदोपात्तेन पुत्रेणान्वयः सम्भवति
समत्वात् । न चाधिष्ठानलक्षणयान्वयो वाच्यः मातृत्वयेनैव
सर्वेषां मुख्यत्वसम्भवात् मातृपदान्वये च दुहितृपदस्य
मुख्यत्वस्वीकारात् ॥ १८ ॥

न च तदन्वय इति तच्छब्दोपात्ताया दुहितुरन्वययोग्यता

वाच्या तच्छब्दस्यापि प्रकृतवाचितया दुहित्वरूपेणैवोप-
पादकत्वात् ॥ १८ ॥

किञ्च याज्ञवल्क्यवचने दुहितर इति पदं प्रथमान्तं
ताभ्य इति पदञ्च पञ्चम्यन्तम् अन्वयपदेन षष्ठान्तान्वययोग्येन
नान्वीयते किन्तु व्यवहितमपि मातुरित्वेवपदमन्वयि तदत्र
मातुरन्वये निश्चिते नारदकात्यायनवाक्येऽपि मातुरेवान्वयो
न्याय्यः अविरोधात् ॥ २० ॥

विवाहसमयादन्यत्रापीति । तथाच पित्रा दत्तं यौतकमयौतकं वा
तत् सर्वं कन्याया एवेत्येतद्विधनार्थमेतद्वचनं मातुश्च यौतकं यत् स्यादिति
पूर्ववचनान्तु यौतकसामान्यं कन्यामात्राधिकारार्थमिति नान्यतरवैयर्थ्यमिति
बोध्यम् । कन्याया एवेति । एवकारेण पुत्रनिरासः । ब्राह्मणीपदस्यानु-
वादत्वं वैयर्थ्यमाशङ्क्य यदेति । न च ब्राह्मणीकन्याया अधिकारावगमात्
स्त्रीपदं ब्राह्मणीपरमस्तु चत्विधादिपरत्वे कन्यापदस्यामुख्यतापत्तेरिति वाच्यम्
अनूढत्वेनैव कन्यापदस्य सपत्नीकन्याबोधकतया अमुख्यत्वाप्रसक्तेः तदुपेक्षे
कन्यापदस्य शक्तेः । आनर्थक्यभयादिति । न च आनर्थक्यभयात् परिसङ्गो-
वास्तु तथाच ब्राह्मणी एव हरेत् नान्येति परिसङ्गाया चत्विधादेः पित्रदत्तयौतके
सत्यामपि कन्यायां पुत्राणां वा अधिकार इति वाच्यं स्वार्थस्यान्वादिदोषवशात्पक्षे
एतदपेक्षया कन्यापदस्य सपत्नीकन्यापरत्वस्यैव न्याय्यत्वा-
दिति । ब्राह्मणीपदमुत्तमजातिमात्रं न न वैश्याया अपि तथाविधया
पित्रदत्तं धनं चत्विधा गृह्णीयादिति श्रुत्याभ्याख्यानं, तत् प्रमाणाभावा-
दुपेक्षणीयमिति । अन्यथेति । पूर्वाभ्याख्याने इत्यर्थः । सकलवचनानामिति ।
पित्रदत्तसाधारणायौतकधनसामान्ये कन्यापुत्रयोस्तुल्यवदधिकारबोधकवचना-
नामित्यर्थः । नारदादिवाक्ये अन्वयपदं सन्निहितत्वात् दुहित्वन्वयि दौहित्व-
परं, तथाच सत्यपि पुत्रे दुहित्वभावे दौहित्वस्यैव यौतकधनाधिकार इति
केषाञ्चिन्मृतमपार्क्यमाह न च वाच्यमिति । अन्यविशेषेति । विशेषः स्त्रीरूप-
जनकाकाङ्क्षितत्वात् जनकमात्राकाङ्क्षितत्वात् जन्यसर्वापस्थितनिराकाङ्क्षितत्वा-
दिति यावत् । अन्यान्तरेण जन्यतथोपस्थितेन । तथोपस्थितिं समर्थयति
अन्वयपदोपपत्तेनेति । पूर्वोक्तपूर्वोक्तविशिष्टसत्त्वरूपयोः साध्यत्वसाधनत्वयो-
र्विरोधेन एकस्मिन् धर्मिस्त्वैकदा तदुभयबोधोपपत्त्यादिति भावः । अन्वयपद

यापि दुहित्वन्ये निराकाङ्क्षत्वमाह समत्वादिति । इयोरिव जनकमात्र-
माकाङ्क्षतया तुल्यत्वादित्यर्थः । अविज्ञानेति । जन्यत्वांशमपेक्षाय दुहित्वपदस्य
स्त्रीत्वं, अन्यपदस्य च पुंस्त्वं रूपेण लक्षणेत्यर्थः । अन्यथी वाच्य इति ।
जन्यत्वेनानुपस्थित्या परस्परनिराकाङ्क्षत्वविरहादिति भावः । सर्वेषामिति ।
दुहित्वपदान्वयपदकात्यायनोक्तपुत्रदानमित्यर्थः । मुख्यत्वस्वीकारादिति । तथाच
मातृत्वव्याप्ये मुख्यस्य दुहित्वपदस्य अन्यपदार्थान्वयार्थे न पुनर्लक्षणा, युग-
पदवृत्तिद्वयविरोधादिति भावः । तच्छब्दोपात्ताया इति । तदा बुद्धिस्थित्व-
नैवोपस्थिताया इत्यर्थः । दुहित्वरूपेणेति । तथाच तदाद्विषेशरूपेणैव
बोधकत्वं न बुद्धिस्थित्वसामान्येति निराकाङ्क्षत्वं तदवस्थमिति भावः । नन्वन्य-
पदार्थस्य मातृत्वेनान्वयं तत्पदवैयर्थ्यं न च तत्पदीपस्थिताया एव मातृ-
त्वार्थो वाच्यः मातृविशेषणत्वेनाप्रधानतया तदा, परामर्शभावात् तदादोना
विशेष्यपरामर्शसौकर्यकत्वात्, तथाच प्रधानीभूतदुहितुरेव परावृष्टाया अन्य-
नान्वयो वाच्यः, न च जन्यत्वेनोपस्थिताया दुहितुर्जनकत्वान्वये विरोधः, एक-
निरूपितजन्यजनकतयोरैकस्मिन् धर्मिणि विरोधेन भानानभ्युपगमात् इह तु
मातृपक्षेन जन्यत्वम्, अन्यपदार्थापेक्षया जनकत्वं दुहितुरिति निष्पन्नकृत्वा, तदा
यतएव दुहितृत्वैव ये पुत्रा दौहित्वान् प्रकीर्तिता इत्यादिवचनेषु दुहितृ-
त्वा इति सङ्गच्छते, इत्यत्रात्र दुहित्वन्ये निर्णयति तदेकश्रुतिमूलतया यत्र
नान्यदं नास्ति तत्रापि वचने दुहित्वन्य एव वाच्य इत्यत्र आह किञ्चेति ।
कल्पति । षष्ठान्तमुपेत्य षष्ठान्तविपरिणामेन नान्वयो गौरवादिति भावः ।
अविरोधादिति । एकश्रुतिमूलत्वं विरोधादित्यर्थः ॥ १६—२० ॥

किञ्च सत्स्वङ्गजेषु तन्नामो ह्यर्थो भवतीति बोधायन-
वचनानुसारेणानन्तर्याञ्च अङ्गजस्य पुत्रस्याधिकारो न्यायो
नानङ्गजस्य व्यवहितदौहित्वस्याधिकारः ॥ २१ ॥

ततश्च परिणयनलब्धस्त्रीधनं दुहितुरेव न पुत्राणां तत्रैव
च क्रमार्थं गौतमवचनं स्त्रीधनं दुहितृणामप्रदानाप्रति-
ष्ठितानाञ्च ॥ २२ ॥

प्रथममप्रदानां, तदभावे प्रदानां, तदभावे च समूहानां,
स्त्रीधनं दुहितृणामिति सामान्यतः प्राप्तत्वात् अप्रदाना-
मित्यादेस्तु क्रमार्थत्वेनोपसंहारार्थत्वात् ॥ २३ ॥

तथा च याज्ञवल्क्यः ।

अप्रजा स्त्रीधनं भर्तृर्ब्राह्मादिषु चतुर्थपि ।

दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत् ॥ २४ ॥

(याज्ञवल्क्य २।१४६)

ब्राह्मादिषु विवाहेषु यज्ञधनं अग्न्यग्निधनं स्त्रियाः तत्तस्यां
सृतायां प्रथमं दुहितृणामेव तत्रापि प्रथमं कन्यायास्तदभावे
प्रत्तायास्तदभावे परिणौतायाः, सर्वदुहितृभावे च पुत्रस्याधि-
कारः, अप्रजः स्त्रीधने भर्तृरधिकारात् ॥ २५ ॥

द्वहस्यतिना तु अप्रत्तापदेन अप्रत्ताद्यभावे समूदाया
अप्यधिकारः सूचितः ॥ २६ ॥

ननु तथापि नारदवचने मातृत्वये तत्पदवैयर्थ्यापातात् वरं याज्ञवल्क्यवचने
षष्ठान्तविपरिणामेन दुहितृरेवान्वयोऽन्याथ इत्यत आह किञ्चेति । तथाच
बोधायनस्य सङ्कोचकल्पनं याज्ञवल्क्योक्तषष्ठान्तविपरिणामेनान्वयकल्पनं चापेक्ष्य
तत्पदस्यानुषङ्गप्रयासनिरामार्थम् अनुवाद एव न्याय्य इति भावः । यौतक
धनं सर्वावस्थदुहितृणामेव तदभावे पुत्रस्य इत्युपसङ्हरति ततश्चेति । न
प्राणामिति, दुहितरि सत्यामिति शेषः । तत्रैव दुहितृधिकारविषय एव
क्रमार्थं कुमारीणां वाग्दत्तानामूदानाच्च क्रमेणाधिकारार्थम् । प्रथममिति ।
अप्रत्ता अवाग्दत्ता, प्रत्ता वाग्दत्ता । अकारलभ्यार्थमाह समूदानामिति ।
ननु युगपदेवाप्रत्तादीनामधिकारस्य वचनार्थत्वसम्भवात् कथं क्रमकल्पनेत्यत आह
दुहितृणानिमौति । क्रमार्थत्वेन क्रमिकाधिकारत्वेन यः सामान्यप्राप्ताधिकारस्य
उपसंहारी बोधस्तद्रूपार्थवत्त्वात् तत्प्रयोजनवत्त्वादित्यर्थः उपसंहारोऽर्थो यस्येति
बहुव्रीहिणा उक्तार्थत्वाभात् । उपसंहारसमर्थत्वादिति पाठे सम्यगर्थः प्रयो-
जनं यस्येति पूर्वोक्त एवार्थः । तथाच प्रथमं कुमार्यास्तदभावे वाग्दत्तायाः
समीपत्वेन तस्या ऊदापेक्षया बलवत्त्वात् तदभावे समूदायाः तत्रापि पुत्रवती-
सम्भावितपुत्रयोः तदभावेऽन्यस्या इति क्रमः । न च अकारयुतेरप्रत्तादीनां
युगपदधिकारो रत्नाकरसम्प्रती युक्त इति वाच्यं, मातुष यौतकं यत् स्यात्
कुमारीभाग एव स इति मनुवचने निरपेक्षकुमारीभागश्रवणात् एवकार-
श्रवणाच्च कुमारीमात्राधिकारावगमात् तत्सुख्योपकाराभावे न्यायविरोधाच्च ।

क्षामान्येन प्राप्तिर्याज्ञवल्कावचनादपीत्याह तथेति । ब्राह्मादिषु चतुर्षु ब्राह्मण
मह पचसु विवाहेषु भर्तुः, श्रेष्ठेषु आसुरादिषु पित्रगामि प्रसूता चेत् तदा
दुहितृणामर्थात् सर्वत्रेत्यर्थः । प्रथमं कन्याया इति । पूर्वोक्तवचनेकमूलत्वा-
दिति भावः । न चात्र दुहितृपदं दौहित्री परम् अन्यथा मातुर्दुहितरः श्रेष्ठ-
मित्यनेन प्रौढकन्यापत्तेरिति मितारोक्तं युक्तमिति वाच्यं मातुर्दुहितर
इत्यस्याध्यग्रिविषयत्वेनोपसंहारकतया तदतिरिक्तपरिषयनलब्धविषयतया च
तस्यापुनरुक्तत्वात् । तस्य च ऋणावशिष्टरूपविशेषायानन्तरमन्यथाधिकाराय
च सार्थकत्वात्, तद्वचनं कन्याधिकारार्थम् इदन्तु समूदाधिकारार्थमित्यपुनर्भाक्ता-
रिति केचित् तदसत् उभयत्रैव दुहितृपदमात्रश्रुतेरविशेषादुभयाधिकारस्यैक-
त्वं सिद्धेरपरवचनवैयर्थ्यस्य दुष्परिहारत्वात् । दुहितृणामिवेति । नत्वयौतक-
जनवत् पुत्रदुहितोरित्यर्थः । ननु वचनबलात् दुहितृभाव एव भर्तुरधिकार-
यसिः कथमन्तरापुत्रस्याधिकार इत्यत आह अप्रजा स्त्रीधन इति । ननु गौतम-
वचनात् यौतकधने समूदापर्यन्तानां दुहितृणामधिकारोऽस्तु अयौतके न
तौधनं तदपत्यानां दुहिता च तदर्शिनौ । अप्रजाचेत् समूदा तु न खभेन्मात्रकं
जनमिति वृहस्पत्युक्तेन समूदानां भर्तादिसत्त्विऽधिकारः स्यादित्याशङ्कायां तद्वचन-
शेवार्थविवेचनेन तत्र समूदाधिकारे प्रमाणमाह वृहस्पतिनेति । अप्रजापद-
रिति । अप्रजायं भावः । अप्रजापदं न दुहितृविशेषणपरं समूदानिर्घषेनैव
दुहितरप्रकृतत्वाभात् किन्तु अप्रजा चेदर्यादस्ति तदा समूदा न खभेदित्येवार्थः
तथा चाप्रजाभावे समूदाधिकारो वृहस्पतिना प्रतिपादित इति । अप्रजाया
दुहितरधिकारितायां पुत्र समत्वात् अप्रजाभावे प्रतिपादिते अर्थात् पुत्राभावोऽपि
प्रतिपादित इत्येतदुक्तम् अप्रजायभाव इति ॥ २१—२६ ॥

न च यौतकमात्रधनाभिप्रायेण नेदं वचनं किन्तु
ब्राह्मादिविवाहेन विवाहिताया यद् यावद्धनं यौतकमयौतकं
वा तदभिप्रायेणेति वाच्यं बभ्रुदत्तामतिवचनस्य (याज्ञवल्क्य
२।१४५) निर्विषयतापत्तेः मनुविरोधाच्च ।

यदाह ब्राह्मदैवार्पणान्धर्वं प्राजापत्येषु यद्धनम् ।

अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।

अतीतायामप्रजायां मातापित्रोस्तदिथते ॥

(मनु ८।१८६—१८७)

अस्याः स्यादुत्तमिति पराचीनं पूर्ववानुषज्यते तेन
विवाहेषु यद्धनं दत्तमिति सम्बन्धात् वैवाहिकधनमात्रप्रतीते
न यावद्धनविषयम् ॥ २७ ॥

तथा यमः ।

आसुरादिषु यद्व्यं विवाहेषु प्रदीयते ।

विवाहक्रियायां पूर्वापरीभूतायां यद्व्यं प्रदीयत इति
यौतकधनमात्रगोचरत्वमेव प्रतीयते ॥ २८ ॥

न च विवाहात् पूर्वं परतो वा स्त्रिया लब्धस्याप्रजः
स्त्वौघ्नस्य गतेरश्रूयमाणत्वात् ब्राह्मादिपटं स्त्रीपरमिति
वाच्यं पूर्वापरलब्धस्य विस्तरेण गतेर्वश्यमाणत्वात् ॥ २९ ॥

ब्राह्मादिविवाहेन भार्यात्वं प्राप्ताया यावद्धनगोचरमेव वचनमिति मित्ता-
दरीक्तमपाकृतमाशङ्कते न चेति । नेदं वचनमिति । अप्रजः स्त्रीधनं भर्तु-
रिति याज्ञवल्कावचनमित्यर्थः । वस्तुदत्तमिति वचनस्येति । वस्तुदत्तं तथः
शुल्कमन्वाधेयकमेव च । अप्रजायासतीतायां वासवास्तदवाप्नुयुरिति वक्ष्यमाण
वासवपदीपात्तमात्रधिकारबोधकवचनस्येत्यर्थः । निर्विषयेति । तत्राद्यनेन वच-
नेन भवन्मते भर्तृधिकारसिद्धिरित्याशयः । अथ तद्विरीधादस्त्रीत्वगवचनस्य
वस्तुदत्तशुल्केतरविवाहपूर्वसमयसम्बन्धविवाहोत्तरपुत्रादिदत्तविषयत्वमस्त्वित्यत आह
मनुविरीधाद्येति । अनुषज्यत इति । न तु प्राजापत्येव इत्यनन्तरं भार्यात्वं
प्राप्ताया इत्यध्याहारीऽनुषङ्गापेक्षया तस्य गुरुत्वादिति भावः । एवञ्चेतदेक-
वाक्यतया याज्ञवल्कावचनेऽपि दत्तमित्यस्यैवाध्याहारी युक्ती न तु भार्यात्वं
प्राप्ताया इत्यस्येति भावः । न यावद्धनविषयत्वमिति । यौतकेतरधने भर्तु-
मत्वेऽपि मातृवाधिकारस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । विवाहक्रियायामिति ।
पूर्वापरीभूतायां उद्विशाद्वाधिसप्तपदीगमनपर्यन्तायामित्यर्थः ॥ २७—२९ ॥

चतुर्थः अध्यायः ।

तृतीय परिच्छेदः ।

सम्प्रति अप्रजःस्त्रीधनाधिकारिणः कथ्यन्ते ॥ १ ॥

तत्र याज्ञवल्क्यः ।

अप्रजास्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्विधि ॥ २ ॥

(याज्ञवल्क्य २।१४६)

ब्राह्म आदिर्येषां चतुर्णां ते दैवार्धप्राजापत्यगाम्भर्वाश्च-
ारो ब्राह्मेण सह पञ्च भवन्ति । ब्राह्मदैवार्धगाम्भर्वप्राजा-
पत्येष्विति (मनु ८।१८६) मनुना पञ्चानामुक्तत्वात् तेषु
विवाहेषु वर्त्तमानेषु यद्धनं स्त्रिया लब्धं तदप्रजायामतीतायां
भर्तुरेव भवतीति । प्रजा सन्ततिः ॥ ३ ॥

न पुनर्ब्राह्मादिना परिणीताया यत् यावद्धनं विवाहात्
पूर्वं परतो वा तया लब्धं तत् सर्वं भर्तुरिति व्याख्यानं युक्तं
ब्राह्मादिष्विति कालार्थत्वात् निर्देशस्य ब्राह्मादिपदानां
स्त्रीपरत्वे एकत्वेन षष्ठ्या च निर्देशः स्यात् यत्तस्याः स्यादिति
स्त्रिया एकत्वेन षष्ठ्या च निर्दिष्टत्वात् । विवाहकाले
लक्षणायाञ्च वर्त्तमानसम्बन्धेन लक्षणा स्यात् स्त्रीपरत्वे
चातिक्रान्तविवाहक्रियासम्बन्धेन लक्षणा जघन्या सा
चायुक्ता, न च विवाहितस्त्रीवाचकत्वं ब्राह्मादिपदानां तत्त-
लक्षणविवाहपरत्वेन मन्वादिभिर्निर्दिष्टत्वात् । तदाह मनुः ।
अष्टाविमान् समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधतेत्युपक्रम्य ब्राह्मो
दैवस्तथैवार्धः प्राजापत्यस्तथासुर इत्यादि । (मनु ३।२१)

तथा नारदः ।

अष्टौ विवाहा वर्णानां संस्कारार्थं प्रकीर्त्तिताः ।

ब्राह्मस्तु प्रथमस्तेषामित्यादि ॥ (नारद १२।३८)

तथा विष्णुः ।

अष्टौ विवाहा भवन्ति ब्राह्मो देव इत्यादि ॥ ४ ॥

(विष्णु २४।१८)

अतो विवाहकाललब्धस्त्रीधनविषयं ब्राह्मादिवचनमिति
विश्वरूपोक्तमादरणीयम् ॥ ५ ॥

द्रष्टव्यं नारदाह विवाहकाले लक्षणायांमिति । वर्त्तमानसम्बन्धेनति ।
वर्त्तमानः कालस्तत्र विवाहस्य यः सम्बन्धोऽधिकरणत्वं तद्रूपेण लक्षण-
स्यादित्यर्थः । अतिक्रान्ति । अतिक्रान्ता या विवाहक्रिया तत्सम्बन्ध-
तज्जन्यसंस्कारवत्त्वरूपेण । जघन्येति । विवाहाधिकरणकालत्वापेक्षया तज्जन-
संस्कारवत्त्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकस्य गुरुवादिति भावः । उपलक्षणं चेत् काल-
परत्वं लक्षणा निरुद्धा, स्त्रीधनत्वं पुनराधनिकौ तस्य तद्वनस्य तद्दानस्य चाधारत-
वाधोऽपीति द्रष्टव्यम् । केचित् अतिक्रान्तिं अतीत इत्यर्थः अतीतत्वं हि
वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगित्वं तथाच वर्त्तमानकाललक्षणापेक्षयाऽतीतविवाहक्रिया-
सम्बन्धेन लक्षणायां ध्वंसप्रतियोगित्वरूपाधिकपदार्थप्रवेशेन गौरवादिति भाव-
इत्याहुः । ब्राह्मादिपदानां स्त्रीषु लक्षणासंसृष्टमान इत्याहु न चेति । स्त्रीवाचक-
त्वमिति । दारादिपदवत् नियतपुंलिङ्गत्वमेषामित्याशयः ॥ १—५ ॥

आसुरादिविवाहसमयलब्धन्तु स्त्रीधनं जीवत्यपि भर्त्तरि
माता गृह्णीयात्, तदभावे पिता, मातापित्रोस्तदिष्यत
इत्यत्र क्रमावगतेः युगपदधिकारं पितोरित्येवाभिदध्यात्
कन्याधनं च मातुरभावे पितुरधिकारश्रवणात् अत्रापि
तथात्वस्यैवोचितत्वात् ॥ ६ ॥

तथा बौधायनः ।

रिक्त्वं मृतायाः कन्याया गृह्णीषुः सोदराः स्वयम् ।

तदभावे भवेन्मातुस्तदभावे भवेत् पितुः ॥ ७ ॥

तदर्नेन कन्याधनं व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

न च कन्याधन इवात्रापि प्रथमं भ्रातृधिकारः स्यादिति
वाच्यं वचनाभावात् मातापितोरैवाधिकारश्रुतेः ॥ ९ ॥

माता गृह्णीयादिति । एवञ्च शेषेषु पितृगामि तदिति याज्ञवल्कावचने
पितृपदे एकशेषो द्रष्टव्यः । यद्यपि धनसम्बन्धस्य प्रत्येकपरिसमाप्तत्वेन साहित्या-
मभवेऽपि पाणिभ्यान्पसगृह्यत्यादाविव हन्वन्नात् सङ्कल्पप्रतीतौ युगपद्वर्णाधिकार
एव प्रतीयते तथापि पितोरित्यनेनापि तद्यार्थसिद्धेमातापितोरिति यत् क्रमाभि-
धानं तन्मातुरभावे पितुरिति क्रमिकार्थमेवेत्याह युगपदिति । पितोरिति ।
मरुदुच्चरितपितृपदस्य जनकत्वेन लक्षणेन युगपदुभयोपस्थितिसम्भवादिति
भावः । ननु लक्षणाया प्रमाणाभावात् अत्रापि प्रातिपदिकपितृपदात् प्रथम
जनकत्वस्य पक्षे नोपस्थितौ पश्चात् द्विवचनापनीतहित्वात्नयानुपपत्त्येवैकशेष-
कल्पनया मातृरूपस्थितिरिति क्रमाभिधानमभ्यर्थ्य अतएव पितरौ भ्रातरौ-
र्थात् याज्ञवल्कावचने अनर्थेव रोत्या पितृक्रमावगमं वक्ष्यतीति चक्षेवं पितरौ
भ्रातरौर्थात् तदभावे मातुरिति स्फुटक्रमाधिकारबोधकविशेषवचनादर्शनात्
जनकपक्षेऽपि पितृपदस्य तात्पर्यसमवधार्यते अनन्तरञ्च द्विवचनवर्त्तनेकशेषकल्प-
नया मातृरूपस्थितौ युक्तः क्रमाधिकारः इह तु तथाविधविशेषवचनाभावात्
हन्वन्नात्पत्यार्थविशेषपरित्यागे हन्वन्नात् हन्वन्नात् मातापितोरित्युक्तावपि क्रम-
काधिकारबोधकतथाविधवचनान्तराभावात् वाक्यावगतयुगपदधिकार एव कृतो
न स्यात् अतएव शेषेषु पितृगामि तदित्येकशेषेण युगपदाधिकार एव याज्ञ-
वल्कावचनेनीत इत्यत आह कन्याधन इति । अत्रापि । तथाच हन्वा
देकशेषाद्वा साहित्यावगमो न धनसम्बन्धापेक्षया तस्य प्रत्येकपरिसमाप्तत्वात्
किन्त्वभिधानापेक्षया युगपज्ज्ञानं शब्दानि षोडश इतिवत् क्रमिकयोरेपि
सम्भवतीति क्रमाधिकारः क्रमेण युगपदेत्याकाङ्क्षायांमेकत्रट्टेन्यायात् कन्याधनवत्
तथाविधाद्वाधनेऽपि क्रमणैवाधिकारः कल्प्यत इति भावः । तदर्नेनेति ।
न त्वेतिप्ररूपणं प्रकरणान्तरे पुनः करणीयमिति भावः । वाग्दानं मरणं तु
वरदत्तावशिष्टं वरो गृह्णीयात् । तथा याज्ञवल्क्यः । दत्त्वा कन्यां हरणं
दण्डो व्यर्थं दद्याच्च सीदरम् । मृतायां सर्वमादद्यात् परिश्राव्याभयव्ययमिति ।
तथा चार्हतीयनुवृत्तौ शङ्कः । स्वस्य शुल्कं वीदेति । वाग्दानकाले यद् दत्तं
दत्तं तत् तेनैव याज्यमिति सम्प्रदायः । अत्रापि यौतकधनेऽपि । ननु

वचनाभावेऽपि एकत्रदृष्ट्यायादेव तथा स्यात् अत आह मातापित्रोर्वेति ।
एव कारणेण भाटव्यवच्छेदः तथाचानेनैव तदधिकाराकाङ्क्षानिहनेन न्यायावसर
इति भावः ॥ ६—६ ॥

यत् पुनः परिणयानन्तरं पितृमातृभर्तृकुलात् स्त्रिया
लब्धं धनं तद्भातृणामिव । तदाह याज्ञवल्करः ।

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।

अप्रजायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥ १० ॥

(याज्ञवल्कर २।१४५)

बन्धुदत्तमिति मातापितृभ्यां यद्वत्तम् अतएव तत्पुत्राश्च
भ्रातरो बान्धवाः ॥ ११ ॥

तदाह बृहकात्यायनः ।

पितृभ्याञ्चैव यद्वत्तं दुहितुः स्थावरं धनम् ।

अप्रजायामतीतायां भ्रातृगामि तु सर्वदा ॥

अप्रजस्त्वमात्रनिमित्तत्वेन भ्रातुरधिकारावगतेः ॥ १२ ॥

सर्वदापदेन ब्राह्मादिपैशाचान्तविवाहिताया अप्रजसो
धनं भ्रातृगाम्येव भवतीति विश्वरूपोक्तमादरणीयम् ॥ १३ ॥

स्थावरपदाङ्गणपूपन्यायादेवापरस्य धनस्य सिद्धिः ॥ १४ ॥

बन्धुदत्तपदेन कन्यादशायां यत् पितृभ्यां दत्तं तदुच्यते
विवाहात् परतो लब्धधनस्यान्वाधेयपदेनोपात्तत्वात् विवाह-
कालीने च भर्तुः पितृर्वाधिकारात् ॥ १५ ॥

पितृमातृभर्तृकुलादिति । अन्वाधेयपदार्थ उक्तः । भ्रातृणामेवेति । न
पुनर्भर्तुः पितृर्वैत्यर्थः । वचनक्रमानुरोधात् प्रथमं बन्धुदत्तमिति व्याचष्टे बन्धु-
दत्तमिति । कन्यादशायामित्यनुपदमेव वक्ष्यति अतएव वक्ष्यमाणवचनैक
वक्तृतया पितृर्वन्धुपदार्थत्वादेव भ्रातरो बान्धवा इति बन्धोरपत्यानीति
योगादिति भावः । बन्धुपदबान्धवपदयोरेकार्थत्वे प्रमाणमाह तदाहिति ।

अप्रजस्वमावनिमित्तत्वेनेति । अतः कन्याया अपि अप्रजस्वाविशेषात् तद्विषय-
त्वमन्वतमिति बन्धुदत्तपदेनेत्यादिवक्ष्यमाणशून्यसङ्कतिरिति । अतो राजमादौ
एतन्नामावादिष्यादिवक्ष्यमाणपक्षनिर्णायोपपन्नकमाह सर्वदात ॥ १०—१५ ॥

अन्वाधेयमाह कात्यायनः ।

विवाहात् परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात् स्त्रिया ।

अन्वाधेयं तदुक्तन्तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा ॥ १६ ॥

भर्तृकुलात् श्वशुरादेः, बन्धुकुलात् पितृमातृकुलात् ॥ १७ ॥

तथापरमाह ऊर्ध्वं लब्धन्तु यत् किञ्चित् संस्कारात्
प्रोतितः स्त्रिया । भर्तुः सकाशात् पितृर्वा अन्वाधेयन्तु
तद् भृगुः ॥ १८ ॥

शुल्कमाह ।

गृहीपस्करवाह्यानां दोह्याभरणकर्मिणाम् ।

मूल्यं लब्धन्तु यत् किञ्चित् शुल्कं तत् परिकीर्तितम् ॥ १९ ॥

गृहादिकर्मिभिः शिल्पिभिस्तत्कर्मकरणाय भर्त्रादि-
प्रेरणार्थं स्त्रियै यदुक्तोचदानं तत् शुल्कं तदेव मूल्यं प्रवृत्त्यर्थ-
त्वात् ॥ २० ॥

व्यामोक्तं वा यथा ।

यदा नेतुं भर्तृगृहे शुल्कं तत् परिकीर्तितम् ॥ २१ ॥

भर्तृगृहगमनार्थमुक्तोचादि यद्वत् तच्च ब्राह्म्यादिष्व-
विशिष्टं तदेवमादिकमप्रजःस्त्रीधनं भ्रातरो गृह्णीयुः ॥ २२ ॥

न पुनरासुरादिषु विवाहेषु यत् कन्याभ्यः शुल्कदानं
तदभिप्रायम् आसुरमात्रगोचरत्वात् तच्छुल्कस्य । यथोक्त
याज्ञवल्क्येन, आसुरो द्रविणादानाहान्यर्वः समयान्निधः ।

राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाच्छलात् ॥ २३ ॥

(याज्ञवल्क्य १।६१)

प्राशुक्तमप्यन्वाधेयस्यातिव्यवहितत्वात् उपस्थितिसौकर्यार्थं पुनराह अन्वा-
धेयमाहति । अगुराहति शेषः । गृहीधस्करति । *उपस्करः कटककुण्डल-
हारादिः । मृपोदीति केचित् । वाह्यं वलीवर्दादि । गृहादिकर्मिभि-
रिति । गृहादिकर्मिभिः शिल्पिभिर्यद्गृहादिशिल्पकरणं तन्निमित्तशिल्पि-
रुपभर्तादिप्रेरणार्थमित्यर्थः । न च स्वयमेव स्त्रिया गृहादिशिल्पेन यन्मूल्यं
लभ्यं तत् कथं न व्याख्यातमिति वाच्यं तस्य प्राप्तं शिल्पेस्तु यद्विज्ञं प्रीत्या चैव
यदन्यतः । भर्तुः स्वायं भवेत्तत्र शेषस्तु स्त्रीधनं स्मृतमित्यनेन स्त्रीधनत्वनिरासात्
तत्र भर्तुरेवाधिकारान् बन्धुदत्तमिति वचनस्य च प्रकरणात् स्त्रीधनविषयत्वादित्य-
न्यथा व्याख्यातं भर्तादिप्रेरणार्थमिति । उल्कीचः कथं शुल्कं मूल्यस्यैव
शुल्कत्वादत्त आह तदेवेति । व्यासोक्तं वेति । वा समुच्चये । तक्षेति । एतेन
वक्तव्यमाणासुरादिविवाहप्राप्तशुल्कपरत्वाभावीऽस्य सूचितः । चण्डिश्चरादिपुरस्कृत-
प्राचीनमत दूषयति न पुनरिति । आसुरमात्रेति । तथाचासुरादौत्यादिना
राजसपेशाचयज्ञमसङ्गतमिति भानः । आसुरमात्रे शुल्कं नेतरयोरित्युक्ताधे-
प्रमाणमाह यथोक्तमिति ॥ १६—२१ ॥

अतो राजसादौ शुल्काभावात् शुल्कसाहचर्येणासुरादि-
खेव यद्धनं तन्मात्रस्य भ्रातृगामित्वाभिधानं हेयम् । तथा
तस्य स्त्रीधनत्वाभावाच्च पित्रादिगृहीतधनस्य च शुल्कत्वेन
कीर्तनात् । तथा मनुः ।

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमखपि ।

गृह्णन् हि शुल्कं लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥

(मनु ३।५१)

पितेत्युपलक्षणं तेन भ्रात्रादिरपि धनं गृह्णन् शुल्कग्राही
तेन पित्रादिगृहीतमेव परं शुल्कं भवतीत्युक्तम् ॥ २४ ॥

अतो यदुक्तम् आसुर एव शुल्करूपस्त्रीधनसम्भवात्
तदेकवाक्योपात्तयोर्बन्धुदत्तान्वाधेययोरप्यासुरविवाहगोचरयो-
रेव भ्रातुरधिकार इति निरस्तम् ॥ २५ ॥

किन्तूक्तशुल्करूपस्त्रीधनस्य सर्वविवाहेष्वेव सम्भवात् सर्व-
त्रैव भ्रात्रधिकारो वाक्यात् विशेषानवगमात् ॥ २६ ॥

तथा गौतमवचनमपि कात्यायनवचनसमानार्थम् । यथा
भगिनोशुल्कं सोदर्याणामूङ्मातुः पितुश्च पूर्वं चैके ॥ २७ ॥

(गोतम २८।२३)

अस्यार्थः प्रथमं सोदर्याणां तेषां पुनरभावे मातुः तदभावे
पितुः पूर्वञ्चैक इति परमतम् ॥ २८ ॥

शुल्कसाहचर्यादासुरादितिषु यद्वन्मुदत्तादिधनं तदेव भातृगामीति यत
केशिदुक्तं तदपि दूषयति अत इति । राक्षसादावित्यादिना पैशाचपरिग्रहः
तथाच तयोः शुल्काभावात् तस्माद्वर्त्येण तदुभयसम्बन्धिधनस्य भ्रातृगामि-
त्वाभिधानसमङ्गत्वा हेयमित्यर्थः । अथादिपदमपह्नाय आसुर एवेति वक्तव्य-
मित्यत आह तथेति । उपलक्षणमिति । कन्यादातृमात्रोपलक्षणमित्यर्थः ।
शुल्कसाहचर्यादिति यदुक्तं तस्य राक्षसादावादिपदयाह्यं शुल्काभावदोषेण
ह्यतीक्ता अधुना पुनरासुरमात्रीयं बन्धुदत्तादिधनं शुल्कसाहचर्यात् भ्रातृ-
गामीति मतं निरस्यति अत इति । यतः शुल्कं कन्यादातृरेव न कन्याया अत
इत्यर्थः । किन्तूक्तिः । गृहोपस्कर इत्यादिना यदानेतुमित्यादिना चोक्त्यर्थः
एषु शुल्कपरिभाषाया अप्येतदेव प्रयोजनं प्रयोजनान्तरस्यादृष्टत्वात् इत्यपि
बोध्यम् । वाक्यादिति । सामान्यत एव बन्धुदत्तमित्यादिवाक्यादित्यर्थः । विशेषा-
यवणात् आसुरादिविशेषायवणात् । कात्यायनसमानार्थमिति । पितृभ्रातृवै-
यद्वत्तमित्यादि कात्यायनसमानार्थमित्यर्थः । गौतमवचनमाह भगिनोशुल्क-
मिति । अत्र शुल्कपदेन पारिभाषिकशुल्कस्यैव शङ्ख शस्त्रीयपरिभाषाया
अन्तरङ्गत्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात् नतु मूल्यरूपस्येति भावः । परमतमिति ।
सोदरानन्तरं पितुः, तदनन्तरं मातुरिति, परमतमित्यर्थः ॥ २४—२८ ॥

अतः प्रथमं सोदराणां तदभावे मातुः मातुरभावे पितुः
एषां पुनरभावे तद्वन्नं भर्तुः । यथा कात्यायनः ।

बन्धुदत्तन्तु बन्धूनामभावे भर्तृगामि तत् ॥ २९ ॥

बन्धूनामभाव इत्यनेन भ्रातुरभाव इत्यपि सूचितं भ्रातुर-

भावे पित्रोरधिकारात् दण्डापूपन्यायात् तत्सिद्धेः ॥ ३० ॥

भर्तृपर्यन्ताभावे पुनरिदमुच्यते ।

यदाह वृहस्पतिः ।

मातुःस्वसा मातुलानी पितृव्यस्त्री पितृस्वसा ।

श्वश्रूः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

यदासामौरसो न स्यात् सुतो दौहित्र एव वा ।

तत्सुतो वा धनं तासां स्वस्त्रीयाद्याः समाप्नुयुः ॥ ३१ ॥

औरसपदेन पुत्रकन्ययोरुपादानं तयोः सर्वापवादकत्वात्
सुतपदेन च सपत्नीपुत्रस्य ।

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्रिणी भवेत् ।

सर्वास्त्रास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुरिति स्मृतः ॥

(मनु ८।३८१)

न तु सुतपदमौरसविशेषणं वैयर्थ्यात्, सपत्नीपुत्रसङ्गावेऽपि
स्वस्त्रीयाद्यधिकारापत्तेश्च ॥ ३२ ॥

औरसपुत्रकन्ययोः सपत्नीपुत्रस्य चाभावे दौहित्रस्याधि-
कारिता ॥ ३३ ॥

तत्सुत इति तच्छब्देन स्वपुत्रसपत्नीपुत्रयोरुपादानं तेन
तत्पुत्रयोरधिकारो न तु दौहित्रपुत्रस्यापि तस्य पिण्डदानं
वह्निर्भावात् ॥ ३४ ॥

स्वमतमुपसङ्हरति अतः प्रथममिति । तेषां भ्रातृमातृपितृणाम् । वस्तुदत्तं
मातापितृदत्तम् । भ्रातृभाव इति । भ्रातृभाव एव पित्रोरधिकारात् तयो-
रभावे भर्त्रधिकारे प्रतिपादिते भ्रातृभावे तदधिकारस्य दण्डापूपन्यायसिद्धत्वा-
दिति भावः । औरसपदेनेति । विशेषणौभूतलिङ्गपरित्यागेन कन्यापुत्रयोर्द्वयोरैव
प्रकृत्यर्थत्वादिति भावः । विशेषणीभूतलिङ्गपरित्यागे हेतुमाह तयोरिति ।
तथाच लिङ्गस्य विवक्षणे पृथगनन्तरकन्याधिकारविधिविरोधः स्यादिति भावः ।
एतच्च दक्षिमादेरप्युपलक्षणम् । सपत्नीपुत्रस्येति । तद्वगित्या अपीति बोध्यं

पुंसस्याविबन्धितत्वात् तस्या अपि सपुत्रहारेण तद्वर्गादिपुरुषत्रयपिण्डदातृत्वा-
दिति । सपुत्रीपुत्रस्याभावे दौहित्रस्याधिकारित्वयुक्तमेतत्, दौहित्रस्त्रीपदिष्ट-
प्रजात्वेन स्वभोग्यभर्तृपिण्डदातृत्वेन च प्रागधिकारस्यैवोचितत्वात् बभ्याविधवा
दद्विष्टसम्बन्धि प्राग्दौहित्राधिकारस्योक्तत्वात् अत्रौरसपुत्रकन्ययोरित्यविशेषित-
कन्यापदात्तदभावे दौहित्रस्याधिकार इति स्वीकृतविरोधाच्च । तस्मात् सपुत्रीपुत्र-
बभ्याविधवादुद्दिष्टां प्रागेव युक्ती दौहित्राधिकार इति बोध्यम् अतएव तत् सुत
इत्यत्रापि पाठक्रमो न यावत् पौत्रस्य बभ्यादिदुद्दिष्टसपुत्रीपुत्रदौहित्रेभ्योऽयौक्त-
धने प्रागधिकारस्योक्तत्वात् । न च दौहित्र एव वेत्येव एव वाशब्दाभ्यां जघन्य-
त्वावगमात् वाचनिक एव सपुत्रीपुत्रानन्तरं दौहित्राधिकार इति वाच्यं
सुतपदस्य सपुत्रीपुत्रपरतायामेव स्यात् सैव त्वसिद्धा प्रमाणाभावात् । नन्वेवं
सपुत्रीपुत्रसत्वेऽपि भगिनीपुत्रस्याधिकारः स्यादिति चेत् एतन्मध्ये पित्राद्युपा-
दानाभावात् तत् सत्त्वंऽपि तर्हि किन्न स्यात्, अथ भर्तृपितृभ्रात्राधिकारानन्तरं
महितायां लिखनात् तेषामभाव एवैषामधिकार इति चेत् तर्हि पुत्राद्यनन्तर-
स्यापि सुतरां प्राप्तिरनर्थकमेवौरसाद्युपादानं तस्मादौरसादिपदं पूर्वपूर्वाधिकारि-
मात्रोपलक्षणं तेषामधिकारक्रमस्य वचनान्तरेणैव प्राप्तिस्तान्मान्य तेषामनुत्तरं
भगिनीपुत्रादीनामधिकारमात्रबोधकं तद्व्यतिवचनमिति रहस्यम् ॥ २६—३४ ॥

३.

तदेषां पुत्रादीनां भ्रात्रादिभर्तृपर्यन्तानाञ्चाभावे सत्-
स्वपि श्वशुरभ्रातृश्वशुरादिषु सपिण्डेषु, भगिनीपुत्रादी-
नामधिकारिता, अनन्यगतेर्वचनात्, स्त्रीणां मातृतुल्यत्व-
प्रतिपादनेनामीषां पुत्रतुल्यत्वज्ञापनेन पिण्डदातृत्वसूचनस्य
दायभागप्रकरणे धनाधिकारज्ञापनेकप्रयोजनकत्वात् ॥ ३५ ॥

तच्च स्वस्त्रीयाद्या इतिवचनात् भगिनीसुतस्वभर्तृभागि-
नेयदेवरपुत्रभ्रातृश्वशुरपुत्रभ्रातृसुतजामातृदेवराणां पूर्वपूर्वस्या-
भावे परपरस्याधिकारे देवरस्यैव सर्वशेषेऽधिकारापत्तेर्महा-
जनविरोध इति वस्तुबलमालम्ब्य वचनं वर्ण्यते । तत्र मनुना
त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तत इति (मनु ८।१८६)
दायभागप्रकरणे कौर्त्तनात् याज्ञवल्क्येनापि पिण्डदोऽंश-
हरश्चेष्टामिति (याज्ञवल्क्य २।१३३) पिण्डदानेनाधिकार-

दर्शनात् पुत्रस्यापि सातिशयपिण्डदानेन नरकव्राणकारण
तया मुख्यभावेनाधिकारावगतेः

मातुलो भागिनेयस्य स्वस्रीयो मातुलस्य च ।

श्वशुरस्य गुरोश्चैव सख्युर्मातामहस्य च ॥

एतेषां चैव भार्याभ्यः स्वसुर्मातुः पितुस्तथा ।

आह्वदानन्तु कर्त्तव्यमिति वेदविदां स्थितिः ॥

इति वृद्धशातातपवचनात् ॥ ३६ ॥

अमीषां पिण्डदत्त्वप्रतिपादनात्, अयं पिण्डदानविशेषा
दधिकारक्रमः । तत्र प्रथमं देवरः तत्पिण्डतद्भर्तृपिण्ड-
तद्भर्तृदेयपूर्वपुरुषत्रयपिण्डदाहत्वात् सपिण्डत्वाच्च तद्धनेऽधि-
क्रियते । तदभावे भ्रातृश्वशुरदेवरयोः सुतः, तत्पिण्डतद्भर्तृ-
पिण्डतद्भर्तृदेयपूर्वपुरुषत्रयपिण्डदाहत्वात् सपिण्डत्वाच्च
पितृव्यस्त्रीधनेऽधिकारौ । तदभावे त्वसपिण्डोऽपि भगिनी-
पुत्रः, तत्पिण्डतत्पुत्रदेयतत्पित्रादिपिण्डत्रयदानात् मातृ-
स्वसृधनेऽधिकारौ । तदभावे स्वभर्तृभागिनेयः, पुत्रात्
भर्तृदुर्बलत्वात् तत्स्थानपातिनोरपि तथैव बलाबलस्य न्याय्य-
त्वात् तद्भर्तृदेयपूर्वपुरुषत्रयपिण्डदानात् तत्पिण्डदानात्
तद्भर्तृपिण्डदानाच्च मातुलानीधनेऽधिकारौ । तदभावे
भ्रातृसुतः तत्पितृपितामहयोस्तस्याश्च पिण्डदानात् पितृस्व-
सृधनेऽधिकारौ । तस्याप्यभावे श्वशुरयोः पिण्डदानात्
जामाता श्वश्रूधनेऽधिकारौति ॥ ३७ ॥

अयं क्रमो ग्राह्यः स्वस्रीयया इति तु न क्रमाद्यं
किंस्वधिकारिमात्रज्ञापनार्थपरम् ॥ ३८ ॥

षष्ठां पुनरैषामभावे श्वशुरभ्रातृश्वशुरादेः सपिण्डा-
न्त्यक्ततो धनाधिकारो बोद्धव्यः ॥ ३८ ॥

भर्तृपर्यन्ताभावे इत्यादिनोक्तमुपसंहरति तदेषामिति । दौहित्रान्तश्च
तायां श्वशुरभ्रातृश्वशुरादेरगणनात् तेषु सत्सु इत्युक्तम् । वस्तुबलमिति । उप-
कारकत्वरूपं वस्तुबलमित्यर्थः । उक्त वस्तुबलस्य धनहरणप्रयोजकत्वे मानमाह
नयाणामिति । अधिक्रियते अधिकारी भवति । ननु स्वसौयः पित्रादि-
व्यपिण्डदाता भर्तृभागिनेयश्च श्वशुरादिव्यपिण्डदाता तद्याच तुल्यपिण्डदातृत्वं
कथं भर्तृभागिनेयस्य स्वसौयबाध्यता इत्यत आह, पुत्रादिति । पुत्रत्वाति-
देशेन पुत्रद्वयपिण्डव्यपिण्डदातृत्वेन च स्वसौयस्य पुत्रस्यानपातिता, भर्तृद्वयपिण्ड-
व्यपिण्डदातृत्वेन भर्तृभागिनेयस्य भर्तृस्यानपातितेत्यर्थः । तद्याच न्यायबलेनैव
भर्तृभागिनेयस्य स्वसौयबाध्यतेति भावः ॥ ३५—३८ ॥

न च सपिण्डाभावे सतीदं वचनमिति वाच्यम् अस्यामधि-
कारिभ्यश्चलायां देवरदेवरसुतयोः भ्रातृश्वशुरसुतस्य चाधिकार-
ज्ञापनात् आसन्नतरश्वशुरादेः परित्यागात् ॥ ४० ॥

अतो वचनार्थापरिज्ञानकृतो व्यवहारः प्रमाणपरतन्त्रै-
रन्वीकर्त्तव्यः ॥ ४१ ॥

इत्यतिगहनसुक्तमप्रजःस्त्रीधनम् ॥ ४२ ॥

वचनार्थापरिज्ञानेति । उक्तमनुयाश्वल्क्यवचनयोस्तात्पर्यार्थापरिज्ञानकृत
इत्यर्थः । व्यवहारः स्वसौयाद्या इति पाठक्रमेणाधिकारव्यवहारः ।
प्रमाणपरतन्त्रैः प्रमाणैकसापेक्षैः । अतन्त्रम् अप्रयोजकम् अप्रमाणमिति यावत् ।
अत्रायं स्त्रीधनाधिकारक्रमनिरर्थः । तत्र कन्याधने प्रथमं सोदरभ्रातृसदभावे
भ्रातृसदभावे पितुरधिकारः वरदत्तातिरिक्तवाग्दत्ताधनेष्वेव, वरदत्तधने तु वर-
स्याधिकार इति । ऊढाया यौतकधने प्रथमं कुमारी, तदभावे वाग्दत्ताधि-
कारिणी, एतयोरभावे ऊढयोः पुत्रवतीसम्भावितपुत्रयोर्भुगपदधिकारः । एकस्या
अभावेऽपरायाः, एतयोरभावे बभ्याविधवयोस्तुल्याधिकारः, एकाभावे आपरायाः,
ततः पुत्रदौहित्रपौत्रप्रपौत्रसपत्नीपुत्रपौत्रप्रपौत्राणां क्रमेणाधिकारः शब्दक्रमेण
तु सपत्नीपुत्रानन्तरं दौहित्रस्याधिकार इति विशेषः । ततो ब्राह्मादिविवाह-

यश्चकसमयलब्धयौतकधने भर्ता, भ्राता माता पिता चेति क्रमः, चासुरादि-
 विवाहव्रतसमयलब्धयौतकधने माता पिता भ्राता भर्ता चेति क्रमः, ततो
 देवरः, ततो देवरपुत्रभाटश्वरपुत्रौ, ततो भगिनौपुत्रः, ततो भर्तृभागिन्यः,
 ततो भ्राटपुत्रः, ततो जामाता, ततः श्वशुरः, ततो भ्राटश्वशुरः, तत आनन्त्य-
 क्रमेण सपिण्डाः, ततः सकुल्याः, ततः समानोदका इति । यौतकातिरिक्ते-
 ऽपि पिटदत्ते प्रथमं कुमारी, ततः पुत्रः, ततः पुत्रवतीसम्भावितपुत्रे, ततः
 पौत्रदौहित्रप्रपौत्रसपत्नीपुत्रपौत्रप्रपौत्राः, ततो बभ्या विधवा च युगपदधि-
 कारिण्यौ, ततो ब्राह्मादिक्रमेणैव पूर्ववत् क्रमः । पिटदत्तातिरिक्ते अयौतक-
 धने तु पुत्रकुमार्यौयुगपदधिकारः, तथोरभावे पुत्रवतीसम्भावितपुत्रयोः, ततः
 पौत्रदौहित्रप्रपौत्रसपत्नीपुत्रपौत्रप्रपौत्राः क्रमेणाधिकारिणः, ततो बभ्या विधवा
 च युगपदधिकारिण्यौ ततः पूर्ववत् ब्राह्मादिक्रम इति ॥ ४०—४२ ॥

पञ्चमः अध्यायः ।

सम्प्रति विभागानधिकारिणः कथ्यन्ते तत्पुण्यदासेनाधि-
 कारिज्ञापनार्थम् । तत्रापस्तम्बः । सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनो
 द्रव्यमर्हन्ति यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि
 तमभागं कुर्वीतेति ॥ १ ॥

इदं बालेनाकुलीकृत्य पठितं यस्तु धर्मेण द्रव्याणि प्रति-
 पादयति ज्येष्ठस्तं पिटसमभागं कुर्वीतेति तदनाकारम् ॥ २ ॥

तथा अपपात्रितस्य रिक्थपिण्डोदकानि निवर्त्तन्ते । अप-
 पात्रितो भिक्षोदकीकृतः ३ ॥

तथा वृहस्पतिः ।

सवर्णाजोऽप्यगुणवान्मार्हः स्वात् पैठके धने ।

तत्पिण्डदाः ओत्रिया ये तेषां तदभिधीयते ॥

उत्तमर्णाधमर्णेभ्यः पितरं त्रायते सुतः ।

अतस्तद्विपरीतेन नास्ति तेन प्रयोजनम् ॥
 तथा गवा किं क्रियते या न धेनुर्न गर्भिणी ।
 कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ॥
 शास्त्रशीर्थ्यार्थरहितस्तपोविज्ञानवर्जितः ।
 आचारहीनः पुत्रस्तु मूढोच्चारसमस्तु सः ॥ ४ ॥

आपस्तम्बस्यायमर्थः पित्रादेरौर्द्ध्वदेहिकस्य कर्मणो-
 ऽसंस्कृतः सुतः श्रेष्ठो नापरो वेदपारग इति ॥ ५ ॥

पुत्रान्मो नरकात् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।

(मनु ८।१३८ । विष्णु १५।४३)

इत्यादिवचनेन पुत्रकर्तृकतया महाफलश्रुतेस्तत्कर्मवेतनं
 धनसम्बन्धित्वम् अतस्तदकुर्वतः कुतो वेतनम् । अतएवाह
 मनुः ।

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ॥ ६ ॥

(मनु ८।२१४)

तथा अनंशो क्लीवपतिर्न जात्यन्धवधिरौ तथा ।

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ ७ ॥

(मनु ८।२०१)

अथ दायभागी निरूपणीय इति प्रतिज्ञायाम् अनधिकारिनिरूपणम् अप्रस्तुतमत-
 आह तत्पर्युदासेनेति । तथाच तद्विद्वाधिकारिकतया दायभागनिरूपणे तदपि
 प्रकृतमेवेति भावः । ज्येष्ठोऽपीति । प्रतिपादयतीत्यनेनान्वयः । बालिन तन्नाम्ना
 निबन्धकारिणेत्यर्थः । भिन्नौटकौकृत इति । पातित्यादिदोषेण येन सहैकमुदकं
 न पीयते व्यवहारानर्ह इति यावत् । उत्तमणां धर्मणोभ्य इति । धर्मपरोऽयं
 निर्देशः । उत्तमानां देवर्षिपितृणाम् अधमानां कौटादीनाम् ऋणम् अवश्या-
 पाकरणीयत्वेन ऋणतुल्यं तेभ्य इत्यर्थः । बहुवचनन्तु व्यक्तिमेदात् । असंस्कृतोऽनुप-
 नीतः । महाफलश्रुतेरित्यनन्तरं मङ्गानिष्टनिवारणश्रुतेरपि बोध्यं तेनोक्तपुत्रा-

मनस्कदायस्य सर्वपुत्रकर्तृकत्वाभावेऽपि न क्षतिः । विकर्मस्थाः पौर्हदेष्टिकस्य
कर्मणो विरोधीनि यानि कर्माणि अगम्यागमनादीनि तत्कारिण इत्यर्थः ।
जातिपदमिति । अन्यार्थकं जातिपदं, तेन अन्याम्बजम्बधिरावित्यर्थः ॥ १—७ ॥

क्षीवश्च कात्यायनेन दर्शितः ।

न मूलं फेनिलं यस्य विष्टा चाप्सु निमज्जति ।

मेदुसोन्मादशुक्राभ्यां हीनः क्षीवः स उच्यते ॥ ८ ॥

जातिपदमम्बवधिराभ्यां सम्बध्यते । वर्णानुच्चारको मूकः ।

वेदग्रहणासमर्थो जडः ॥ ९ ॥

तदाह याज्ञवल्क्यः ।

पतितस्तत्सुतः क्षीवः पङ्कुरुन्मत्तको जडः ।

, अन्वोऽचिकित्स्यरोगार्तो भर्त्तव्यास्ते निरंशकाः ॥

(याज्ञवल्क्य २।१४१)

पङ्ग्रां न गच्छतीति पङ्गुः ॥ १० ॥

निरंशकत्वेऽपि पतितस्तत्सुतव्यतिरिक्ता भर्त्तव्याः ।

तदाह देवलः ।

मृते पितरि न क्षीवकुष्ठुगन्मत्तजडान्भकाः ।

पतितः पतितापत्यं लिङ्गी दायांशभागिनः ॥

तेषां पतितवर्जेभ्यो भक्तवस्त्रं प्रदीयते ।

तत्सुताः पिबदायांशं लभेरन् दोषवर्जिताः ॥

लिङ्गी प्रव्रजितादिः ॥ ११ ॥

पतितपदेन तत्सुतस्याप्युपादानं पतितोत्पन्नत्वेन पतित-
त्वात् । तदाह बौधायनः । अतीतव्यवहारान् ग्रासाच्छाद-
नैर्विभ्र्युः, अम्बजडक्षीवव्यसनिव्याधितादींश्चाकर्मिणः पतित-
तज्जातवर्जम् ॥ १२ ॥

तत्र नारदः ।

पितृद्विद् पतितः पण्डो यस्य स्यादौपपातिकः ।

औरसा अपि नैतेऽंशं लभेरन् चैत्रजाः कुतः ॥ १३ ॥

(नारद १३।२१)

आह कात्यायनः ।

अक्रमोदासुतश्चैव सगोत्राद् यस्तु जायते ।

प्रव्रज्यावसितश्चैव न रिक्तं तेषु चार्हति ॥ १४ ॥

तत्सुत इति । पातित्यानन्तरमुत्पादितसुत इत्यर्थः । यद्यपि पतित-
पुत्रस्यापि पतितत्वमेव तथापि तस्य पृथग्पादानं तदितरेषां क्लौवादिपुत्राणा-
मश्लितज्ञापनार्थमिति । न च पातित्यानन्तरोत्पन्नस्य पतितत्वेनैव प्राप्त-
तत्सुत इति प्रागुत्पन्नपतितपुत्रसंयुक्तार्थमित्येव किन्न स्यादिति वाच्यं क्लौवादि
पुत्राणामिव तस्यापि निर्दोषत्वात् विभागाहताया न्याय्यत्वात् तद्विषयस्य
वाचनिकत्वे चादृष्टार्थकल्पनागौरवापत्तेः । अपिक्विरोगार्त्त इति युतेर्याद
विभागानन्तरम् औषधादिना रोगनिवृत्तिस्तदा तस्याप्यश्लितमेवेति प्रति-
पत्तव्यम् ॥ ८—१४ ॥

हीनवर्णस्त्रीपरिणयनानन्तरम् उत्तमवर्णस्त्रीपरिणयने
द्वयोरप्यक्रमोदात्वं तयोः सगोत्रात् नियुक्तादुत्पन्नः चैत्रजः पुत्रो
नार्हति धनम् अक्रमोदायामपि सवर्णेन परिणेत्रा उत्पादितः
पुत्रो धनाधिकारौ क्रमोदायामसवर्णजातोऽपि ॥ १५ ॥

तदाह कात्यायनः ।

अक्रमोदा सुतस्त्वृक्थी सवर्णश्च यदा पितुः ।

असवर्णप्रसूतश्च क्रमोदायाश्च यो भवेत् ॥

प्रतिलोमप्रसूतो यस्तस्याः पुत्रो न रिक्तभाक् ।

यासाञ्छादनमात्रं तु देयं यद्वन्मुभिर्मतम् ॥

बन्धूनामप्यभावे तु पितॄन् द्रव्यं तदाप्नुयात् ।

स्वपित्रं तद्धनं प्राप्तं दापनीयान् बान्धवाः ॥ १६ ॥

अस्ति च क्लीवादीनां दारपरिग्रहः ।

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् क्लीवादीनां कथञ्चन ।

तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ (मनु ८।२०३

तन्तुरपत्यम् ॥ १७ ॥

न चापुंस्त्वात् क्लीवस्य जननासामर्थ्यात् अध्ययनाभावात्
मूकादेरुपनयनाभावेन पतितत्वात् कथं दारसम्बन्ध इति
वाच्यं, क्लीवस्य पत्न्यामन्येन पुत्रोत्पादसम्भवात् उपनयनानर्ह-
स्यानुपनीतत्वे शूद्रवदपतितत्वात् ॥ १८ ॥

तैनेतेषां यथामश्वममीरसचेत्रजाः क्लीवत्वादिशून्याः
स्वपित्रनुसारेण भागहारिणः । दुहितरश्च परिणयनं
यावद्वर्त्तव्याः अपुत्राश्च स्त्रियो यावज्जीवम् ।

यदाह याज्ञवल्क्यः ।

औरसचेत्रजास्त्रैषां निर्दोषा भागहारिणः ।

सुताश्चैषां प्रभर्त्तव्या यावन्न भर्त्तृसात्कृताः ॥

अपुत्रा योषितश्चैषां भर्त्तव्याः साधुवृत्तयः ।

निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकुलास्तथैव च ॥ १९ ॥

असवर्णजातोऽपीति । उत्तमवर्णेनाधमवर्णायामुत्पादितोऽपीत्यर्थः । प्रति-
क्षीमेति । क्षीनवर्णेनोत्तमवर्णायामुत्पादितो न ऋक्षभागत्यर्थः । वसुभिः
तस्य पित्रऋक्षयादिभिः तत्पितृमात्रादिभिः । स्वपित्रमिति । यदा वसुभिः
स्वपित्रमेव धनं प्राप्तं न तु तत्पितृधनं प्राप्तं तदा तदयासाङ्कादनं राज्ञा
बान्धवा न दापनीयाः । अपित्रमिति पाठे प्रतिक्षीमजस्य न पित्रसम्बन्धि
इति स एवार्थः तद्यःच प्रतिक्षीमजाय यासाङ्कादनं वसुभिस्तत्पितृधनं
प्रप्राप्तिव दीयं नान्यथेत्यर्थः । क्लीवादेर्दारपरिग्रहासम्भवात् कथं पुत्रसम्भव
इत्याशङ्कामपनेतुमाह अस्ति चेति । यथामश्वममिति मूकादेरौरसस्य चेत्र-
जस्य च सम्भवः क्लीवस्य तु चेत्रजमात्रस्य सम्भव इति । स्वपित्रनुसारेणेति ।

पितृर्नाशनीपुत्रश्चक्रियः पुत्रत्वादिना यादृशो भागसादृशभागधारिण इत्यर्थः ।
॥वज्जीवमिति । भर्तव्या इति पूर्वेष्वान्वयः । भर्तृसात्कृता इति । तेन
॥सां विवाहीऽप्यवश्यं कारयितव्य इति प्रतिपन्नम् ॥ १५—१६ ॥

षष्ठः अध्यायः ।

प्रथम परिच्छेदः ।

सम्प्रति विभाज्यमविभाज्यञ्चोच्यते । तत्र कात्यायनः ।

पैतामहश्च पितृश्च यश्चान्यत् स्वयमर्जितम् ।

दायादानां विभागे तु सर्वमेतद्विभज्यते ॥ १ ॥

यश्चान्यदिति चकारः स्वयमित्यनेन सम्बध्यते स्वयञ्चा-
र्जितमिति चकारादन्यस्यापि तदर्जनं साधारणधनद्वारेणेत्यर्थः
॥ २ ॥

सम्प्रति कौवादिभिन्नत्वेनाधिकारिनिर्गपणानन्तरमित्यर्थः । पैतामहश्चेति,
सम्बन्धधनमाचीपलक्षणम् । साधारणधनद्वारेणेति । शरीरश्रमसाधारण्येनापि
बोध्यं, तद्यैव वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १ ॥ २ ॥

अनुपघातोपात्तमविभाज्यमाह तुर्मनुविष्णू ।

अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् ।

स्वयमीहितलब्धं तत्राकामो दातुमर्हति ॥ ३ ॥

(मनु ८।२०८ । विष्णु १८।४२)

पितृद्रव्योपघाताभावेन द्रव्यद्वारेण नेतरेषां व्यापारः,
स्वचेष्टालम्बत्वेन शरीरोऽपि व्यापासे नेतरेषामिति अर्जकस्यैव
तदसाधारणं स्वयमीहितलब्धं तदिति हेतुत्वेनोपन्यासात्
॥ ४ ॥

तथाच व्यासः ।

अनाश्रित्य पितृद्रव्यं स्वशक्त्याप्नोति, यद्वनम् ।

दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यालब्धन्तु यद्ववेत् ॥ ५ ॥

स्वशक्तिमात्रेण यत् प्राप्तमिति सामान्येनाभिधानात्
सर्वमेवंविधं स्वीयमसाधारणं द्रव्यम् ॥ ६ ॥

स्वीयं स्वधनश्रममात्रार्जितं असाधारणं भ्रात्रन्तरै-
विभाज्यम् ॥ ६ ॥

स्वशक्तिप्राप्तस्यापि विद्याधनस्य समाधिकविद्यैः साधारण-
त्वात् न्यूनविद्याविद्यनिराकरणार्थं विद्यालब्धपदम् ।

तथा याज्ञवल्क्यः ।

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।

मैत्रमौढाह्निकञ्चैव दायादानां न तद्ववेत् ॥ ७ ॥

(याज्ञवल्क्य २।११८)

मैत्रादिग्रहणं प्रदर्शनार्थम्, एवमादिषु प्रायेणानुपघात-
सम्भवात् ॥ ८ ॥

तथा मनुः ।

विद्याधनन्तु यद् यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मैत्रमौढाह्निकञ्चैव माधुपर्किकमेव च ॥ ९ ॥

(मनु ८।२०६)

तथा व्यासः ।

विद्याप्राप्तं शीर्यधनं यच्च सौदायिकं भवेत् ।

विभागकाले तत्तस्य नान्वेष्ट्यं स्वरिक्थिभिः ॥ १० ॥

पितृपितृव्यादिभ्यः सुदायसम्बन्धिभ्यः प्रसादादिना लब्धं
सौदायिकम् ॥ ११ ॥

तथा नारदः ।

शौर्यभार्याधने, हित्वा, यच्च विद्याधनं भवेत् ।

त्रींशेतान्यविभाज्यानि प्रसादो यच्च पैतृकः ॥ १२ ॥

(नारद १३।६)

भार्याप्राप्तिकाले लब्धं भार्याधनम् औद्वाहिकमित्यर्थः,
एतानि वर्जयित्वा अन्यद्विभजेदित्यनुवर्तते वाक्यान्तरीयम्
॥ १३ ॥ (नारद १३।४)

ननु विद्यालब्धस्य पृथगुपादानं व्यर्थम् अनाश्रित्येति सामान्याभिधानेन
तस्यापि प्राप्तेः अतस्तत्प्रयोजनमाह स्वशक्तिप्राप्तस्यापीति । निराकरणाद्यर्थमिति ।
तथाच विद्यालब्धस्य नूनविद्याविद्येन विभागः तदन्येषानु तथाविधाना केनापि
मह न विभाग इति भागस्य द्वैविध्यैकविध्यभावात् तस्य पृथगुपन्यास इति
भावः । न च साधारणधनसम्बन्धेनापि विद्यार्जिते विभागनिषेधार्हः एव
किं न स्यादिति वाच्यं वैद्योऽविद्यायेति वक्ष्यमाणवचनविरोधात् । औद्वाहिकं
जामातृतया श्वशुरादितो लब्धम् । तत्तत्सर्वेवेत्येवकारात् नूनविद्याविद्यव्यवच्छेदः ।
माधुपर्तिकम् आश्विन्यलम् । भार्याधनस्य स्त्रीधनत्वात् विभागाप्रसङ्गरन्यथा
व्याचष्टे । भार्याप्राप्तिकाल इति । यतः शौर्यभार्याधने विद्याधनं प्रसाद-
लब्धधनस्य एतान्यविभाज्यानि अत एतानि हित्वा अन्यद्विभजेदिति वचनार्थं
दर्शयति एतानीति । अन्यद्विभजेदिति वचने नास्ति कुतो विवृतम् अत उक्तम्
अनुवर्तते इति ॥ १—१३ ॥

तदेवमादिभिः शौर्यादिधनत्वमविभाज्यत्वे कारणं नोच्यते
शौर्याद्यर्जितस्यापि विभागश्रुतेः । तथा व्यासः ।

साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनायुधम् ।

शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः ॥

तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः ॥

साधारणद्रव्येणार्जितस्य धनस्य विभागं वदति । तथा

नारदः ।

कुटुम्बं विभृयाद्भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः ।

भागं विद्याधनात्तस्मात् स लभेताश्रुतेऽपि सन् ॥ १४ ॥

(नारद १३।१०)

विभृयादित्येकवचननिर्देशात् यदि विद्यामभ्यस्यतो
भ्रातुः कुटुम्बमपरो भ्राता स्वधनव्ययशरीरायासाभ्यां संवर्ध-
यति तदा तद्विद्योपार्जितधने तस्याप्यधिकारः ॥ १५ ॥

यत्पदोपात्तस्य कुटुम्बभर्तुः कर्तृत्वात् तद्विशेषणस्य
एकत्वस्य विवक्षितत्वेन वित्तार्जकधनव्याप्त्या स्वीयासाधा-
रणधनलाभः साधारणधनेन न लाभः साधारणधनेन भवने तु
वित्तार्जकधनस्यैव तदुपयोगे स्वधनस्यैव वित्तार्जनोपयोग इति
भावः ॥ १५ ॥

तथा वैद्योऽविद्याय नाकामो दद्यादंशं स्वतो धनात् ।

पित्रां द्रव्यं समाश्रित्य न चेत्तेन तदर्जितम् ॥ १६ ॥

(नारद १३।११)

पित्रापदं साधारणधनपरं तदनाश्रित्यार्जितं वैद्योऽविद्याय
अनिच्छन्न दद्यात् वैद्याय विदुषे पुनः साधारणमन्तरेणाप्य-
र्जितं दद्यादेव ॥ १७ ॥

तथा गौतमः ।

स्वयमर्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात् ॥ १८ ॥

(गौतम २८।२८)

असाधारणधनशरीरव्यापारार्जितं स्वयमर्जितम् अवि-
द्वद्भ्यो दातुमनिच्छन् न दद्यात् विद्वद्भ्यः पुनर्दद्यादेव ॥ १९ ॥

एतच्च विद्याधनमात्रविषयम् । तदाह कात्यायनः ।

नाविद्यानान्तु वैद्येन देयं विद्याधनं क्वचित् ।

समविद्याधिकानान्तु देयं वैद्येन तद्धनम् ॥ २० ॥

तन्मोक्षरितविद्यापदम् उभाभ्यां समाधिकपदाभ्यां सम्ब-
ध्यते तेन समविद्याधिकविद्यानां दातव्यं न्यूनविद्याविद्ययोः
पुनरनधिकारः ॥ २१ ॥

अश्रुती मूर्खः । विभ्रयादित्येति । इतरनैरपेक्ष्येण भरणकर्तृत्वस्य
एकवचनबलभ्यत्वादिति भावः । इतरनैरपेक्ष्येण साधारणधननैरपेक्ष्यं तदभातुर-
साधारणधननैरपेक्ष्यं, तेनाश्रुताभ्यां हाभ्यां विभित्वां भरणे सर्वेषामेव तेषा-
मङ्गितेति । समाश्रित्येति । एतच्च भोजनाच्छादनातिरिक्तधनाश्रयणपरं,
तदर्थं धनोपघातस्य गृहस्थितेनाप्यवश्यं कर्तव्यत्वात् । साधारणधनपरमिति ।
अन्यथा पितामहादिधनोपघाते विभागानुपपत्तेरिति भावः । अवैद्यायेति
विशेषणस्वरसलभ्यार्थमाह वैद्यायेति । एतस्यैव विवरणं विदुषे इति । एतच्च
द्वयमर्जितस्य । विद्याधनसाधेति, तदतिरिक्तस्य स्वयमर्जितस्य तु विद्वद्भ्योऽवि-
द्भ्यो वा अर्प्यत्वादिति भावः । तन्मोक्षरितमिति । सकृदुद्धरितमित्यर्थः ।
उभाभ्यामिति । समविद्येत्यत्र विद्येयव साम्यावगतेरधिकैक्यत्वापि विद्येयवा-
धिक्यमवसोयते न तु धर्मान्तरेण अनुषङ्गापेक्षया अध्यहारस्य कल्पने गौरवादिति
भावः ॥ १४—२१ ॥

तदेवमादिवचनैर्विद्याशौर्यादिधनेष्वपि साधारणधनोप-
घातानुपघाताभ्यां विभागाविभागयोरवगमात् तस्यैव प्रयो-
जकत्वात् तत्पदवत्येव श्रुतिः कल्पनीया, उपघातार्जितं
विभजेदिति, न पुनः शौर्यादिपदवत्यपि, अवश्यकल्पनीय-
मन्मान्यश्रुतिकल्पनयैवोपपत्तेः ॥ २२ ॥

होलाकाधिकरणन्यायस्यायमेव विषयः ॥ २३ ॥

यदा न्यायप्राप्त एवायमर्थः, यद् येनार्जितं तत्तस्मिन्
जौवति तस्यैव, असति विशेषवचने, यत्र पुनः साधारणधन-
मात्रेणैकस्य व्यापारोऽपरस्य धनशरीराभ्यां तत्रैकस्यैको
भागोऽपरस्य भागद्वयं न्यायावगतमेव निवृद्धम् । एतेन चैत-
दपि सिध्यति, यत् साधारणधनोपघाते सति यस्य याव-

तोऽंशस्य स्वल्पस्य महतो वीपघातः, तस्य तदनुसारेण भाग-
कल्पना कार्य्या ॥ २४ ॥

तस्यैव, उपघातानुपघातार्जितत्वस्यैव, प्रयोजकत्वात् विभागे उपघातार्जित-
त्वस्य, अविभागे चानुपघातार्जितत्वस्य, प्रयोजकत्वात् । कल्पनीयां श्रुतिमात्र-
उपघातार्जितमिति । अनुपघातार्जितं न विभज्येदिति तु श्रुतिर्न कल्पने
तत्रान्येषां स्वामित्वाभावेन विभागाप्रसक्तेः तदभावस्य सिद्धत्वात् । सामान्य-
श्रुतीति । श्रौत्यादिपदश्रुत्योक्तश्रुतिकल्पनवैयर्थ्यः । श्रौत्यादिपदवती उपघाते
श्रौत्याद्यर्जितं विभज्येदित्येवंरूपश्रुतिकल्पने गौरवात् । न्यायमूलत्वमाह यद्वेति
धनसाधारण्ये व्यापारसाधारण्ये वा भागान्तरस्य विभागोक्तकृतनियमे व्यभिचार-
माशङ्क्याह असतीति । तथाचायमुक्तं इति भावः । विशेषवचनस्य समविद्या-
धिकेत्याद्युक्तमेव, न्यायश्चात्र उपघातार्जिते अर्जकस्य, द्वांशित्वाभिधाना-
ननुपघाते तदधिकस्य सर्वस्यैव यद्वचं युक्तमित्येवंरूपः । यस्य यावत् इति
त्रिभिन्नजातीयभादसाधारणधनोपघातार्जिते, द्वांशणीपुत्रस्य चतुर्णां संशान-
चतुरियापुत्रादीनाञ्च त्रिंशकांशानामुपघातः, तत्र स्वस्वांशसमसङ्क्रमेण तेषाम-
कल्पनमित्यर्थः ॥ २२—२४ ॥

किञ्च कात्यायनवचनम् ।

विभक्ताः पितृवित्ताच्चेदेकत्र प्रतिवासिनः ।

विभज्युः पुनर्द्विंशं स लभेतोदयो यतः ॥ २५ ॥

इदं संसृष्टस्य साधारणधनोपघातेनार्जकस्य भागद्वय-
इतरेषामेकैको भाग इति श्रीकरेण व्याख्यातम् ॥ २६ ॥

तेनानुपघातार्जितमर्जकस्यैव धनं संसृष्टत्वेऽपि न पुन-
स्तद्वनं साधारणमित्यभिप्रायो मुनेर्व्याख्यातुश्च लक्ष्यते, अनु-
घातार्जितं भागविशेषानभिधानात् ॥ २७ ॥

एवञ्चेत् संसृष्टवदविभक्तस्यापि तथात्वमेव युक्तं, विभाग-
प्रागभावे तद्वध्वंसेऽपि, एकत्र प्रतिवासस्य हेतोरविशेषा-
साधारणधनोपघातार्जितेऽर्जकस्य भागद्वयमिति ज्ञापनार्थ-

त्वेन वचनस्याप्युपपत्तेः, न केवलं संसृष्टविषयत्वं युक्तं, होला-
काधिकरणस्यात्रैव जागरूकत्वात् ॥ २८ ॥

वक्ष्यमाणकात्यायनवचने, एकत्र प्रतिवासिन इति श्रुतेरेकत्र वास एव
नियामको, न साधारणधनार्जितत्वं, तथाच कथं न्यायमूलकमित्याशङ्क्य अस्यापि
न्यायमूलत्वं व्यवस्थापयति किञ्चेति । विभक्ता इति । एकत्र प्रतिवासिनी यदा
विभज्युः तदा यतो यस्यात् एकत्र प्रतिवासिनी भ्रात्रादेरुदयः धनार्जनं, स
पुनर्विभागे इष्टं लभेत इत्यर्थः । इष्टं सञ्चार्जित एव, अर्जको इष्टं शर्मन्तीत्येक-
मूलकत्वात् । इतरेषामेकैको भागः, एकैकस्येति शेषः । मुनेः कात्यायनस्य, तेन
एकत्रप्रतिवासित्वेन, साधारणधनोपघातेन इष्टं शिल्पस्य प्रतिपादितत्वात्,
अनुपघातार्जिते भागानभिधानात् । व्याख्यातुः श्रीकरस्य, तेन तथैव स्फुटं
व्याख्यातत्वात् । अभिप्रायं प्रकाशयति । अनुपघात इति । एषश्चेत् उपघाता-
र्जिताभिप्रायश्चेत् । तथात्वं इष्टं शिल्पम् । अविभक्तत्वे विभागप्रागभावः, संसृष्टत्वे
विभागप्रध्वंसः । एकत्रप्रतिवासस्य, अभिन्नधनसम्बन्धस्य । ननु वचनबलात्
संसृष्टधनविषयत्वप्रतीतेस्तद्विरोधात् कुतोऽविभक्तविषयत्वकल्पनम्, अतो वचन-
मन्यथोपपादयति साधारणेत्यादिना । न केवलमित्यत्र हेतुमाह होलाकेति ।
तथाच यथा होलाकानुष्ठानार्थं होलाका कर्तव्येति श्रुतिः कल्प्यते, न
कर्तृबोधकप्राप्त्यादिपदवतौ, तथा साधारणधनोपघातार्जिते अर्जको इष्टं
यज्ञोपाहित्येव श्रुतिः कल्प्यते न तर्जकविशेषणतया संसृष्टपदवतीति भावः
॥ २५—२८ ॥

• किञ्चोपघातार्जिते अर्जकस्य भागद्वयमिति ताव-
न्निर्विवादं,

साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनायुधम् ।

श्रीर्य्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः ॥

तस्य भागद्वयं देयं श्रेष्ठास्तु समभागिनः ॥

इत्यनेनोपघात एव भागद्वयस्य विधानात्, असाधारण-
धनशरीरव्यापारार्जिते तु न भागद्वयं न्याय्यं, किन्त्वधिकं,
सर्वमेव वा किञ्चिद्दूनं वा, तत्र किञ्चिद्दूनस्य सुनिभिर्नि-

बन्धुभिश्चानुक्तात् । साधारणधनव्यापारेण भ्रात्रन्तरस्य
भागदर्शनात् तदभावे भागाभाव एव युक्तः ॥ २८ ॥

द्विरर्जयितुरित्येतस्य च न्यायमूलत्वमेव युक्तम्, अन्यथा
श्रुतिकल्पने अर्जकत्वानुप्रवेशो वा पृथग्वाधिकारी कल्पनीयः
स्यात् ॥ ३० ॥

तस्मादनुपघातार्जितमर्जकस्यैव नेतरिषामिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

नन्वाकारे पदवैयर्थ्यरूपबाधकाभावान् सामान्यश्रुतिकल्पनमनु, स्मृतौ तु
तथात्वे विशेषणवैयर्थ्यमिति विशेषाकारैव श्रुतिः कल्प्यत इत्यत आह ।
किञ्चेति । किन्त्वधिकमिति । भागद्वयाधिकमित्यर्थः । अधिकस्यैव हेतुव्यापार-
सर्वमेव वा किञ्चिद्रूपमिति च । सर्वमिति शेषः । भागनिर्गमादिति । भाग-
श्रवणादित्यर्थः । तदभावे भ्रात्रन्तरभागनिर्गमहेतुः साधारणधनोपघातभ्रात्रन्तर-
व्यापारयोरभावे । ननु अर्जको ह्यर्जमर्हति येन चैषामनुपादितं स्यात् सोऽपि
ह्यर्जमेव हरेदित्यादौ सामान्यत एवाज्जकतया ह्यर्जश्रुतेरनुपघातेऽपि, ह्यर्ज-
एवाज्जकस्यासामत आह द्विरर्जयितुरिति । एतस्य एतदर्थकस्य अर्जको ह्यर्ज-
मर्हतीत्यादिः । न्यायमूलत्वं यत्रैकस्य धनहारेण अपरस्य धनशरीरायासाधा-
मित्युक्तयुक्तिमूलत्वम् । अन्यथा न्यायमूलत्वे । अर्जकत्वानुप्रवेशो वेति । पिता
गृह्णीतांशद्वयं स्वयमिति मूलश्रुतौ अर्जकत्वविशेषणप्रवेश इत्यर्थः । नन्वेवम् अर्जक-
पिता ह्यर्जं गृह्णीयादिति श्रुतिकल्पने पितुरनर्जकस्य ह्यर्जानुपपत्तिः अर्जकस्य
भ्रात्रादेर्ह्यर्जानुपपत्तयेत्यत आह पृथग्वेति । पित्रत्वादिनिरपेक्षः पृथगर्जक-
एवाधिकारी कल्पः स्यात् । तथा सोमयज्ञैव श्रुतिकल्पने गौरवात् न्यायमूलत्वमेव
युक्तमिति भावः उपसंहरति तस्यादिति ॥ २८—३१ ॥

किञ्चाविभक्तार्जितं सर्वं विभजयुरिति न तावत् सामा-
न्येन वचनं कल्पनीयं शीर्ष्यादिधने पर्युदासदर्शनात् ।

तथा मनुः ।

विद्याधनन्तु यद् यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मेवमौद्वाहिकस्यैव माधुपर्किकमेव च ॥ (मनु ८।२०।६)

तथा मनु विष्णु,

अनुपपन्नं पिष्टद्रव्यं श्रेष्ठेण यदुपार्जयेत् ।

स्वयमीहितसत्त्वन्तश्चाकामो दातुमर्हति ॥ ३२ ॥

(मनु ८।२०८ । विष्णु १८।४२)

अनुपपन्नमिति विद्यादिधनेऽपि सम्बध्यते, सत्त्वपघाते
विभागवचनदर्शनात् ॥ ३३ ॥

तथा याज्ञवल्क्यः ।

पिष्टद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।

मेवमौद्वाहिकश्चैव दायादानां न तद्भवेत् ॥

क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युहरेत्तु यः ।

दायादेभ्यो न तद्दद्याद्द्विदया सत्त्वमेव च ॥

(याज्ञवल्क्य २।११८—१२०)

तथा नारदः ।

श्रीर्षेभार्याधने हित्वा यच्च विद्याधनं भवेत् ।

श्रीर्ष्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यच्च पैष्टकः ॥

(नारद १३।६)

तथा व्यासः ।

विद्याप्राप्तं श्रीर्षधनं यच्च सौदायिकं भवेत् ।

विभागकाले तत्तस्य नान्वेष्टव्यं स्वरिक्थिभिः ॥ ३४ ॥

सौदायिकं सुदायसम्बन्धिभ्यो यत्नव्यम् ॥ ३५ ॥

पितामहेन यद्वत्तं पित्रा वा प्रीतिपूर्वकम् ।

तस्य तन्नापहर्त्तव्यं मात्रा दत्तञ्च यद्भवेत् ॥

अनाश्रित्य पिष्टद्रव्यं स्वशक्त्याप्नोति यन्नम् ।

दायादेभ्यो न तद्दद्यात् विद्यासम्बन्धं यद्भवेत् ॥ ३६ ॥

ननु न्यायमूलत्वे अर्जकस्य व्यापारतारतम्येन विभागतारतम्यं स्यात्, तथाच सामान्यत एव तस्य भागद्वयभिक्षानमयुक्तमतीऽविभक्तार्जिते अर्जकस्य भागद्वयम्, इतरेषामर्जकौ भाग इति सामान्यश्रुतिमूलत्वमेवोचितमर्जकद्वयशित्वम्, अतएवानुपघातार्जितेऽपि प्रतिशङ्कधने अविभक्तार्जितत्वमात्रेण सर्वेषां विभागं लोके दृश्यते इति श्रौकरमतमूलत्वे दूषयति किञ्चाविभक्तत्वादि । शौर्यादि-धन इति । अनुपघातार्जितश्रौत्यादिभन इत्यर्थः । सम्बध्यत इति । विद्या-धनन्तु यद् यस्येति प्राग्वचनीः विद्यापनेऽपि सम्बध्यत इत्यर्थः, वैद्योऽविद्याधेति भाग्युक्तवचने पित्रा द्रव्यं समागम्य च चेन्न तदार्जितमिति श्रुतेरत्रापि तदेव वाक्यतया विद्याधनेऽप्यनुपघातान्वय इति भावः । क्रमादभ्यागतमिति । क्रमादागतमित्यर्थः । एतच्चासः पञ्चमवधनमात्रोपलक्षणं, तेन मातृणा स्वाजितधनेऽपीयं व्यवस्था । अहोर्जितवचनेन अन्यथा कायिकव्यापारस्वाभावात् उक्तः ॥ ३२—३६ ॥

तदेवमादिवचनैर्यावद्वर्णवर्णान्तरालानां, सङ्कीर्णजातानां, सकलविद्यानिमित्तस्य, मौदायिकस्य च स्वजनदत्तस्य च, तथा मित्रविवाहमधुपर्कप्राप्तस्य, शौर्येण च युद्धादिना, प्राप्तस्य, कृपिसेवावाणिज्यादिना च श्रमेणोपार्जितस्य, अनुपघातेन च स्वशक्तिमात्रार्जितस्य, पर्युदासात्, सर्वमेव पर्युदस्तमिति तदितराभावात् निर्विषयो विधिः ॥ ३७ ॥

अथ यथाकथञ्चिदेको, द्विको वा, विषयो लभ्यते, तदा तदेव स्वपदेन, निर्देष्टुमुचितं मुनीनाम्, अविभक्तार्जितममुक-धनं विभजेदिति, लाघवात् स्वपदात् शौघप्रतीतेः, न तु शौर्यादिधनेतरतया, बहुतरपदप्रयोगापत्त्या गौरवात्, पर्युदासत्वे च, सर्वमुनिभिरेव, सकलपर्युदसनीयपदानु-कीर्त्तनं कर्त्तव्यं, तद्विना तदितरज्ञानानुपपत्तेः, मुनीनां पर्यु-दासवचनं बालप्रलपितमिव स्यात्, प्रदर्शनार्थत्वे तु अना-स्थया केनचित् किञ्चित् कीर्त्तितं, केनचिच्च किञ्चिदिति, युक्तं सर्वस्याकीर्त्तनम् ॥ ३८ ॥

तस्मात् साधारणधनोपघातार्जितं, धनं विभजेदिति विधिः, श्रौत्यादिपदेषु वाक्येषु प्रदर्शनार्थम् ॥ ३९ ॥

अतोऽविभक्तार्जितत्वमात्रेण, धनस्य साधारणत्वाभिधान-
मप्रामाणिकम् ॥ ४० ॥

यादृशेति । वर्णाः, ब्राह्मणादयश्चत्वारः । वर्णान्तराणां अन्वष्टकरणा-
दयः । सङ्कीर्णजाता, रथकारादयः । सर्वमेवेति । अनुपघातार्जितं सर्व-
मेवेत्यर्थः । निर्विषयो विधिरिति । अनुपघातेन श्रौत्याद्यर्जिततत्त्वज्ञानेतरद-
विभक्तार्जितं विभजेदिति विधिर्भवदभिमतः स च निर्विषयः यादृशमप्राप्त-
विषयं प्राप्य विधित्वं तादृशविषयशून्यः अत्र हेतुः तदितराभावादिति ।
न्यायप्राप्तिरस्य विषयस्याभावादित्यर्थः उपघातार्जितविभागस्य तु न्यायत एव
प्राप्ततया नाप्राप्तत्वमिति भावः । नन्वविभक्तत्वनिर्धिरकोऽस्ति विषयः,
रूपयोदासीनदत्तमादाय द्विकी वा वर्धते, एतयोश्चासाधारणव्यापारार्जितत्वेन
तद्विभागस्य न्यायादप्राप्तिरिति तत् कथं निर्विषयत्वमित्याशङ्कते अथेति ।
स्वपदात् विशेषरूपेण स्वबोधकपदात् । न तु श्रौत्यादीर्हति । न त्वनुपघातेन
श्रौत्याद्यर्जितेतराविभक्तार्जितधनतयेत्यर्थः । बहुतरपदेति । पदार्थानां वाक्या-
घटकतया वाक्यघटकपदार्थानामुपस्थितौ तदन्वितात्वयक्रमेण प्रकृते प्रकृतीय-
स्थितिरिति विलम्बीपस्थितिकलादित्यर्थः, इदमुपलक्षणं पदार्थोपस्थित्यादि-
कल्पनागौरवमपि द्रष्टव्यम् । बालप्रलपितमिति । विद्याधनेतरद्विभजित् श्रौत्या-
दिधनेतरत् विभजित्वादिप्रत्येकानभिधाने कक्षादप्यभिधानात् न विभाज्य-
तावच्छेदकस्य उक्ततावज्ञानेतराविभक्तार्जितधनस्य परिषयः, तथाच तादृशधन-
विभागस्य प्रकृतस्याप्रतिपादकतया, निरर्थकत्वेन, बालप्रलपतुल्यत्वात् बाल-
प्रलपितमित्यर्थः । मन्यते अनुपघातार्जनं यत्र यत्र धने सम्भवति तत्तदुदा-
हरणार्थत्वेन नानर्थक्यमित्याह प्रदर्शनार्थत्व इति ॥ ३९—४० ॥

किञ्च ।

क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युद्धरेत्तु यः ।

दायादेभ्यो न तद्दद्यात् विद्यया लब्धमेव च ॥

अत्र यान्नवत्कावचनेऽपि, पितृपितामहादिधनमपि
केनचिदपहृतं योऽभ्युद्धरेत् तस्यैव तन्नान्येषामिति भवतोऽपि

सम्पत्तं, तेन पूर्वसम्बन्धलेशे सत्यपि, अविभक्तानामप्यभ्युद्धारकत्वेन, तत्र सम्बन्धं निराकुर्वन् अपूर्वत्वेन स्वारजिते सुदूरमेवान्येषां सम्बन्धं निरस्यति ॥ ४१ ॥

यच्चोक्तं श्रीकरेण, यदि पिष्टद्रव्यानुपघातार्जितमर्जकस्यैव तदा प्रतिग्रहोपात्तं धनं न कदाचित् भ्रातृन्तरस्य भवेत् न हि प्रतिग्रहः पिष्टद्रव्यविनाशेन सम्भवति, द्रव्यं हि दातुरानमनसुखेन प्रतिग्रहे उपयुज्यते एकहायन्यादिकमिव सोमक्रये, कर्तृशरीरधारणेन वा पयोव्रतादिकमिव ज्योतिष्टोमे, तत्र तावददृष्टार्थं दाने द्रव्यान्तरग्रहणेन न दातुरानन्तरपेक्षितेति न दातृानत्या द्रव्यमुपयुज्यते प्रतिग्रहस्य चात्यकालीनत्वात् न तत्कर्तुर्भोजनमपेक्षितं दीर्घकालीनज्योतिष्टोमेनेव स्वर्गकर्तुरिति ॥ ४२ ॥

तस्मिन् दापकान्त्यर्थमुपहारप्रदानादिना धनोपघातस्य लोके बहुलमुपलभात्, कलौ च प्रतिग्रहधनस्य सेवाधनसमानत्वात् अतएव कलौ त्वनुगमान्वित इति स्मरन्ति ॥ ४३ ॥

अथात्र निषेध एव न पर्युदास इत्येकेन सर्वाकीर्त्तनेऽपि न अतिरिक्त आह किञ्चेतीति चूडामणिः तत्र वाक्यभेदकल्पनागौरवापत्तेः पर्युदासस्यैव न्याय्यत्वात् किलोपघाताभावे विभागाभाव इति प्रागुक्तयुक्त्यन्तरमाह किञ्चेति । अविभक्तानामपीति । अविशेषेण वचनस्य विभक्ताविभक्तविषयत्वादित्याशयः । अपूर्वत्वेन पूर्वसम्बन्धलेशस्यत्वेन । न हीति । ज्योतिष्टोम इति वाक्येनान्वयः । पिष्टद्रव्यविनाशासम्भवं दर्शयति द्रव्यं हीति । आनमनं सन्तोषः, सुखेन हारेण । एकहायन्यादिकमिति । अक्षय्या एकहायन्या पित्राद्या गवा सोमं क्रौञ्चातीत्यत्र विकृतुर्वाक्यरूपद्वारा यथैकहायनी सूक्ष्मतया उक्तक्रयोपयोगिनी तद्वदित्यर्थः । आदिना वाससा क्रौञ्चातीत्युक्तवाससः परिग्रहः । न च वाससी गोवैकल्पिकत्वं विधमश्रितत्वात् तथाच वाससाविश्रिष्टाया एकस्या एव गीः क्रयसाधनत्वात् वृक्षक्रयासाधनस्य वाससः कथमादिपदवाक्यत्वं वाससा सोमं क्रौञ्चातीति वृक्षक्रयाकथनेन वासीऽविश्रिष्टगवा क्रयेऽप्राशस्त्यावगमात्

प्रशस्तकथे वासी विप्रिष्टाया गीरादिपदयाज्ञत्वसम्भवात् पण्डितरकथे मूल्य-
तयोक्तसुवर्णादीरादिपदयाज्ञत्वसौख्यम् । कर्तृशरीरधारणेनेति । अनरा प्रकृत-
कर्मण इति शेषः । अतएव दूषयिष्यति प्रतिग्रहस्य चेति । पयोव्रतादिक-
निवेति । दीर्घकालीनज्योतिष्टोमादौ पयःपानं ब्राह्मणस्यैवमेनाभिहितं,
शरीरभोजनादिकं यथा शरीरधारणद्वारा उपयुज्यते तद्वदित्यर्थः । इयं क्रमेण
दूषयति तत्रेत्यादि प्रतिग्रहस्येत्यादि च । दीर्घकालीनज्योतिष्टोमस्यानेकाङ्ग-
साध्यत्वात् शरीरधारणार्थे यागकर्तृयथा भोजनमपेक्षितं तथा प्रकृते नेति
व्यतिरेकिण दृष्टान्तः । उपहारप्रदानादिना पारितोषिकद्रव्यदानादिना ।
उपदादानादिनेति पाठे उत्कोचदानादिनेत्यर्थः क्लृप्तौ चेति । तेन सेवाया
बहुतरकालसाध्यत्वात् शरीरधारणार्थमपि धनोपघातः क्वाचित्क इत्युक्तम् ।
अनुगमेति । अनुगम उपसर्पणं तेनान्विते दीयते इत्यन्वयः । तथाचोक्तम् ।
कृते तु दीयते गत्वा त्रेतायामाहुताय वै । हापरे याचमानाय क्लृप्तौ त्वनुगमा-
न्विते इति ॥ ४१—४३ ॥

यच्च चिरावस्थितैर्व्यभिचारात् न प्रतिग्रहकारणत्वमानते-
रत आनतिद्वारा न प्रतिग्रहार्थत्वं द्रव्यस्येत्युक्तं तन्मन्दतरम्
आनतिद्वारेण चिराश्रयणादीनां प्रतिग्रहकारणत्वात् पुरुष-
स्याश्रयवैचित्र्येण कस्यचिद्धनदानेन कस्यचिश्चिराश्रयणादिना
कस्यचित्तत्तद्गुणानुसन्धानमात्रेण दर्शनात् सहकार्यभावेन
कार्यानुत्पत्तेर्नाकारणता अतएवोक्तम् आनतेरनियतोपाय-
परिणामत्वादिति ॥ ४४ ॥

चिरावस्थितेरिति । चिरावस्थितेरपि प्रतिग्रहदर्शनात् आनतेर्व्यभिचारात्
न कारणता इत्यर्थः । आनतिद्वारेण आनतिद्वारेणैव न तु स्वातन्त्र्येण तेन
गानतेर्व्यभिचार इति भावः । चिराश्रयणादीनामित्यादिना धनदानगुणानुसन्धा-
नयोः परियहः । ननु चिराश्रयणादीनां परस्परव्यभिचारेण कथमानतिं
प्रति कारणतेत्यत आह पुरुषाश्रयेति । पुरुषाश्रयस्य आनतिरुपस्य वैचित्र्ये-
त्येवार्थः । तथाचानतिगतवैजात्यव्यक्तीनां प्रत्येकस्य चिराश्रयणादीनां कार्यताव-
च्छेदकत्वात् न व्यभिचार इति भावः । वस्तुतस्तु एषामेकव्यक्तिमत्त्वेनैव कारणत्वं
तेनानतिगतानावैजात्यकल्पने न व्यतिरिति बोध्यम् । दर्शनादिति । आनते-
रिति शेषः । ननु तथाप्यन्वयव्यभिचारः सत्यपि चिराश्रयणादौ कस्यचित्

आनयनुत्पादादत आह सङ्कार्येति । पुरुषाश्चयविशेषः सङ्कारौ तदभावात्
तत्र नानतिरिति न व्यभिचार इति भावः । केचित्तु ननु सत्यामप्यागतौ
कचित् प्रतिग्रहाप्राप्तौ कथमानतेः प्रतिग्रहकारणत्वमत आह सङ्कार्येती
त्याहुः । अनियतोपायेति । परस्परनिरपेक्ष नानोपायसाध्यत्वादित्यर्थः । तेनैक-
शक्तिमत्त्वात् वेजात्याद्या कार्यकारणभाव इति भावः ॥ ४४ ॥

यदप्युक्तम् अथ तत्सन्निधिमन्तरेण प्रतिग्रहस्यासम्भवात्
भोजनमन्तरेण च तदयोगात् तस्यां स्थितौ व्याप्रियमाणं
धनं प्रणाख्या प्रतिग्रहं निष्पादयतीति तदा ज्योतिष्टोमादि-
कर्मणः प्राचीनमपि भोजनं शरीरस्थितौ व्याप्रियमाणं
प्राचीनशरीरस्थितिमन्तरेण ज्योतिष्टोमाद्यनिष्पत्तेः प्रणाख्या
ज्योतिष्टोमार्थमिति सर्वमेव भोजनं क्रत्वर्थं स्यात् न पुरुषार्थं
तथाच तत्साधनमपि द्रव्यं क्रत्वर्थं स्यात् तदर्जनोपायोऽपि
क्रत्वर्थः स्यादिति पुरुषार्थत्वं द्रव्यार्जनस्य द्रव्यस्य भोजनस्य
च हीयेतेति ॥ ४५ ॥

तन्मन्दतमं प्रणाख्या ज्योतिष्टोमोपकारकत्वेऽपि भोजनस्य
साक्षात् ह्यर्थत्वात् पुरुषार्थस्यैव सतः क्रतूपकारकत्वात्
तत्रैदमर्थं प्रमाणाभावात् उपकारकत्वस्य तादर्थ्यव्यभिचारात्
अतः कथं द्रव्यार्जनस्य द्रव्यस्य भोजनस्य च क्रत्वर्थत्वमापद्यत
इति ॥ ४६ ॥

अतएवास्यापि पर्यनुयोगस्यानवकाशः यदि द्रव्यस्य
प्राचीनभोजनद्वारा प्रतिग्रहोपकारकत्वमिष्यते तदा जन्मत
आरभ्य भोजनं विना शरीरावस्थितेरभावात् नार्जनं सम्भव-
तीति सर्व एव धनोपायः पिष्टद्रव्यविनाशेन स्यात् अतोऽनुप-
पन्नं पिष्टद्रव्यमिति विशेषणं न स्यादिति । यतो विशेषणा-
नर्थक्यादेव भक्षणाद्युपभोगोपयुक्तधनोपघातादन्यस्यैवोपघाता-
दिरूपस्य वचनार्थत्वात् ॥ ४७ ॥

श्रीकरेणैव परियङ्गे प्रकारान्तरेण पितृद्रव्योपघातवादिसते यत्प्रतिबन्धिसुप-
न्यस्य निरसितं तस्यपि दूषयितुमाह यदप्युक्तमिति 'हीयेतेत्यन्' यदप्युक्तमित्यर्थः ।
तस्यां स्थितौ प्रतिषेधावधि दाहसन्निधिस्थितौ प्रणाल्या परम्परया । उक्तमर्थं
प्रतिबन्धिसुखेन श्रीकरो दूषयति तदेत्यादि हीयेत इत्यन्तेन । उपकारकत्वेऽपि
नान्तरीयकविधया उपकारकत्वेऽपि । तदप्रार्थेत्वादिति । तथाच पुरुषार्थत्वं
पुरुषोद्देश्यप्रत्यक्षफलसाधकत्वं, क्लृप्त्यर्थत्वं कृतुद्देश्यकत्वम् इति न पुनर्भोजनस्य
क्लृप्त्यर्थत्वं कृतुद्देश्यकत्वाभावादिति भावः । ऐदमर्थे इदमर्थकत्वे कृतुद्देश्यकत्व
इति यावत् । ननु तदुपकारकत्वस्यैव तदुद्देश्यकत्वे प्रमाणमत आह उपकारक-
त्वस्येति । व्यभिचारादिति अन्यावलीकनार्थान्नोतदीपादितोऽन्यावलीकनादौ
व्यभिचारादित्यर्थः । अत एवेति । यत एव उपकारकत्वेऽपि न तदर्थत्वम् अत
एवेत्यर्थः । पर्यनुयोगस्य दोषोद्भावनस्य । हेतुत्वरमाह यत इति । केचित्तु
अतएव वक्ष्यमाणहेतोरिव तमाह यत इतीत्याहुः । विशेषणार्थेऽपि यतो
हेतोरित्यर्थः ॥ ४५—४७ ॥

किञ्च भक्षणाद्युपभोगार्थधनोपघातस्य गृहगतेनाप्यवश्यं
कर्त्तव्यत्वात् न धनार्जनार्थत्वमुपघातस्य तादर्थ्यमेव च तत्-
प्रयोजकमिति नातिप्रसक्तिः ॥ ४८ ॥

अतएवोक्तं विश्वरूपेण, पितृद्रव्यं दत्त्वा यदि नोपार्जितं
धनं तदा तस्यैवासाधारणं वैवाहिकवदेवोक्तं न तु भक्षणा-
द्युपभोगमात्रेण तस्य स्तन्यपानादितुल्यत्वादित्यन्तेन ॥ ४९ ॥

अतएव पुत्रोपनयनविवाहयोः सोत्सुकसव्ययपितृकृत-
बहुतरधनव्ययेऽपि न व्रतभिन्नादिलब्धस्य वैवाहिकस्य वा
साधारण्यं धनप्रेम्पया धनव्ययस्याकृतत्वात् ॥ ५० ॥

तस्माद्वनोद्देशेनैव साधारणधनोपघातेनार्जितं साधारणं
नान्यदिति सिद्धम् ॥ ५१ ॥

ननु भक्षणादीत्यादिपदशब्दाऽननुगम आम्नादनमात्रस्यादिपदशब्दत्वेऽपि
यत्र बहुतरव्ययेन औषधमुत्पाद्य तद्वक्षणेन नदीपर्वतखड्गनसङ्घिना बहुतरधन-
मर्जितं तस्याविभाज्यता स्यादत आह किञ्चेति । तादर्थ्यमेवेति । तथाचोप-

कारकत्वस्य प्रामाणिकत्वेनापह्वापयितुमशक्यत्वात् तादर्थ्यमेवोपघातस्य विशेषण-
मिति भावः । एतेनानुपपन्नं पिबद्रव्यमित्यादेरर्जनीदृशेन धनोपघातं विना
यद्वर्जितमित्येवार्थ इति बोध्यम् । अत्र वृद्धसम्पत्तिमाह अत एवेति । यतस्तदर्थं
विवक्षितं नोपकारकत्वमत एवेत्यर्थः । दत्तत्वेनेन तादर्थ्यं व्यक्तमेव तेनाभिहित-
मिति भावः । स्वयमपि लोकाचाररूपसंवादं दर्शयति अत एवेति । पुत्रो-
पनयनेति । व्रतमिच्छा ब्रह्मचर्यमिच्छा । आदिना समावर्तनीतरराजप्रसादलभ्य-
मिच्छापरिग्रहः । तथाचोक्तम् । आहूतानां गुरुकुलात् विप्राणां पूजकी भवेत् ।
वृषाणामक्षयो ह्येष विधिर्नास्तीति धीयत इति वैवाहिकस्य विवाहे श्वशुरादितो
लभ्यस्य । तथापि धनव्ययस्य कथं न धनार्जनार्थत्वमत आह धनप्रेक्षयेति ।
उपसंहरति तस्मादिति ॥ ४८—५१ ॥

जितेन्द्रियेणापि बहुप्रकारं विमृश्योक्तं तदस्य यावदुक्त-
प्रपञ्चस्य संक्षेपेणायमर्थः प्रत्येतव्यः यत्किञ्चिद्वनमसाधारणो-
पायार्जितं तदसाधारणं विस्मृष्टार्थन्तु विद्याधनन्तु यद्
यस्येत्यादिना (मनु ८।२०६) उदाहरणप्रपञ्चेनोपन्यस्तम्
असाधारणत्वादेवाविभाज्यमेवंविधमेव धनं साधारणमपि
साधारणहेतुसमुत्पत्त्येवंविधमेव तदपि सुखावबोधार्थं क्वचि-
दर्थासाधारण्येन क्वचिच्च व्यापारतथात्वेन सम्बन्धसाधारण्येन
च प्रदर्शितमित्यन्तेन ॥ ५२ ॥

बालकेनाप्युक्तं न ह्येकेन भ्रात्रा विद्यादिना लब्धेऽपरेषा-
मधिकारसम्भवः प्रमाणाभावादित्यन्तेन ॥ ५३ ॥

असाधारणधनशरीरायासाभ्यां यद्वर्जितं तदविभाज्यत्वे प्राक् स्वयमभिहिते
जितेन्द्रियसंवादमप्याह जितेन्द्रियेणापीति । तदुक्तमाह तदस्येति । असा-
धारणोपायार्जितं साधारणधनानुपघातेन स्वयमेवार्जितम् । उपन्यस्तं विद्या-
धनादिकमिति शेषः एतेषु प्रायेणासाधारण्यसम्भवादिति भावः । एवंविधमेव
विद्याशौर्यादिलभ्यमेव । साधारणमपीति । साधारणहेतुसमुत्पत्त्येवंविधमपि
साधारणमेवेति अयमेव शब्दयोर्वैपरीत्येन योजना कार्या अन्यथा क्रमागतस्यापि
साधारण्येन एवंविधमेव साधारणमिति यथाश्रुतासङ्गतेः । सुखावबोधार्थं
विशेषरूपेण शीघ्रबोधार्थम् । अर्थसाधारण्येनेति । यथा साधारणं समानित्वे-

त्वादि । व्यापारसाधारण्यं यथा अविद्यानाम् सर्वेषामोद्घातशेदकं भवेत् । समस्तं विभागः स्यादपित्र इति धारणा इत्यादि । सम्बन्धसाधारण्यं यथा ऊर्ध्वं पितृषु मातृशेत्वादि । इत्यत्र यत्रासुक्तपुत्रत्वपुरस्कारेणैकज्ये दत्तं तत्र सर्वेषामेव तत्पुत्राणामधिकार इति प्रतिपन्नम् । त्रदंशितं मुनिभिरिति शेषः । इत्यन्तेनेति । विद्युषीकृतमिति पूर्वोक्तान्वयः । उक्तार्थे संवादान्तरमाह बालके-
नापीति । विद्यादिना सन्धे साधारणानुपपत्तातेन इतरव्यापारनैरपेक्ष्यैव आजिते
॥ ५२—५९ ॥

यस्यानुपपत्तातप्रतिग्रहार्जितधनस्य विभागः शिष्टानां
दृश्यते स भ्रातृशेहेन पौरुषबुद्ध्या वा नानुपपन्नः । यदा
प्रतिग्रहधनस्य विद्याधनत्वात् विद्याधने च साधारणधनानुप-
पत्तातार्जितेऽपि समविद्याधिकविद्यानां विभागस्य वाचनिक-
त्वात् तद्विभागं पश्यन्तो विद्याधनस्य विद्याविशेषकृतोऽयं
विभाग इत्यजानन्तोऽविभक्तार्जितत्वेनायं विभाग इति
भ्रान्ताः स्वयमपि तथैव व्यवहृतवन्तः तन्मूलस्यापरापरव्यव-
हार इति न किञ्चिदनुचितम् ॥ ५४ ॥

ननु भ्रातृशेहेन पौरुषबुद्ध्या वा दाने न्यूनाधिकस्य सम्भवात् कथं समतया
प्रतिनिवृत्तो विभाग इत्यत आह यदेति । विद्याविशेषेति । विद्यार्जितधनस्य
यो विशेषः समाधिकविद्याभ्यां विभाज्यत्वद्वयः तत्कृतोऽयं विभाग इत्यजानन्
इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

यत् पुनर्मनुवचनम् ।

यत् किञ्चित् पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।

भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥

(मनु ८।२०४)

तस्यायमर्थः ।

पितेव पालयेत् पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन् यवीयसः ।

पुत्रवच्चानुवर्त्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ (मनु ८।१०८)

एतस्माद्वचनात् पितापुत्रवदवस्थानात् पितृर्जित इषा-
नुपघातार्जितेऽपि ज्येष्ठधने कनिष्ठानामधिकारः एतावान्
परं विशेषः पितृर्जितेऽविदुषामप्यधिकारो ज्येष्ठार्जिते
पुनर्विदुषामेव ॥ ५५ ॥

एतच्च पितरि प्रेत इति ज्येष्ठ इति यवीयसामिति
विद्यानुपालिन इति पदप्रयोगस्यानर्थक्यात् सिध्यति ॥ ५६ ॥

तस्मादविभक्तार्जितस्वमात्रेणाविभक्तभावनन्तरस्य भव-
तीत्यसङ्गतं वचनम् ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठोऽधिगच्छतीति, निरपेक्षश्रुतिबलात् ज्येष्ठ एवासाधारणधनसाम्याग
अजयतीत्यर्थः । पितापुत्रवदवस्थानादिति । पितृपरमानन्तरमिति शेषः वचनस्य
पितृपरमप्रकरणीयत्वात् । ज्येष्ठधने न तु मध्यमार्जितधने । ननु सामान्यवचनस्य
पितृपरमानन्तरं पितापुत्रवदवस्थानविषयत्वे किं प्रमाणमत आह एतच्चति ।
पितरि प्रेत इति । अनेन जीवति पितरि ज्येष्ठस्यासाधारणार्जिते न कनिष्ठाना
भाग इति प्रतिपादनात् पितृपरमानन्तर्यलाभः । ज्येष्ठ इति यवीयसामिति
आभ्याम् उत्तरवचने पितापुत्रवदवस्थितौ ज्येष्ठयवीयःपदप्रयोगबलाच्च पिता-
पुत्रवदवस्थानलाभः । विद्यानुपालिन इति । तेन विदुषामेवेति सिद्धम्, आनर्थ-
क्यात् सामान्यत एव ज्येष्ठार्जिते कश्चिदमात्राधिकारे आनर्थक्यात् ॥ ५५—५७ ॥

षष्ठः अध्यायः ।

द्वितीय परिच्छेदः ।

तत्र विद्याधनं तावदभिधीयते । तत्र कात्यायनः ।

उपन्यस्ते तु यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।

विद्याधनन्तु तद्विद्यात् विभागी न नियोजयेत् ॥

शिष्टादार्त्विज्यतः प्रश्नात् सन्दिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।

स्वज्ञानशंसनात् वादात् लब्धं प्राध्ययनाच्च यत् ॥

विद्याधनन्तु तत् प्राहुर्विभागे न नियुज्यते ।

शिल्पेष्वपि हि धर्मोऽयं मूल्याद् यन्नाधिकं भवेत् ॥

परं निरस्य यत्तत्त्वं विद्यया द्यूतपूर्वकम् ।

विद्याधनन्तु तद्विद्यान्न विभाज्यं बृहस्पतिः ॥ १ ॥

यदि भवान् भद्रकमुपन्यस्यति तदा भवते मया एता-
वद्देयमिति पणितं तत्रोपन्यासं निस्तीर्य लभते तन्न विभा-
ज्यम् ॥ २ ॥

शिष्यादध्यापितात् ॥ ३ ॥

आर्त्तिज्यतः यजमानात् दक्षिणादिना लब्धम् ॥ ४ ॥

दक्षिणा च न प्रतिग्रहो वेतनरूपत्वात् तस्याः ॥ ५ ॥

तथा यत्किञ्चित् विद्यायां प्रश्ने निस्तीर्णं अपणितमपि
यदि कश्चित् परितोषात् ददाति ॥ ६ ॥

तथा यो ह्यस्मिन् शास्त्रार्थे मम संशयमपनयति तस्मै
सुवर्णमिदं ददानीत्युपस्थितस्य संशयमपनीय यत्तत्त्वं, वादि-
नोर्वा सन्देहे न्यायकरणार्थमागतयोः सम्यङ्निरूपणेन
यत्तत्त्वं षष्ठांशादिकम् ॥ ७ ॥

तथा शास्त्रादिषु स्वप्रकृष्टज्ञानं विभाव्य यत् प्रतिग्रहा-
दिना लब्धम् ॥ ८ ॥

तथा द्वयोः शास्त्रविज्ञानविवादेऽन्यत्रापि यत्र कुत्रचि-
दन्योन्यज्ञानविवादे निर्जित्य यत्तत्त्वं ॥ ९ ॥

तथैकस्मिन् देये बह्वनामुपप्लवे येन प्रकृष्टमधीत्य यत्तत्-
त्त्वं ॥ १० ॥

तथा शिल्पादिविद्यया चित्रकरसुवर्णकारादिभिर्लब्धम्
॥ ११ ॥

द्यूतेनापि परं निर्जित्य यत्नम् तत् सर्वमविभाज्य-
मितरैः ॥ १२ ॥

असाधारणार्जितस्यापि विद्याधनस्य समविद्याधिकविद्ययोर्विभाज्यत्वमुक्तं
तच्च विद्याधनं किमित्याकाङ्क्षायां तन्निरूपणार्थमाह तत्रेति । तत्र तेष्वविभाज्य-
मानेषु मध्ये । अत्रेति पाठे अस्मिन्नवसरे इत्यर्थः । उपन्यसे त्विति । एतत्
सर्वं स्वयमेव व्याख्यास्यति । मूल्यादौति । साधारणस्वर्णादिकमादाय कुण्डला-
दिकं निर्माणं स्वर्णादिमूल्यात् शिल्पगुणेन अदधिकमूल्यं स्यात् तद्विद्याधन-
मित्यर्थः । विद्येति । द्यूतातिशयनैपुण्येन द्यूतपूर्वकं यत्नम्वित्यर्थः । वचनाधानं
क्रमेणाह यदीत्यादि । उपन्यासं निस्तौर्ध्वं भद्रकमुपन्यस्य । स्वज्ञानसञ्ज्ञा-
दित्यनेनाभिधास्यमानप्रतिग्रहधनेन पौनरुक्त्यमपाकर्तुमाशङ्क्याह दक्षिणा चेति ।
न प्रतिग्रहः न प्रतिग्रहेण लब्धं धनम् । प्रश्ने निस्तौर्ध्वं प्रश्नस्य सत्यगुणं दत्ते
एषा प्रश्नादित्यस्य व्याख्या । सन्दिग्धप्रश्नेति व्याचष्टे तथा यो ह्यस्मिन्निति
अत्रैव निकल्पेन व्याख्यान्तरमाह वादिनोर्वेति । स्वज्ञानसञ्ज्ञादिति व्याचष्टे
तथा ह्यास्त्रादित्येति । वादादित्यस्यार्थमाह तस्य इत्येति । निर्जित्य एक-
कीर्तिव्यवस्थापनेन विवादमपनीय लब्धं वादिपक्षितं राज्ञा वा प्रसाददत्त-
मित्यर्थः । प्राध्यवनादिति व्याचष्टे तथैकस्मिन्निति । शिल्पेष्वपीत्यस्यार्थमाह
तथा शिल्पादौति । लब्धं शिल्पगुणेन अदधिकं लब्धम् ॥ १—१२ ॥

तदयमर्थो यया कयाचिद्विद्यया यत्नममर्जकस्यैव तत्
नेतरपां प्रदर्शनार्थं तु कात्यायनेन विस्तरणोक्तं श्रीकरादि-
भ्रमनिरासार्थम् ॥ १३ ॥

अतः स्वज्ञानख्यापनादिना यत् प्रतिग्रहलब्धं तदपि
विद्याधनमेव विद्ययैव विदुषे प्रतिग्रहदानान् ॥ १४ ॥

तथा यमः ।

विद्याशीलो धर्मयुक्तः प्रशान्तः क्षान्तोदान्तः सत्यवादी क्षतज्ञः ।
वृत्तिग्लानो गोहितो गोशरस्त्रो दाता यज्वा ब्राह्मणः पात्रमाहुः ॥

अत्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।

नैषां प्रतिग्रहो देयो न शिला तारयेच्छिलाम् ॥ १५ ॥

विहन्तयेव पात्रत्वात् अविदुषाञ्चापात्रत्वात् ॥ १३ ॥

अतो यत् केनचिदुक्तं विद्याधनम् विद्याध्यापननिमित्तं
यत् तदुच्यते इति तदुक्तवचनादर्शनेनेति हेयमेव, विद्या-
शब्दस्य विद्वान् इत्यस्माद्वातोर्निष्पत्तेर्ज्ञानवचनात् ॥ १७ ॥

सर्वानुगमकमाह तदयमिति । तर्हि एतदेव मुनेरभिधानमुचितं किं
विस्तरेणेत्यत आह प्रदर्शनायमिति । अनुपपातार्जितविद्याधनोदाहरणार्थ-
मित्यर्थः । श्रीकरादीति । अविभक्तार्जितत्वमात्रेणैव विभाव्यत्वमिति तेषां
धनः तन्मूलकस्य परेषां तथाविधधनस्य निरासार्थमित्यर्थः । अत इति ।
कात्यायनेन विद्याधनमध्यपठितत्वादित्यर्थः । विद्याधनमेवेति । तेनात्र समा-
धेकविद्ययोरेव भागो नेतरैषामिति भावः । प्रतिग्रहधने विद्याधनपदस्य
शैमिकत्वमाह विद्यधैवेति । प्रमाणमाह तथा यम इति । धर्मयुक्तः नित्य
नेमित्तिकस्त्वधर्मात्यागी । प्रशान्तः स्वल्पलाभेनापि सन्तुष्टः । चान्तः केनापि
गिह्तिताऽपि समर्थः सन् तत्प्रीडापराधुखः । दान्तः इन्द्रियादिदमनशूलः ।
तप्तः प्रत्युपकारे सयत्नः । वृत्तिस्वान्तः शिलोच्छादिवृत्तिः वृत्तिहीनो वा ।
गिह्तिता गोषासाहर्ता । गोशरण्यो व्याघ्रादितो दुर्गाश्च परित्रायकः । आर्हा
राहुः । तदुच्यते तन्मात्रमुच्यते उक्तवचनादर्शनेन कात्यायनवचनादर्शनेन ।
वेद ज्ञान इति । तेन श्रित्यदूनादिलब्धस्यापि ग्रहणमित्युक्तम् ॥ १३—१७ ॥

यच्च प्रतिग्रहधनस्यापि विद्याधनत्वेन याजनाध्यापन-
प्रतिग्रहाणां सङ्कीर्णत्वमापादितं श्रीकरेण तदतिमन्दं विद्या-
धनत्वसामान्यस्य याजनाध्यापनप्रतिग्रहादिनानाव्यक्तिसम्बन्धे-
ऽपि व्यक्तीनामसङ्कीर्णत्वात् तदापि याजनाध्यापनस्याप्रति-
ग्रहत्वात् गोत्वसमवायेऽपि नीलकपिलकापोतिकादिव्यक्ती-
नामसङ्कीर्णत्वस्याविवादात् ॥ १८ ॥

अतएव शिष्यादार्त्विज्यतः प्राप्तयोर्विद्याधनत्वं स्मरन्
मुनिर्याजनाध्यापनयोः सङ्करात् कथं न विभेति । अतः पक्ष-
ग्रहणमात्रेण तदभिधानमिति हेयम् ॥ १९ ॥

सङ्कीर्णत्वमिति । सङ्कीर्णत्वभेदः । तथाहि याजनस्य विद्याधनत्वं विद्यया-
वार्त्विज्यकरणात् एवमध्यापनप्रतिग्रहयोरपीति त्रयाणामेकं विद्याधनत्वेन परस्पर-
भेदाभाव इति श्रीकराशयः । व्यक्तीनामिति । तथाच याजनादीनां विद्या-
धनत्वाविशेषेऽपि याजनत्वादिना परस्परं भेदसत्त्वात् न सङ्कीर्णत्वमिति भावः ।
गीत्वमिति । यथा नीलकपिलादियोग्यक्रीनां गीत्वविशेषेऽपि परस्परमसङ्कीर्णत्वं
विशेषरूपेण भेदसत्त्वात् तद्वदित्यर्थः । अतएव सामान्यरूपावच्छिन्नानामपि
विशेषरूपेण भेदसत्त्वादेव । कथमिति । केनापि प्रकारेण न विभक्तौत्यर्थः ।
पक्षग्रहणेति । पूर्वपक्षग्रहणमात्रेणेत्यर्थः । तदभिधानं सङ्कीर्णत्वाभिधानम् ।
हेयमिति । यतः पूर्वपक्षवचनं न तु सिद्धान्तवचनं तत् अतो हेयमित्यर्थः ।
यहा पक्षग्रहणमात्रेण याजनादिना अर्जकस्य पक्षग्रहणमात्रेण आपत्तिमुक्ति-
याजनादिधने विद्याधनत्वनिरासेन तत्र समाधिकविद्ययोर्भावनिरासात् तत्-
पक्षग्रहणस्य स्फुटत्वात् तदभिधानं पञ्चाशितं तदभिधानम् अतो हेय-
मित्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥

श्रौत्यादिधनमाह कात्यायनः ।

आरुह्य संशयं यत्र प्रसभं कर्म कुर्वते ।

तस्मिन् कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः ॥

तत्र लब्धन्तु यत् किञ्चिद्धनं श्रौत्येण तद्भवेत् ।

ध्वजाहृतं भवेद् यत्तु विभाज्यं नैव तत् स्मृतम् ॥

संग्रामादाहृतं यत्तु विजित्य द्विषतां बलम् ।

स्वाम्यर्थं जीवितं त्यक्त्वा तद्वजाहृतमुच्यते ॥ २० ॥

वैवाहिकन्तु तद्विद्याङ्गार्थया यत् सहागतम् ॥ २१ ॥

भार्याप्राप्तिकाले लब्धमित्यर्थः ॥ २२ ॥

तथा अपरमप्यविभाज्यमाह तुर्मनुविष्णू ।

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।

योगक्षेमप्रचारश्च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २३ ॥

(मनु ८.२१६)

वस्त्रमङ्गयोजितं पंक्तिपरिच्छेदादंश्च । पत्रं वाहनम्
अश्वादि । अलङ्कारम् अङ्गुलीयकादिम् । कृतान्नं लड्डुकादि ।
उदकं कूपवापौगतं प्रचारोपयुक्तम् । स्त्रियो दासीव्यति-
रिक्ताः । योगक्षेमप्रचारं शय्यासनभोजनाचमनाद्युपयुक्त-
भाजनादीनि ॥ २४ ॥

तथा व्यासः ।

अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि ।

याज्यं क्षेत्रञ्च पत्रञ्च कृतान्नमुदकं स्त्रियः ॥ २५ ॥

याज्यं यागस्थानं देवता वा न तु याजनलब्धं धनं, तस्य
विद्याधनत्वेनैव गतार्थत्वात् ॥ २६ ॥

तथा कात्यायनः ।

गोप्रचारश्च रथ्या च वस्त्रं यज्ञाङ्गयोजितम् ।

प्रायोज्यं न विभाज्यन्तु शिल्पार्थं तु वृहस्पतिः ॥ २७ ॥

प्रायोज्यं यद् यस्य प्रयोजनाहं यथा श्रुतादौ पुस्तकादि
तत् सूखैर्न विभजनीयं, शिल्पोपयुक्तञ्च शिल्पिनामेव नात-
दिदाम् ॥ २८ ॥

तथा शङ्खलिखितौ । न वास्तुविभागो नोदकपात्रा-
लङ्कारानुपयुक्तस्त्रीवाससामपां प्रचाररथ्यानां विभागश्चेति
प्रजापतिः ॥ २९ ॥

मशयमाहृद्य उत्कटसन्धावनाविषयमरणमप्यङ्गीकृत्य तत्र लब्धं तस्मिन्
प्रसादे सति लब्धम् । तत् ध्वजाङ्गतमिति । यद्यप्यतस्यापि शौचधनत्वेनैव
अविभाज्यत्वस्य सिद्धेः पृथगभिधानं व्यर्थं तथापि ध्वजाङ्गतपरिभाषाव्यादा-
भार्यमेव तद्वचनारम्भ इति बोध्यम् । भार्याप्राप्तिकाल इति । उपलक्षणमेतत्
कामादत्तपुरस्कारेण लब्धत्वादि लब्धं बोध्यम् । अङ्गयोजितमिति । तेषां

विक्रीवस्त्राभरणम् ऋणमुदयाश्चमण्यपीति वृद्धस्यतिवचनमेतद्व्यतिरिक्तवस्त्रपरं
 बहुमूल्यवस्त्रपरमित्यन्ये । प्रचारीपयुक्तं व्यवहारीपयुक्तं तेन यावन्निर्यस्य निवाङ्कः
 तेन तावत्स्येव आश्चापि न तु तत्र समाश्रयिण इति भावः । एकां स्त्री
 कारयेत् कर्म यथांशेन गृहे गृहे इति वृद्धस्यतिना दासीविभागीक्षेत्राङ्क दासी-
 व्यतिरिक्ता इति । श्रूयति । तथाच सर्वेषामेव व्यवहारिकवस्तुषु प्रत्येक-
 नियततुल्यमूल्येषु वस्त्रालङ्कारादिषु च सत्सु यद् यस्य तत्तस्यैव न तेषां विभाग
 इति तात्पर्यार्थः । न तन्मूर्खैरिति । एतच्च पुस्तकतुल्यमूल्यद्रव्यान्तरसत्त्वं
 पुस्तकं पण्डितैरेव मूर्खैस्तु द्रव्यान्तरमेव याश्चामित्येतत्परम् अन्यथा क्रमागतस्य
 पुस्तकमात्रधनस्य सत्त्वं तत्र मूर्खाणामनधिकारे तेषां वृत्तिलोपापत्तेरिति बोध्यम् ।
 अनुपयुक्तस्त्रीवाससामिति । अनुपयुक्तं मूर्खाणां पुस्तकादि । स्त्रीवाससो
 प्रागुक्ते ॥ २०—२६ ॥

पितरि जीवति यस्मिन् वास्तौ येन गृहोद्यानादिकं
 कृतं तत्तस्याविभाज्यं पितुरप्रतिषेधेनानुमतत्वात् ॥ ३० ॥

तथा पैतामहमपि द्रव्यं यच्चिरं नष्टम् अक्षमत्वात् अथवा
 प्रतीकारपराङ्मुखतया इतरैरप्रतिष्कृतं पित्रा स्वधनव्ययशरी-
 रायासाभ्यां प्रतिष्कृतं तत् पितुरेव न साधारणम् ॥ ३१ ॥

तथा मनुः ।

पैटकं तु पिता द्रव्यमनवासं यदाप्नुयात् ।

न तत् पुत्रैर्भजेत् सार्द्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ ३२ ॥

(मनु ८।२०८)

पैटकं द्रव्यं पुत्रैरनवासमप्रतिष्कृतम् ।

अनवाप्यमिति अनवाप्येति पाठावनाकरौ ॥ ३३ ॥

आह वृद्धस्यतिः ।

पैतामहं कृतं पित्रा स्वशक्त्या यदुपार्जितम् ।

विद्याशौर्यादिना प्राप्तं तत्र स्वाम्यं पितुः स्मृतम् ॥

प्रदानं स्वेच्छया कुर्याद्भोगश्चैव ततो धनात् ।

तदभावे तु तनयाः समांशाः परिकीर्त्तिताः ॥ ३४ ॥

स्वशक्त्येत्यसाधारणधनशरीरव्यापारं दर्शयति ॥ ३५ ॥

वचनद्वयेऽपि पितृपदसुपलक्षणं स्वयमर्जितमिति हेतो-
भिधानात् ॥ ३६ ॥

एवञ्च स्वार्जिताक्रमागतद्रव्यवदेव क्रमागतेऽप्येवंरूपे
भूमिव्यतिरिक्ते व्यवस्था वोढव्या ॥ ३७ ॥

भूमौ तु विशेषमाह शङ्कः ।

पूर्वनष्टान्तु यो भूमिमेकं एवोद्धरेच्छ्रमात् ।

यथाभागं भजन्त्यन्ये दत्त्वा भागं तुरीयकम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि असाधारणधनशरीरव्यापारमेवकारेण दर्शयति
।थापि ऊर्ध्वर्तुर्नासाधारण्यं किन्तु प्रतिकृतभूमिस्तुर्थ्यांशो-
धिकस्तस्मै दातव्यः भूमिपदसामर्थ्यात् तदविवक्षाकारणा-
त् ॥ ३९ ॥

इति विभाज्याविभाज्यनिरूपणम् ॥ ४० ॥

न वास्तुविभाग इति व्याचष्टे पितरि जीवतीति । पुत्रैरनवाप्तमिति ।
‘तावनाकराविति । अनवाप्येति पाठे अन्येषु निरक्षेपु इत्यध्याहारस्य अन-
प्यमिति पाठे तु अन्यैरशक्योद्धारमित्यर्थे लक्षणायाः प्रसङ्गादिति भावः ।
दभावे तु तनया इति । अत्र समानांशविधानं विशेषोद्धारं निरस्यति
नन्यथासिद्धिर्वचनादिति भावः । अधिक इति । तथाच उद्धर्ते उद्धृतभूमिस्तु-
र्ध्वमधिकं दत्त्वा तेन सह सर्वे समं विभजेरन्निति वचनार्थः । न तु अन्य इति
वशात् तस्मै तुरीयांशमावदानं तथात्वे अनुद्धर्तरेकत्वे द्वित्वे या उर्ध्वर्तुरेव
न्यप्रापया विषमश्रितत्वापत्तेरिति भावः । भूमिपदेति । भूमिस्तुर्ध्वमिति न्याये
माप्तमेतत् ॥ ३०—४० ॥

सप्तमः अध्यायः ।

सम्प्रति विभागानन्तरजातस्य विभागः कथ्यते, तत्र
मनुनारदौ ।

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्रमेव हरेद्धनम् ।

संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजित स तैः सह ॥ १ ॥

(मनु ८।२१६ । नारद १३।४३)

यदि पिता पुत्रान् विभज्य स्वयञ्च यथाशास्त्रं भागं
गृहीत्वा पुत्रैरसंसृष्ट एव मृतः तदा विभागानन्तरं जातः
पितृधनमेव गृह्णीयात् स एव तस्य भागः, अथ कैश्चित् पुत्रैः
सह संसृष्टः पिता मृतः तदा संसृष्टेभ्यो भागं गृह्णीयात् ॥ २ ॥

तथाच गोतमः । विभक्तजः पित्रमेव ॥ ३ ॥

(गोतम २८।२७)

विभागानन्तरं यस्य गर्भाधानं स विभक्तजः विभक्तेन
जनितः गर्भाधानादृते जनकस्य जननव्यापाराभावात् अतो
यद्यज्ञातगर्भायामेव स्त्रियां विभक्ताः पुत्राः तदनन्तरं जातो
भ्रातृभ्य एव भागं गृह्णीयात् ॥ ४ ॥

न केवलमेक एव किन्तु बहवोऽपि विभक्तजाताः पित्र-
मेव धनं गृह्णीयुः । यदाह बृहस्पतिः ।

पित्रा सह विभक्ता ये सापित्रा वा सहोदराः ।

जघन्यजाश्च ये तेषां पितृभागह्वरास्तु ते ।

अनीशः पूर्वजः पित्रे भ्रातृभागे विभक्तजः ॥ ५ ॥

सम्प्रतीति । पूर्वजातविभागानन्तरमित्यर्थः । यथाशास्त्रमित्यनेन शास्त्रा-

नभिज्ञतया यदि पिता स्वयं स्वस्य गृहीत्वा विभक्तः तदा विभक्तजस्य भ्रातृभ्यो भाग्यदृष्टं ध्वनितम् । अत इति । यतो विभागानन्तराहितगर्भजातस्यैव विभक्त-
जत्वम् अत इत्यर्थः । भ्रातृभ्य इति । एतच्च यदा पिता स्वयाच्छं गृहीत्वा अथ-
श्रिटं पुत्रेभ्यो दत्त्वा विभक्त एव तिष्ठति तदा बोध्यम्, पित्रमरणे तु पित्रभात-
भागानेकत्रीकृत्य यथाशास्त्रं सर्वैर्विभाज्यमिति । चूडामणिसु पितरि जीवत्यपि
पितामहधने तद्गृहीतव्यं शादेरशास्त्रीयतया सर्वमिष्टेन पुनर्विभाग इत्याह ।
अत्र ज्ञातगर्भायास्तु यदि गर्भस्थस्य भागः प्रागेव रक्षितः तदा पितरं भागं
विभक्तजाभावे सर्व एव विभजेयुः अथ पित्रेय चेद्गर्भस्थं निश्चित्यापि प्रसूतया
पुत्रेभ्यो भागो दत्तः तदा तेषामेव तत्र स्वाभ्यात् न तत्र गर्भस्थस्याधिकारः किन्तु
पित्रा एवेति, विभक्तजसत्त्वे तु तेन सह तुल्याश्रितेति बोध्यम् । पित्रा सहिति ।
जघन्यजा विभागानन्तरं पित्रोत्पादिताः ते पितृभागह्वरा न तु विभागात् पृथ-
क् जाताः । तत्र हेतुमाह अनौश इति । स्वामिनामेव विभागाह्वरादिति भावः ।
पूर्वोक्तविवरणमेतदिति केचित् ॥ १—५ ॥

विभागात् पूर्वं जातः पित्रे धनेऽनधिकारी विभक्तजस्य
भ्रातृधने । तथा,

पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत् स्वयमर्जितम् ।

विभक्तजस्य तत् सर्वमनौशाः पूर्वजाः स्मृताः ॥

यथा धने तथर्णेऽपि दानाधानक्रयेषु च ॥ ६ ॥

सर्वशब्दात् बहुतरमपि धनं पित्वार्जितं विभक्तजस्यैव ॥ ७ ॥

परस्परमनौशास्ते मुक्ताशौचोदकक्रियाः ॥ ८ ॥

अशौचोदकक्रियामात्रप्रदग्नेन सुदूरमेव धनाधिकारं
निरस्यति ॥ ९ ॥

इदञ्च पितृपात्तधनमात्रविषयम् । यदि तु पैतामहधन-
मपि भूस्यादिकं विभक्तं तदा तद्धनविभागं भ्रातृभ्य एव
गृह्णीयात् मातुर्निवृत्ते रजसि तद्विभागविधानात् ॥ १० ॥

तदाह विष्णुः । पितृविभक्ता विभक्तानन्तरोत्पन्नस्य
विभागं दद्यादिति ॥ ११ ॥ (विष्णु १७।३)

तथा याज्ञवल्करः ।

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् ।

दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ॥ १२ ॥

(याज्ञवल्कर २।१२३)

पित्रमेव हरेद्धनमिति विरोधात् उक्तयुक्तेषु क्रमागत-
धनविषयमिदम् ॥ १३ ॥

तथेति । दृष्टस्यतिरेवेत्यर्थः । स्वयमर्जितमित्यनेन पुत्रान्तरेण विभक्तसंस्मृ-
नापि पित्रा असाधारणधनव्ययशरीरायासाभ्यां यदुपार्जितं तदपि विभक्तजस्यैव
न संस्मृष्टनामित्युक्तम् । यथा धन इति । विभागानन्तरत्वं धनप्राप्त्यवत् विभक्त
पितृणपरिशोधनमपि विभक्तजैरेव कार्यम् एवमेतादृशेन पित्रा यद्वातुं प्रतियुतं
यथाङ्कितं बन्धकविधया दत्तं वा क्रीत्वा मूल्यं न दत्तं वा तत्सर्वं तस्यैव समा-
धेयमित्यर्थः । निरस्यति दृष्टस्यतिरेव । भूत्यादिकमित्यनेन निवन्सद्विपदयोर्दृष्ट्य
मणिमुक्तादिः स्वार्जिततुल्यत्वात् । निवृत्ते रजसीति । तथाच तद्विभागस्य अशा-
स्वीयत्वात् निवर्त्तनीयत्वमिति भावः । दृश्यादिति । वाग्व्योऽवधारणार्थः तेन
भुक्तव्यवच्छेदः । उक्तयुक्तेरिति । मातुर्निवृत्ते रजसीत्युक्तयुक्तेरित्यर्थः । तथाच
ज्ञातेऽज्ञाते वा गर्भे सादरजोनिवृत्तिं विना वा कृतपितामहधनविभागस्या-
शास्वीयतया निवर्त्तनीयत्वेन तद्धनविभागविषयत्वमेव अनन्तरोक्तवचनयोरिति
पूर्वेषां मन्वादिवचनानां पितुः स्वार्जितविषयत्वमेवेति न वैपरीत्याशङ्का कर्त्तव्यमिति
भावः ॥ ६—१३ ॥

अष्टमः अध्यायः ।

अथ विभागानन्तरागतविभागः । तत्र दृष्टस्यतिः ।

कृतेऽकृते विभागे वा रिक्थी यत्र प्रदृश्यते ।

सामान्यज्ञेनैवेद् यत्तु तत्र भागहरस्तु सः ॥

अरणं चेत्तं गृहं लेख्यं यस्य पैतामहं भवेत् ।

चिरकालप्रोषितोऽपि भागभागागतस्तु सः ॥ १ ॥

गोत्रसाधारणं त्वङ्गा योऽन्यदेशं समाश्रितः ।

तदंशस्यागतस्त्रांशः प्रदातव्यो न संशयः ॥

तृतीयः पञ्चमश्चैव सप्तमो वापि यो भवेत् ।

जन्मनामपरिज्ञाने लभेतांशं क्रमागतम् ॥ २ ॥

यं परम्परया मौलाः सामन्ताः स्वामिनं विदुः ।

तदन्वयस्यागतस्य दातव्या गोत्रजैर्मही ॥ ३ ॥

तदनेन चिरप्रोषितवंश्येन समन्ताद्वाप्तिभिर्मौलैरात्म-
न्नापनपूर्वकं भागग्रहणं कार्यम् ॥ ४ ॥

इति विभागानन्तरागतविभागः ॥ ५ ॥

अथेति । यद्यपि विभागानन्तरागतस्याधिकारितया विभागः सिद्ध एव तथापि तदंशपरम्पराजातस्य सप्तमपुरुषपर्यन्तस्यैव विभागश्चापनार्थं पृथक् विना-
रम्भः, स्वदेशावस्थानि चतुर्थपुरुषपर्यन्तस्यैव विभागाहंत्वादिति बोध्यम् । कृते
देशान्तरस्थितं विज्ञाय विभागे कृते । सामान्यं साधारणं विभागार्हमिति
भावः । खेद्यं शासनादुक्तं यद्वचनं, पैतमहं पूर्वपुरुषसम्बन्धि । तेन पूर्व-
पुरुषवित्तस्यैव तत्कृतस्यापि कृण्वत्याश्रिता । गृहादिकं साधारणद्रव्यमात्रापा-
लक्षणम् । सप्तमो वेति । वा शब्दः सप्तमान्तर्गतातुल्यसमुच्चायकः, तेन सप्तम-
पर्यन्तानामेव देशान्तरादागतानां भागिता, न त्वष्टमादेरिति । अत एवासप्त-
मादृक्वविच्छिन्नमभवतीति वचनमप्येतद्विषयमिति । केचित्तु वाकारोऽनास्थायां,
तेन वीजिस्त्रामिमरणादिदशायां यदि तत् प्रपौत्रपर्यन्तोऽस्य पूर्वजसिद्धेत् तदा
तस्य स्वामित्वेन तत्परम्पराजातस्य सप्तमादृक्स्याप्यधिकारः यद्योत्तरं धनस्य
संक्रान्तत्वात्, यदि तु वीजिस्त्रामिमरणादितः प्रागेव तत्प्रपौत्रपर्यन्तोऽस्य
पूर्वजो धनः तदा पञ्चमस्य पिण्डवर्द्धिर्भाविष्यानधिकारात् तत् पुत्रादेरपि नाधि-
कार इत्याहुः, तदसत्, तथा सति देशस्थविदेशस्थयोर्व्यवस्थायां विशेषाभावेन
वचनवैयर्थ्यापातात् अतएव सूक्ष्मीभूतशुष्यन्तरकल्पनापि प्रामाणिकीति सुधीभि-
र्भाव्यम् । मौलाः वंशपरम्पराक्रमेण तद्देशावस्थायिनः । सामन्ताः प्रतिवाप्तिन
इत्यर्थः ॥ १—५ ॥

नवमः अध्यायः ।

सम्प्रत्येकपिटकाणां सवर्णानुलोमपरिणीतस्त्रीजातानां
पुत्राणां विभागः कथ्यते ॥ १ ॥

अस्ति च सवर्णानुलोमस्त्रीपरिणयनम् । तथाच मनुः ।

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञः स्युस्ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ २ ॥

(मनु ३।१२—१३)

शूद्रैवेत्येवकारः सर्वत्र सम्बध्यते, सा ते ता इत्यनन्तर-
पूर्वोक्तपरामर्शात्, प्रतिलोमपरिणयनं सर्वथैव न कार्य-
मित्यर्थः ॥ ३ ॥

कामतस्तु प्रवृत्तानामिति, दोषाल्पत्वव्यापनार्थं न तु
दोषाभाव एव ॥ ४ ॥

तदाह तुः शङ्कलिखितौ । भार्याः कार्य्याः सजातीयाः
श्रेयस्यः सर्वेषां स्युरिति पूर्वः कल्पः, ततोऽनुकल्पः, चतस्रो
ब्राह्मणस्यानुपूर्वेण, तिस्रो राजन्यस्य, द्वे वैश्यस्य, एका
शूद्रस्य ॥ ५ ॥

जात्यवच्छेदेन चतुरादिसङ्ख्या सम्बध्यते ॥ ६ ॥

एकपिटकाणामिति । एकपिटकाणां विभिन्नजातिमादृकाणां पुत्राणा-
मित्यर्थः । अनुलोमेति । तेन प्रतिलोमपरिणयनं सर्वथैव नेति सूचितम् । ननु
प्रतिश्रेयं बालप्रलाप एव, एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वर इति याज्ञ-
वल्कीन सवर्णाविवाहमात्रस्य प्रतिपादनात् असवर्णाविवाहस्याप्रसक्तेरत आह
अस्ति चेति । प्रशस्ता गार्हपत्यप्रादिधर्मोपयोगिनौ, सवर्णाया एव सङ्कलेन

धर्मकर्माधिकारस्य, भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यस्य नैतिकम् । स्वा स्वैव कुर्यात्
द्वेषां नान्यजातिः कथञ्चनेति मनुना प्रतिपादनात् । कामतः विषयगोच-
रातिरागतः, न तु गृहिधर्मलिप्तया, तेनैतासां विवाहो भवत्येव किन्तु केवलं
तगाधीन एव स इति प्रतिपन्नम् । अतएव चतस्रो ब्राह्मणस्य परिणीताः
तिस्रो हे चैका चेतरेषामिति सङ्ख्याऽप्याह स्य । अतएवात्राऽपि वैदिककर्मतया
पूर्वे द्विज्याह्वादिकर्तव्यमेव, गोभिलेन संस्कारप्रचयनभिधाय सर्वाण्येवा-
न्वाहार्यवन्तीत्युक्तेः । दोषसंख्ये हेतुमाह तदाह्तरिति । अवानुकल्पत्वकथनेन
सवर्णपरिणयनसम्भवे तथाचरणस्यावैधत्वेन तदभिगमे प्रत्यवायः प्रतिपादित
इति, बोध्यम् । आत्यवच्छेदेनेति । आत्या इत्यर्थः । तेन ब्राह्मणस्य पञ्चषट्-
ब्राह्मणीविवाहो न विरुद्ध इति भावः ॥ १—६ ॥

एताः परिणीता एव भार्या भवन्ति । तथाह पैठौ-
नसिः । चतस्रो ब्राह्मणस्य परिणीतास्तिस्रो हे चैका चेत-
रेषाम् ॥ ७ ॥

इतरेषां राजन्यादीनां यथाक्रमं तिस्रो हे चैका चेति ॥ ८ ॥
आनुलोम्येऽपि द्विजातेः शूद्रायां बहुदोषमाहर्तुर्मनु-
विष्णु ।

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥
शूद्राविदे पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शीनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव ज्ञेयते ॥ ९ ॥

(मनु १।१५—१६—१७)

तदनेन क्रमोद्गाविषयत्वं वचनानां, हारीतवचनमपि
मन्वाद्येकवाक्यतया परिणीताविषयम् । यथा,

ब्रह्महा न भवत्यन्यो ब्रह्महा हृषलीपतिः ।

यस्तस्यामाहितो गर्भः स तेन ब्राह्मणो हृतः ॥

अतएव शूद्रावर्जं द्विजातिभार्यामाह शङ्खः ।

ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या ब्राह्मणस्य प्रकीर्त्तिता ॥

क्षत्रिया चैव वैश्या च क्षत्रियस्य प्रकीर्त्तिता ।

वैश्यैव भार्या वैश्यस्य शूद्रा शूद्रस्य कीर्त्तिता ॥ १० ॥

अतः स्वयमनूदायां शूद्रायामपत्यजनने नैते दोषाः किन्तु स्वल्पदोषः प्रार्याद्यत्तश्चास्पमिति वक्ष्यति ॥ ११ ॥

उत्पत्त्यतनयस्य गौतमस्य । पञ्चत्रयमिदं ब्राह्मणादित्रयाणां व्यवस्थित बोध्यम् । निन्द्यं व्युत्क्रमोदाविषयिणीति प्राचीनमतनिराकरणायाह तदनेनेति । कामतन्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः । शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते इति क्रमिकोटां शूद्रासुपक्रस्य निन्दावचनेनेत्यर्थः । व्युत्क्रमोदाविषयत्वे च क्षत्रियादीनामपि व्युत्क्रमोदाले दोषश्रवणात् हीनजातिपदवैयर्थ्यापत्तेरिति भावः । अनूदाया अल्पभिरमस्य शास्त्रीयतया निन्दायाः स्वयमनूदाविषयत्वमेव युक्तमित्यत आह हारीतेति । तथाचारवचनस्य पतिशब्दवलाद्गूढाविषयत्वेन तदेकवाक्यतया मन्वादिवचनमण्डाविषयकविधिनिषेधौ तु श्वेनवदुपपन्नाविति भावः । अतएवेति । यत एव शूद्रापरिणयने तस्यामपत्योत्पादनादौ च दोषः अतएवेत्यर्थः । स्वयमनूदायामिति । अन्येनोदायामित्यर्थः, तेन तदपरिणीतशूद्रासुताभिप्रायमिति वक्ष्यमाणेन विरोधः ॥ ७—११ ॥

अत्र चातुर्वर्ण्यपुत्राणां विभागमाह मनुः ।

त्रयंशं दायाद्वरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः ।

वैश्याजोऽध्यर्धमेकांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥

सर्वं वा रिक्त्यजातन्तु दशधा परिकल्प्य तत् ।

धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित् ॥

चतुरोऽंशान् हरेद्विप्र स्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः ।

वैश्यापुत्रो हरेद्द्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १२ ॥

(मनु ८।१५१, १५२, १५३)

किञ्चिद्गुणवत्त्वेन विभागप्रकारद्वयम् ॥ १३ ॥

तत्र विष्णुः ।

ब्राह्मणस्य चतसृषु चेत् पुत्रा भवेयुरित्यादि ।

(विष्णु १८।१)

अनेन क्रमेणांशकल्पना अन्यत्रापि भवतीत्यन्तम् ॥ १४ ॥

(विष्णु १८।४०)

किञ्चिद्गुणवत्त्वेनेति । यद्वापुषस्यापि किञ्चिद्गुणवत्त्वेनिर्गुणत्वाभ्यामित्यर्थः । विजातिपुत्राणामपि, किञ्चिद्गुणवत्त्वेनेति केचित् । कीनाम्नी ग्रीष्मो यानमन्त-
हारश्च वैश्यश्च । विप्रस्त्रीहारकं दैयमीकांश्च प्रधातयत् ह्युद्धारस्य प्रागभि-
हितत्वात् पूर्ववचनं स्त्रीहारविषयम् उत्तरवचनस्यानुद्धारविषयमिति रत्नाकरः
तदसन्, अत्रियविप्रोद्धारानुक्तेः तयोस्तदभावादाधिक्यविधानानुपपत्तेः ।
कीनाम्नी ऋषवाङ्कः । ब्राह्मणस्येत्यादि । आदिना पित्राद्यन्तः । दशधा
विभज्युः ब्राह्मणोपुत्रचतुरोऽंशानादद्यात् अत्रियापुत्रस्तोत्रं, हावंशौ वैश्यापुत्रः,
यद्वापुत्रस्तेकम्, अथ चेत् यद्वापुत्रवर्जं ब्राह्मणस्य पुत्रा भवेयुः तदा नवधा
विभज्युः चतुस्त्रिभिर्भागैस्तान्शानादद्युः, वैश्यवर्जम् अष्टधा विभज्य चतुर-
स्त्रीनैकञ्च सप्तदद्युः, अत्रियवर्जं सप्तधा कृत्वा चतुरो हावेकञ्च, ब्राह्मणवर्जं
षड्धा कृत्वा त्रीन् हावेकञ्च, अत्रियस्य अत्रियवैश्यशूद्रैर्वैविभागः अथ ब्राह्मणस्य
ब्राह्मणचत्रियो पुत्रौ स्यातां तदा सप्तधा कृत्वा ब्राह्मणचतुरोऽंशान् शूद्रो-
यात् त्रीन् राजन्यः, ब्राह्मणस्य ब्राह्मणवैश्यौ चेतदा षड्धा विभज्य
चतुरोऽंशान् ब्राह्मण आदद्यात् द्वौ वैश्यासुतः, अथ ब्राह्मणस्य ब्राह्मणशूद्रौ
पुत्रौ स्यातां तदा पञ्चधा विभज्यतां चतुरोऽंशान् ब्राह्मण आदद्यात् एकं
शूद्रः, अथ ब्राह्मणस्य अत्रियवैश्यौ सुतौ स्यातां तदा तद्वन्नं पञ्चधा विभज्यतां
त्रीन्शान् अत्रियस्त्रादद्यात् हावंशौ वैश्यः, अथ ब्राह्मणस्य अत्रियस्य वा अत्रिय
शूद्रसुतौ स्यातां तदा तद्वन्नं चतुर्धा विभज्यतां त्रीन्शान् अत्रिय आदद्यात्
एकं शूद्रः, अथ ब्राह्मणस्य अत्रियवैश्ययोर्वा वैश्यशूद्रौ सुतौ स्यातां तदा तद्वन्नं
त्रिधा विभज्यतां हावंशौ वैश्य आदद्यात् एकं शूद्रः, यदि ब्राह्मणोपुत्रौ
वौ स्यातां यद्वापुत्र एकः तदा ब्राह्मणोपुत्रो अष्टभागान्दद्याताम् एक यद्वासुतः,
अथ यद्वासुतौ द्वौ स्याताम् एको ब्राह्मणोपुत्रः तदा षड्धा विभज्य
चतुरोऽंशान् ब्राह्मणस्त्रादद्यात् हावंशौ यद्वासुताविति, अनेन क्रमेणांशकल्पनाय-

वापि भवतीति विश्वसूत्रं, विस्तरमयादनेन न लिखितम् । अन्यत्रेति ;
ब्राह्मणीपुत्र, एकः क्षत्रियापुत्री द्वौ क्षत्रियापुत्र एकः ब्राह्मणी पुत्री वाविद्यादि
वित्यर्थः । जन्मना ज्येष्ठो ब्राह्मणीपुत्रापि क्षया । भवेदिति । ब्राह्मणपुत्रेण
सह समांशो भवेदित्यर्थः ॥ १२—१४ ॥

ब्राह्मणजातो राजन्यापुत्र एव यदि जन्मना सर्वज्येष्ठो
गुणवांश्च, तदा ब्राह्मणेन सह तुल्यभागः कार्यः, ब्राह्मणेन
क्षत्रियेण वा जातो वैश्यश्चेत्तद्रूपः, तदा क्षत्रियेण सह
तुल्यांशौ । यथाह बृहस्पतिः ।

विप्रेण क्षत्रियाजातो जन्मज्येष्ठो गुणान्वितः ।

भवेत् समांशः क्षत्रेण वैश्याजातस्तथैव च ॥

तथा बौधायनः । सवर्णापुत्रानन्तरापुत्रयोरनन्तरापुत्र-
श्चेद् गुणवान् ज्येष्ठभागं गृह्णीयात् गुणवान् हि शेषाणां भर्त्ता
भवतीति ॥ १५ ॥

अनेनैव शूद्रस्याप्येवंविधस्य वैश्येन सह समांशिता
दर्शिता ॥ १६ ॥

या तु प्रतिग्रहेण पित्रार्जिता भूमिः, सा ब्राह्मणीपुत्रस्यैव,
न क्षत्रियादेः गृहं क्रमागतं क्षेत्रं द्विजातिपुत्राणामेव, न
शूद्रस्य । तदाह बृहस्पतिः ।

ब्रह्मदायागतां भूमिं हरियुर्ब्राह्मणीसुताः ।

गृहं द्विजातयः सर्वे तथा क्षेत्रं क्रमागतम् ॥ १७ ॥

क्रमादागतयोः पितामहप्रपितामहादिगृहीतयोः सकल-
द्विजातिसम्बन्धः, क्रमागतमित्यविशेषणाभिधानात् । प्रति-
ग्रहभूमी च क्षत्रियादिसुतानामेवाधिकारनिषेधेन तन्मतादी-
नामप्यननुज्ञानम् ॥ १८ ॥

तदाह ब्रह्मस्यतिः ।

न प्रतिग्रहभूदेया क्षत्रियादिसुताय वै ।

यद्यप्यस्य पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥

एवञ्च प्रतिग्रहभूमिरेव ब्रह्मदायागतेत्युक्तम् । ब्रह्म वेदः
तदध्ययनतदर्थज्ञानवत्तया प्रतिग्रहविधानात् ॥ १८ ॥

न पुनर्मनूक्तार्चनलब्धा । यथा,

आहुत्तानां गुरुकुलादिप्राणां पूजको भवेत् ।

नृपाणामक्षयो ह्येष विधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥

(मनु ७।८२)

अर्चनरूपत्वादस्य ॥ २० ॥

अथवा इयमेकेन निषिद्धा अन्या, परेण ॥ २१ ॥

विप्रेण वैश्याज्जातः तथाविधः क्षत्रियेण जातः तथाविधः क्षत्रियेण समाग्र
इत्यर्थः । दर्शिता इति । सवर्णापुत्रानन्तरापुत्रयोरिति सामान्याभिधाना-
दिति भावः । अविशेषेणेति । पैतामहमिति विशेषमनभिधाय क्रमागत-
मिति प्रपितामहादिसम्बन्धिसाधारणसामान्याभिधानादिति भावः । जम्पादीना-
मिति । क्षत्रियादिपौत्राणामित्यर्थः । अननुज्ञानम् अधिकारेऽनुमत्यभावः
सिद्धमिति शेषः सम्बन्धिनीऽनधिकारे स्तसम्बन्धिसम्बन्धिनीऽनधिकारस्य दण्डा-
पूपन्यायसिद्धत्वादिति भावः । एवञ्चेति । ब्रह्मस्यतिवचनेकमूलकत्वादिति भावः ।
उक्तं ब्रह्मन्मनुना । विधानात्, विद्याशीलो धर्मयुक्तः प्रशान्त इत्यादिना
दानपात्रकथनादिति भावः । अर्चनलब्धमाह आहुत्तानामिति । गुरुकुलात्
विद्यामधीत्य स्वगृहगतानामित्यर्थः । एष विधिः अर्चनविधिः अक्षयोऽभि-
धीयते इत्यन्वयः । अर्चनरूपत्वादस्येति । अर्चनं पूजा, सा च गौरवित-
प्रोतिष्ठेत्तुक्रिया तथाच तद्दानक्रिया परितोषार्थेन नाट्यार्थं अतस्तत्स्वीकारो
न प्रतिग्रहः अट्टार्येत्यक्तद्रव्यस्वीकारस्यैव प्रतिग्रहत्वादिति भावः । प्रतिग्रह-
भूमादपरले ब्राह्मपदानर्थक्यमाशङ्क्याह अथवेति । इयम् अर्चनरूपा एकेन
मनुना । अन्या प्रतिग्रहभूः परेण ब्रह्मस्यतिना, तथाच उभयरूपा भूमाश्रयी-
पुत्रस्यैवेत्यर्थः ॥ १५—२१ ॥

न तु ब्राह्मणस्य भूमिर्ब्रह्मदायः द्विजातीनां क्रयागतक्षेत्र-
सम्बन्धस्य वाचनिकत्वात् केवलशूद्रस्यैव निषेधाच्च ।

यथा ब्रह्मस्यतिः ।

शूद्रां द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति ।

सजातावाप्नुयात् सर्वमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

भूमिमात्रोपादानात् क्रयप्रसादादिनापि द्विजातिलब्ध-
भूमौ शूद्रस्यानधिकारः सिद्ध्यति ॥ २३ ॥

यस्तु शूद्र एवैकः पुत्रो ब्राह्मणस्य स तृतीयभागाधिकारी,
भागद्वयं सपिण्डानां, तदभावे सकुल्यानां, तदभावे आह-
कर्तुः । यथा देवलः ।

निषाद एकः पुत्रस्तु विप्रस्य स तृतीयभाक् ।

द्वौ सपिण्डः, सकुल्यो वा, स्वधादाताथवा, हरेत् ॥ २४ ॥

ब्राह्मणेन शूद्रायां जातो निषाद उच्यते ।

सपिण्डसकुल्ययोस्तु भेदं वक्ष्यति ॥ २५ ॥

ब्रह्मैव दायोधनमस्येति योगात् ब्राह्मणसम्बन्धिभूम्यर्थत्वमाशङ्का न त्विति ।
ननु तथापि गृहक्रमागतचेतातिरिक्तभूमात्रे ज्ञादेरनधिकारः स्यादत आह
केवलेति । तद्दर्शयति यथेति । सजाताविति । शूद्रां शूद्राज्जात इत्यर्थः ।
सर्वमिति । न तु तत्र भूमिकृती विशेष इति भावः । तथाचेतश्चने शूद्रा-
पुत्रमात्रस्य निषेधेन प्रतिगृहीतातिरिक्तभूमौ क्षत्रियादेरधिकारसिद्धेर्न योगवलेन
ब्रह्मदायागतपदस्य ब्राह्मणसम्बन्धिभूम्यर्थत्वमिति भावः । इत्युच्येतश्चनैकवाक्यतया
मनुवचनमपि शूद्राधिकारनिषेधार्थं परिसङ्ग्राहिधरेव न तु द्विजातीनामधि-
कारविधिः तस्य विध्यन्तरप्राप्तया विधानासम्भवादिति बोध्यम् । वक्ष्यति,
अपुत्रधनाधिकारप्रकरणे इति शेषः ॥ २२—२५ ॥

क्षत्रियवैश्ययोस्तु यदि शूद्र एवैकः पुत्रः तदा तद्धनस्यार्ध-
हरः, अपरमर्द्धं वक्ष्यमाणापुत्रधनाधिकारक्रमेण गृह्णीयुः ।

तथा विष्णुः । द्विजातीनां शुद्रस्त्वेकपुत्रोऽर्धहरः अपुत्रार्थस्य
या गतिः सा अर्धस्य द्वितीयस्य ॥२६॥ (विष्णु १८।३२—३३)

इदञ्च तृतीयभागाधिकारित्वमर्धहरत्वञ्च विद्याविनय-
सम्पन्नस्येति वेदितव्यम् । यदाह मनुः ।

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्दद्यात् शुद्रापुत्राय धर्मतः ॥

(मनु ८।१५४)

अनेन द्विजातिपुत्राभावेऽपि दशमांशाधिकदाननिषेधात्
पूर्वस्य, उत्तमैकशूद्रापुत्रगोचरत्वमेव ज्ञायते । यच्च मनुना ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्त्यभाक् ।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेदिति ॥ •

(मनु ८।१५५)

अनेन रिक्त्यभागित्वमेव निषिद्धं तत् पितृप्रसादलब्धधन-
दशमांशत्वे सतीति विज्ञेयम् ॥ २७ ॥

यच्चाह बृहस्पतिः ।

अनपत्यस्य शुश्रूषुर्गुणवान् शुद्रयोनिजः ।
लभेताजीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः ॥
वर्त्तनीचित्तकृत्थाद्यर्थं किञ्चिद्दातव्यमित्यर्थः निर्गुणस्य
अन्तेवासिविधिना वृत्तिमूलं भक्तादिकं पादशुश्रूषया देयम् ।

यच्चाह मनुः ।

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत् सुतम् ।
स पारयन्नेव श्वस्तस्मात् पारशवः स्मृतः ॥

(मनु ८।१७८)

तदपरिणीतशूद्रासुताभिप्रायं, परिणीतायाः सक्तदृतावुप-
गमनस्य वैधत्वात्, तत्रैव च गर्भस्थितेः न च द्वितीयादि-
सम्पर्केष्वपि । यथा याज्ञवल्कराः ।

अपुत्रे भ्रातरि मृते तान्नु गच्छेदृतौ सक्तत् ।

तथा मनुः ।

यथा विध्युपगम्येनां शुक्लवस्त्रां शुचित्रताम् ।

मिथो भजेदाप्रसवात् सक्तत् सक्तदृतावृतौ ॥

(मनु ८।१७०)

प्रथमोपगमनमात्रस्य गर्भहेतुत्वे सक्तद्वचनं दृष्टार्थं स्यात्,
अन्यथाऽदृष्टार्थत्वमस्य कल्पनीयम्, अतएव लोकेऽपि प्रथम-
सम्पर्कदिवसमादाय मङ्गलाचारार्थं नियतमासविहितपुं-
वनसीमन्तोन्नयनाद्यर्थं मासगणना दृश्यते । अतः कामादितु-
पादयेत् सुतमित्यनूदाशूद्राभिप्रायमेव ॥ २८ ॥

तथा विष्णुरिति । अत्र हिजातिपदं क्षत्रियवैश्योभयपदं, न तु ब्राह्मणपरमपि
विप्रस्य तृतीयांशमिधायकदेवलवचनविरोधात् बहुवचनानु व्यक्तिभेदादिति
भावः । सत्पुत्रः विद्यमानहिजातिपुत्रः । अपुत्रः शूद्रातिरिक्तपुत्रशून्यः । पित्र-
प्रसादिति । यदि पितृप्रसादलभ्यस्य दशमांशतुल्यत्वं तदा शूद्रापुत्राय अन्यत् न
देयमित्यर्थः । विज्ञेयमिति । यदेवास्य पिता दद्यादित्युक्तेरिति भावः । आजी-
वनमिति व्याचष्टे वर्त्तनीचिरेति । तत् अनन्तरीक्तवचनवचनम् । अपरिणीता
केनाप्यपरिणीता किन्तु याम्यधर्माधिसवरूढा । अपरिणीताविधत्वे हेतुमाह
परिणीताया इति । तथाच परिणीताजातस्य विधिविहितपुत्रत्वेन प्राश्नस्यात्
भागिता युक्ता अपरिणीताजातस्य तु प्रतिषिद्धपुत्रत्वेनापकर्षात् न भागिता किन्तु
यासांकादनमात्रादृता इति न वैपरीत्याशङ्केति भावः । केचित्तु वैधत्वादिति ।
तथाच विधिविरोधेन निन्दायास्तदितरविषयत्वस्यैव युक्तत्वादित्याशय इत्याहुः ।
तदसत् स पारयन्नेव शब्द इति निन्दाया वैधवैधसाधारणत्वेन सङ्गीषे हेल-
भावात् । ननु सक्तदभिगमस्य वैधत्वेऽपि न पुत्रोत्पत्तिवैधत्वमत आह तत्रैवेति ।
प्राथमिकमभिगम एवेत्यर्थः गर्भस्थितेः गर्भोत्पत्तेः तथाच निमित्तस्य सक्तदभिगमस्य

वैधत्वेन नैमित्तिकस्य पुत्रजननरूपफलस्यापि वैधत्वं तदर्थमेव तत्प्रतिपादनात्
यथा फलचमसमस्यै भक्ष्यं प्रयच्छतीत्यत्र ऋत्विजे फलचमसदानस्य नैमित्तिकस्य
वैधतया ऋत्विजः फलचमसभक्षणमपि वैधमिति भावः । ननु पर्ववर्जं व्रजे-
दृताविति विधौ ऋत्विगभिगमनसामान्यस्य वैधतया सकृदिति कथं तत्राह नेति ।
उक्तार्थे प्रसाधमाह यथेति । दृष्टार्थमिति । पुत्रजननरूपदृष्टप्रयोजनार्थमित्यर्थः ।
अन्यथा अन्यस्याभिगमनस्यापि पुत्रीत्यपि हेतुत्वे । अस्य सकृदभिगमनविधानस्य ।
तथाच पुत्रार्थं प्राथमिकाभिगम एव शास्त्रार्थः द्वितीयाद्यभिगमनान्तु दृष्टप्रयो-
जनमात्रार्थमिति साधुक्तं सकृदिति भावः । अतएव सदैव वा पर्ववर्जं तासां
वरमनुस्मरन्निति सदाभिगमनं वरस्मरणनैमित्तिकतया निर्दिष्टम् अन्यथा पुत्र-
नैमित्तिकमिव निर्दिश्येत । प्रधान्यादिति मङ्गलीति । अभिप्रेतार्थसिद्धिमङ्गलं
तदाचारार्थं तत्प्राप्त्यर्थमित्यर्थः । तदपरिणीताशूद्रापुत्राभिप्रायमित्युक्तमुपमहरति
अत इति ॥ २६ = २८ ॥

शूद्रस्य पुनरपरिणीतादास्यादिशूद्रापुत्रः पितुरनुमत्या
पुत्रान्तरतुल्यांशहरः । तदाह मनुः ।

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।

सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २८ ॥

(मनु ८।१७८)

अनुमतिमन्तरेण त्वर्क्षंशहरः । तदाह याज्ञवल्करः ।

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोऽंशहरो भवेत् ।

मृते पितरि कुर्युस्त्वं भ्रातरस्त्वर्क्षभागिनम् ॥ ३० ॥

(याज्ञवल्कर २।३४)

परिणीतास्त्रीजातभ्रातृशून्यस्तु सर्वमेव धनं गृह्णीयात्
यदि दौहित्रो नास्ति । तदाह याज्ञवल्करः ।

अभ्रातृको हरेत् सर्वं दुहितृणां सुतादृते ।

(याज्ञवल्कर २।१३५)

सति तु दौहित्रे समं विभज्य गृह्णीयात् विशेषाश्रवणात् ॥

तथाह्यपरिणीताजातत्वेऽप्यस्य पुत्रत्वात्, अपरस्य तु परि-
णीतासक्तानत्वेऽपि दौहित्रत्वात् तुल्यांशस्यैव युक्तत्वात् ॥ ३१ ॥

दासदास्यामिति । दासस्यापरिणीतरक्षितायामित्यर्थः । सममिति । सम-
स्यादशुतत्वादिशेषस्येति न्यायादिति भावः ॥ ३६—३१ ॥

दशमः अध्यायः ।

सम्प्रति पुत्रिकाकरणानन्तरमौरसपुत्रे जाते तयोर्विभागः
प्रतिपाद्यते ॥ १ ॥

तत्र पुत्रिकौरसयोस्तुल्यांशित्वं न पुनः पुत्रिकाया ज्येष्ठ-
त्वेन विंशोद्धाराहता, तदाह मनुः ।

पुत्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।

समस्तत्र विभागः स्यात् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥

(मनु ८।१३४)

स्त्रतो ज्येष्ठपुत्रकार्याकरणात् स्वपुत्रद्वारेण पुत्रिकायाः
पिण्डदातृत्वात् । तदाह मनुः ।

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।

यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम् ॥ २ ॥

(मनु ८।१२७)

न च पुत्रिकायामेव प्रथमं पुत्रे जाते तदनन्तरमौरस-
पुत्रोत्पत्तौ पुत्रिकापुत्रस्य ज्येष्ठांशता भवेदिति वाच्यं तस्य
प्रीतिवत्त्वात् । तदाह मनुः ।

अकृता वा कृता वापि यं विन्देत् सदृशात् सुतम् ।

पौत्री मातामहत्वेन दद्यात् पिण्डं हरेद्वनम् ॥

(मनु ८।१३६)

पुत्रिका हि पुत्रस्तस्याः पुत्रः पौत्र एव भवति
इति पौत्री भवति न च ज्येष्ठत्वेन पौत्रस्यांशातिरेकः
युतोऽस्ति ॥ ३ ॥

ज्येष्ठता श्रेष्ठता सा च पुत्राभ्युदयानुविबन्धना तदभावात् श्रेष्ठत्वाभावात्
तत आह स्वत इति । साक्षादित्यर्थः । ज्येष्ठेति । ज्येष्ठपुत्रकार्यं पुत्राभ्युदयानु-
विबन्धनं तदकरणात् । तर्हि पुत्रिकाकरणं किमर्थमत आह स्वपुत्रहारेणेति ।
इति तदकरणात् त्रिविधक्रियाकरणं अन्यथा स्वपुत्रहारेण्यस्य ग्राहकरणमात्रार्थत्वे
नेहान्तरसाधारण्यात् पुत्रिकाकरणवैयर्थ्यापत्तेः । एतेन पुत्रिकापुत्रसंज्ञेऽपि
पुत्रिकाया एव प्रेतकृत्याधिकार इति मतमपि निरसमिति वेदितव्यं तेषां च
तत्परोपकारार्थमेव पुत्रिकापुत्रकरणमिति भावः । ज्येष्ठांशेति । तस्य
आदेव ज्येष्ठपुत्रकार्यकरणमिति भावः । बौद्धत्वादिति । आतिदेविकपौत्र-
वादित्यर्थः ॥ १—३ ॥

यत्तु वशिष्ठवचनम् ।

अभ्राह्मणं प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृतम् ।

अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

(वशिष्ठ १७।११६)

पुत्रिकापुत्रस्यैव पुत्रत्वं वदति तेन पुत्रिकायास्तत्पुत्रस्य
च पुत्रत्वं तन्न मनुविरोधात् पिण्डदानमात्रयोगात् पुत्र-
त्वमस्य गौणं तद्वारिणैव पुत्रिकायाः पिण्डदातृत्वात् एकस्य
स्वतोऽन्यस्य तदुयोगात् ॥ ४ ॥

पुत्रिकौरसयोस्तु सवर्णत्वे सति पूर्वोक्तविभागो बोद्धव्यः
असवर्णत्वे तु तयोरसवर्णोरसपुत्रवदेव विभागः पुत्रिकौरसयोः
समानत्वात् ॥ ५ ॥

यदि च कृतापि पुत्रिका पुत्रमनुत्पाद्यैव विधवा भूता
बन्ध्यात्वेन हि वावधृता तदा तस्याः पिढधनेऽनधिकारः,
स्वधाकरपुत्रार्थं पुत्रिकायाः कृतत्वात् तदभावे दुहितृस्तर-
तुल्यत्वात् ॥ ६ ॥

मनुविरोधादिति । न च विनिगमनाविरहः किं मनुविरोधात् कश्चित्
पुत्रत्वं गौणम्, किंवा कश्चिद्विरोधात् मनुक्तं पीतत्वमेव गौणमिति वाच्यं
मनुवृत्तेः सर्ववृत्तिप्रवृत्तत्वेन विनिगमकत्वात् । पुत्रत्वं पुत्रव्यपदेशः । गौ-
मिति । पिण्डदाढलस्य सुख्यपुत्रगुणस्य योगात् गौणता बोध्या । पिण्डदान
योगमेवोपपादयति तद्वारेणैवेति । एकस्य पुत्रिकापुत्रस्य, अन्यस्य पुत्रिकास्वरूपस्य
तदयोगात् पुत्रयोगात् । न च परस्परया पिण्डदानापेक्षया साक्षात् पिण्ड-
दानस्य बलबलत्वेन पुत्रिकापुत्रस्यैव पुत्रत्वं न्याय्यं न तु पुत्रिकाया इति वाच्यं
पुत्रिकाया अङ्गजत्वात् तदधीनजन्यतया च तत्पुत्रस्य पिण्डदानयोगात् तस्या
एवोक्त्येण पुत्रत्वौचित्यात् । एतद्व्यायादेव अपुत्रिकाया अपि दुहितृभूता
एव दौहित्राधिकारं ब्रूयति अन्यथा साक्षादुपकारकतया दौहित्रस्यैव प्रागधि-
कारापत्तेः अतएव समस्तवेत्यनेन पुत्रिकौरसयोरेव समभागिता मनुक्ता न तु
तस्याः पुत्रस्य औरससमभागिता केनाप्युक्तेति, इत्यस्य पुत्रिकापुत्र एव चेति
द्वादशविधपुत्रमणनायां कर्मधारयी न तु तत्पुरुष इति विभावनीयम् ।
पूर्वोक्तविभाग इति । समभाग इत्यर्थः । असवर्णत्वे तु औरसस्यासवर्णत्वे
तु औरसशब्दोऽत्र परिणीतायां स्वयमुत्पादितपरः न तु सवर्णायां संस्कृताया
स्वयमुत्पादयेत्तु यम् । औरसं तं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितमित्युक्तौरसपरः
तस्य तु असवर्णत्वासम्भवात् । असवर्णौरसपुत्रवदिति । सवर्णौरसेन सह
असवर्णौरसस्य अत्रियादेर्द्वादशस्त्रिंशोऽंशरूपो भागः तादृश इत्यर्थः । दुहितृ-
स्तर तुल्यत्वादिति । एतावता यथा बन्ध्यायामपुत्रिकायां तदनन्तराधिकारिणी
गृहीयुस्तथा पुत्रिकायामपीति प्रतिपादितम् ॥ ४—६ ॥

औरसेन तु क्षेत्रजादीनां विभागे ये पिढसवर्णा औरस-
पुत्राश्चोत्तमसमवर्णाः पुत्रिकापुत्र क्षेत्रज कानीनगूढजापवि-
सहोदज पीनर्भव दत्तक स्वयमुत्पागत कृतक क्रीताः पुत्राः ते
औरसपुत्रभागस्य द्वितीयांशभागिनः । तदाह द्वादशपुत्रा-
नभिधाय देवतः ।

एते द्वादशपुत्रास्तु सन्तत्यर्थमुदाहृताः ।
 आत्मजाः, परजाश्चैव, सत्या, यादृच्छिकास्तथा ॥
 तेषां षट् बन्धुदायादाः पूर्वोऽन्ये पितुरेव षट् ।
 विशेषश्चापि पुत्राणामानुपूर्व्या विशिष्यते ॥
 सर्वे ज्ञनौरसस्येते पुत्रा दायहराः स्मृताः ।
 औरसे पुनस्त्यक्ते तेषु ज्येष्ठं न विद्यते ॥
 तेषां सवर्णा ये पुत्रास्ते तृतीयांशभागिनः ।
 ह्येनास्तुपुत्रीवैयुर्थासाच्छादनसम्भृताः ॥ ७ ॥

औरसादयः षट् न केवलं पितृदायहराः किन्तु बन्धू-
 नामपि सपिण्डादीनां दायहराः, अन्ये परभूताः पितुरेव परं
 दायहराः न सपिण्डादीनाम् ॥ ८ ॥

औरसपुत्रशून्यस्य पितुः सर्वहराः औरसे सति ये पितृ-
 सवर्णास्ते तृतीयांशहराः ॥ ९ ॥

पुत्रिकाया अपि औरसतुल्यत्वादयमेव भागक्रमः ॥ १० ॥

ये तु पितुर्हीनवर्णा औरसपुत्राच्चोत्तमवर्णास्ते औरसस्य
 पञ्चमं षष्ठं वांशं गुणवदगुणतया गृह्णीयुः । यथा मनुः ।

गृह्णन्तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात् पैतृकाद्वनात् ।

औरसो विभजन् दायं पितरं पञ्चममेव वा ॥ ११ ॥

(मनु ८।१५४)

देवसवचनेन सर्वेषां क्षेत्रजतुल्यत्वाभिधानात् मनुवचनं
 क्षेत्रजपदसुपलक्षणम् ॥ १२ ॥

द्वादशपुत्राविति । पुत्रिकाया सहित्यर्थः । आत्मजाः औरसपौत्रमव-
 िविष्टाः । परजाः क्षेत्रजाः । सत्याः दत्तकपौत्रादौदवर्गीयज्जतिनाः ।
 यादृच्छिकाः अधमोपस्थिताः अपविष्टस्यसुपागतगृहीत्यन्नाः । ये पितृसवर्णा-
 वि । ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्यां जातः क्षेत्रजः औरसश्चत्रियावैश्यापुत्रापेक्षया

उत्तमवर्णः पितुः सवर्णः पितृसवर्णं हत्वेवमादय इत्यर्थः । अयमेवेति । औरसेन सह तेषां यो विभागक्रमः तृतीयांशक्रमः स एव पुत्रिण्यापि सहेत्यर्थः । एतदर्थेनेव स्वयंक्रतवाद्दशविधपुत्रगणनायां पुत्रिकायाः प्रथममुद्दिष्ट इति बोध्यम् । गुणवदगुणतयेति । सगुणत्वनिर्गुणत्वाभ्यामित्यर्थे इति सम्प्रदायः वस्तुतः पितृर्हीनवर्णस्य औरससवर्णत्वे षष्ठांशिता तन्नादुत्तमवर्णत्वे पञ्चमांशिता युक्ता पितृर्हीनवर्णस्य औरससवर्णस्य विभागानुक्तेरनध्यवसायापत्तेरिति बोध्यम् । गुणवदगुणापेक्षयेति पाठे अगुणी निर्गुणः तेन गुणवन्निर्गुणरूपविषयमेवादित्यर्थः । तुल्यत्वादिति । तुल्याश्रितप्रतिपादनादित्यर्थः ॥ ७—१२ ॥

ये तु पितुरौरसाच्च भ्रातृर्हीनवर्णास्ते यासाञ्छादन-
मात्राधिकारिणः । तदाह मनुः ।

एक एवौरसः पुत्रः पितरास्त्र वसुनः प्रभुः ।

शेषाणामानृशंस्वार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥

(मनु ८।१६३)

तथा कात्यायनः ।

उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः ।

सवर्णा अमवर्णास्तु यासाञ्छादनभागिनः ॥ १३ ॥

मनुवचने शेषपदं कात्यायनवचने चासवर्णपदं हीनवर्ण-
परं देवत्वेनैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥

अनियोगोत्पन्नक्षेत्रजस्य औरसेन सह विभागमाह मनुः ।

यद्येकऋक्थिनी स्यातामौरसक्षेत्रजी सुती ।

यद् यस्य पैष्टकं ऋक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ १५ ॥

(मनु ८।१६२)

यस्य बीजाद् यो जातः स तस्य धनं गृह्णीयात् इतरोऽन्य-
बीजजी न गृह्णीयादित्यर्थः । अतएव नारदः ।

हौ सुती विवदेयातां ह्यभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।

तयोर्यद् यस्य पित्रं स्यात् स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ १६ ॥

(मनु ८।१८१)

यत् पितृदत्तं यद्धनं स्त्रियास्तत्पुत्रस्तद्द्वीजजस्तद्धनं गृह्णी-
यात् नान्य इत्यस्तु किं विस्तरेण ॥ १७ ॥

आयुर्ग्रन्थम् अनुकम्पा तदर्थं तन्निमित्तकमित्यर्थः तेन जीवनदानेऽपि इच्छा-
मात्रं प्रयोजकं न तु तेषामधिकार इति भावः । जीवनं भरणम् । द्वीनर्थ-
परमिति । न तु उत्तमवर्णपरमपि । देखेनेति । तेन उत्तमवर्णस्य भागिताया
द्वीनवर्णस्य यासांश्चादनमाचस्य चोक्तत्वादिति भावः । अनयोमोक्षेति ।
औरसमुत्पाद्य चेद्विधिं सृते तस्मिन्नेव चेद्वेऽन्येन शुक्लं दत्त्वा य उत्पादितः
तदौरसेन सहेत्यर्थः । शुक्लादाने तु स चेद्विध एव पुत्री न वीजिनः तेन तस्य
न वीजिधनाधिकारिता किन्तु चेद्विध एव धने औरसद्विधोपायश्चकारितेति ।
अशुक्लोपवृत्तावान्तु पिच्छदा वीदुरेव ते इत्युक्तेरिति बोध्यम् ॥ ११—१७ ॥ *

एकादशः अध्यायः ।

प्रथम परिच्छेदः ।

अथापुत्रस्य सृतस्य धने परस्परविरुद्धवचनदर्शनेन
व्याख्यातारो विवदन्ते ॥ १ ॥

तथा बृहस्पतिः ।

आन्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः ।

शरीराहं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा ॥

यस्य नीपरता भार्या देहाहं तस्य जीवति ।

जीवत्यहंशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात् ॥

सकुक्षीर्विद्यमानैस्तु पितृमातृसनाभिभिः ।

असुतस्य प्रमोतस्य पत्नी तन्नागहारिणी ॥
 पूर्वं प्रणीताग्निहोत्रं मृते भर्तुरि तद्धनम् ।
 विन्देत् पतिव्रता साध्वी धर्मं एष सनातनः ॥
 जङ्गमं स्थावरं ह्येव कुप्यं धान्यं रसाऽम्बरम् ।
 आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकादिकम् ॥
 पित्र्यगुरुदौहित्रान् भर्तुः स्वस्नीयमातुलान् ।
 पूजयेत् कथ्यपूर्त्ताभ्यां हृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः ॥
 तत्सपिण्डा बान्धवा वा ये तस्याः परिपन्थिनः ।
 हिंस्युर्धनानि तान् राजा चौरदण्डेन शासयेत् ॥ २ ॥

अथेति । पुत्राधिकारनिरूपणान्तरमित्यर्थः । धने चनाधिकारविषये ।
 विवक्षन् इति । पत्न्या भ्रात्रादेः पूर्वमधिकारः भातुः पत्नीतः पूर्वमधिकार
 इति विरुद्धं भाषन् इत्यर्थः । विरुद्धवचनान्याह तथेत्यादि । आनायते अभ्यस्यत
 इत्याचार्यो वेदः । पुण्येति एकैककृते ये पुण्यापुण्यकर्मणी विहितनिषिद्धकर्मणी
 तयोः फले स्वर्गनरकरूपे भोक्तृत्वेन समेत्यर्थः इदञ्च शरीराहमित्युक्ताभेदे हेतुः
 स्वकर्मफलभोगस्य स्थानतिरिक्तस्यैवौत्सर्गिकत्वात् । देहाहंमिति । देहाहंन
 प्रत्यक्षतया स जीवतौत्यर्थः । सकुलैः सनाभिभिरिति तृतीयाहयं सप्तम्यर्थे
 तेन सकुल्यादिषु सत्स्वित्यर्थः । सनाभयः सङ्घोदराः । प्रमोतस्य मृतस्य ।
 पतिव्रता पतिशुश्रूषाव्रता, न तु मृते म्रियेत या पत्नी साध्वी श्रेया पतिव्रतेत्युक्त-
 पतिव्रता, मरणेनैव तन्निष्पत्तेरत्रासम्भवात् । साध्वी अव्यभिचारिणी तेन
 तद्विपरीतानामधिकारनिवृत्तिः । सनातनीऽनादिपरम्परागतः । कुप्यं सुवर्ण-
 कष्याभ्यामन्यत्तैजसं सौहादि । अम्बरं वस्त्रम् । आदाय स्वीकृत्य । दापयेदिति
 स्वार्थे णिच् । मासषाण्मासिकेत्यनेन पार्षण्यनिषेधः । आदिना आद्यादिप्रेत-
 आह्वानपरिषदः । पित्र्येति द्वितीयान्तहयं भर्तुरित्यत्रान्वेति । कथ्यं मृता-
 ह्येन त्यक्तम् । पूर्वम् अन्नपानादि ॥ १—२ ॥

तदेतैः सप्तवचनैरपुत्रस्य मृतस्य यद् यावद्दत्तं स्थावरजङ्गम-
 ह्येमादिकं भर्तुस्त्वत्तत्त्वं सोदरभ्रातृपितृव्यदौहित्रादिषु सत्-
 स्तपि पत्न्या एवेति, ये तु तद्धनग्रहणे प्रतिपन्थाः स्वयमेव वा

गृह्णन्ति ते चौरवद्वन्द्वनीया इति भुवाणो वृहस्पतिः पत्नीसङ्गावे
पितृभ्रातृप्रभृतीनां धनाधिकारं सुदूरं निरस्यति ॥ ३ ॥

तथा याज्ञवल्क्यः ।

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।

तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सन्नह्यचारिणः ॥

एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।

स्वर्गातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥

(याज्ञवल्क्य २।१३६—१३७)

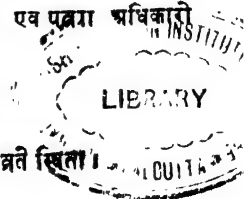
अनेन पूर्वपूर्वस्याभावे परपरस्याधिकारं वदन् सर्वेभ्यः
पूर्वं पत्न्या एव धनाधिकारमभिधत्ते ॥ ४ ॥

तथा विष्णुः । अपुत्रस्य धनं पत्न्याभिगामि, तदभावे
दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि,
तदभावे भ्रातृगामि, तदभावे भ्रातृपुत्रगामि, तदभावे
सकुल्यगामि, तदभावे बन्धुगामि, तदभावे शिष्यगामि,
तदभावे सहाध्यायिगामि, तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राज-
गामि ॥ ५ ॥ (विष्णु १७।४—१३)

अनेनापि क्रमपरेण प्रथमं पत्न्या एव धनाधिकारो
निरूपितः । न च वर्त्तनोपयुक्तधनमात्राधिकारार्थं पत्नी-
वचनमिति वाच्यं सक्तच्छ्रुतस्य धनपदस्य पत्न्यापेक्षमक्त-
स्त्रपरत्वं कृत्स्नपस्त्वञ्च भ्रातृपुत्रपेक्षमिति तात्पर्यभेदस्या-
न्याय्यत्वात् । अतः कृत्स्नधनगोचर एव पत्न्या अधिकारो
वाच्यः ॥ ६ ॥

तथा वृहस्पतिः ।

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।



पद्मेय दद्यात् तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥ ७ ॥

तत्पिण्डमित्यतस्तदित्यनुषज्यते तच्छब्देन भर्तुः परा-
मर्षात् भर्तुः कृत्स्नमंशं पद्मी लभेत न तु स्वांशकृत्स्नमित्यर्थः
कृत्स्नस्वांशोद्देशेन लभेतेति विधानानुपपत्तेः स्वामिभावज्ञाप-
नार्थत्वादस्य न च स्वांशे स्वामिभावज्ञापनमर्हति स्वांश-
ज्ञापनेनैव ज्ञातत्वात् ॥ ८ ॥

न च ग्रहणविधानार्थं तदिति वाच्यं स्वधनग्रहणस्य
रागादेव प्राप्तत्वात् ॥ ९ ॥

न च नियमार्थं वचनमिति वाच्यम् अदृष्टार्थत्वापत्तेः
नियमे च नियोज्यादिकल्पनमपि स्यात् ॥ १० ॥

सप्तवचनैरिति । सप्तानामेव वचनानां पञ्चधिकारतात्पर्यकत्वादिति भावः ।
सन्नञ्चारिणः एकदैकगुरोरध्ययनेन वेदाभ्यासेन च समानव्रताचारिणः ।
पूर्वस्थेति वीक्षितम् । स्वर्गातस्य स्रतस्य । उपलक्ष्यमेतत् पतितादिरपि बोध्यम् ।
सन्नङ्कुतस्येति । एकस्य धनपदस्य पञ्चान्ये वर्त्तनीक्षितधनबोधकत्वं भावाद्यन्ये
च कृत्स्नधनबोधकत्वं न सम्भवतीत्यर्थः । भर्तुः श्रयनं पालयन्ती तदीयश्रयने
पुरुषान्तरं वारयन्ती अन्यभिचारिणीति यावत् । व्रते पारलौकिकभद्रपकारे
स्थिता उद्युक्ता । व्रते एकादश्यादिव्रते स्थिता तत्कारिणीत्यर्थ इति केचित्,
तदसत्, भर्तृमरणक्षणे तदसम्भवात् । तत्पिण्डं भर्तृपिण्डम् । अनुषज्यत
इति । यद्यपि समासस्थविशेषणपदस्य अनुषङ्गे व्युत्पत्तिविरुद्धः अन्यथा
चैत्रपटमपनय घटमानयेत्यादौ चैत्रस्यानुषङ्गे घटानयनापत्तेः तथापि तदिति
षष्ठान्तमव्ययमित्यभिप्रायः । आकाङ्क्षासत्त्वे समासस्थस्यावृत्तौ बाधकाभावः
भर्तुरित्यस्यानुषङ्गस्तु व्यवहितत्वादसम्भवतीति शूङ्गामणिः । वस्तुतः तदित्यर्थ-
परम् इत्यत इत्यनन्तरम् उपस्थितमिति शेषः । तथाच तद्वर्त्तुस्वरूप-
मनुषज्यते अंशशब्दस्य सप्तवचनिकतया व्युत्पत्तिबलीनोपस्थितत्वात् सम्बन्धि-
तया अन्यीयत इत्यर्थः । ननु तद्वर्त्तुघटकापदीपस्थितायाः पद्मेया एवान्वयो
युक्तः न तु भिन्नवाक्योपस्थितस्य भर्तुः तथाच पद्मी स्वांशं कृत्स्नं वर्त्तनीक्षितं
लभेत इत्येवार्थः किं न स्यादत आह न त्विति । अनुपपत्तौ हेतुमाह स्वामि-
भावेति । स्वत्वज्ञापनार्थत्वादित्यर्थः । अस्य वचनस्य न च न हि । स्वांशे स्वत्वेन

ज्ञाते । ज्ञातत्वादिति । तथाच प्राप्तत्वादिधिलासम्भवे वैयर्थ्यं निराकाङ्क्षं चेति भावः । न च यद्व्येति । तथाच यद्व्यविधिर्यं न स्वत्वविधिरिति भावः । यद्व्यं यथेष्टविनियोगलक्षणम् । रागादेवेति । तथापि विधिलासम्भवासदवस्थ एवेति भावः । नियमार्थमिति । स्वांशं गृह्णीयादेवेति नियमार्थमित्यर्थः । अदृष्टेति । विधिनियमितस्य नित्यतया तस्मात् पिष्टनित्यापूर्वं कल्पनीयं तच्च दृष्टार्थत्वे सम्भवति गौरवादभ्यास्यमिति भावः । गौरवान्तरमप्याह निवमि चेति । नियोज्येति । समेदं कार्यमिति बुद्ध्या नियोज्यः । गुरुमते स्वर्गकामो यजितेत्यादौ स्वर्गकामनियोज्यकथागविषयकं कार्यमिति बोधस्य सिद्धत्वेन प्रकृतेऽपि नित्यत्वेन प्रत्यवायपरीक्षारफलकामरूपनियोज्यकल्पनम् आदिपदादकारणे प्रत्यवायकल्पनमपि स्यादित्यर्थः । नियोज्यकल्पनाया उभयथाप्यावश्यकत्वेऽपि कामनारूपाधिकाराधिक्यमत्रेति बोध्यम् ॥ ३—१० ॥

यच्चोक्तं न च्यनन्धादिः पुत्रोऽंशं कृत्स्नं लभेत इत्युक्ते पितॄं कृत्स्नमंशमिति किं तर्हि कृत्स्नं स्वांशमिति तथापि कृत्स्नं स्वांशापेक्षमिति तन्न अनन्धादिः पुत्रोऽंशं कृत्स्नं लभेतेति वचनाभावात् दृष्टान्तानुपपत्तेः भवतु वा तथापि पूर्वोक्तहेतुना स्वांशं लभेतेति विध्यनुपपत्तेः पितॄंशापेक्षमेव वर्णनं युक्तम् ॥ ११ ॥

अतएव सर्वत्रान्यधन एव अन्यस्वत्वसम्बन्धप्रापनं मुनयः कुर्वन्ति यथा पित्रधने पुत्राणाम् अपुत्रधने पत्न्यादीनामित्यादि न पुनः स्वांशग्रहणे प्रेरयन्ति ॥ १२ ॥

अनन्धादिः अनन्धादिभिन्नः । कृत्स्नमंशमिति । अवगम्यत इति शेषः । कृत्स्नं स्वांशापेक्षमिति वचनार्थवर्णनमिति शेषः । ननु अनन्धादिरिति नया वचनमिति कृत्वा दृष्टान्ततया नोक्तम् किन्तु तादृशार्थव्युत्पत्तिकल्पनास्यानतया तच्च वैदिकस्यैव शौकिकस्यापि वाक्यस्याभिहितं तथाच तत्र वचनभावीऽकिञ्चित्कार इत्यत आह भवतु वेति । अभ्युपगमादाह भवतु वेतीति केचित् । पूर्वोक्तहेतुना स्वांशं लभेतेतिविधानानुपपत्तिरूपेण । पितॄंशापेक्षमिति अनन्धादिरित्युक्तवाक्येऽपीति शेषः । न च पुत्रान्तरस्याप्यंशोद्वेगवचनमनुपपन्नमिति वाच्यं

तस्मिन्नेव विशेषतया अविवक्षितत्वात् एकपुत्रस्यैवाभिप्रायेण वा तत् । अतः
एव स्वधने स्वत्वविधानासम्भवादेव ॥ ११ ॥ १२ ॥

यच्च सम्बन्धिग्रन्थत्वेन स्वसम्बन्धुपस्थापकत्वं यथा
मातेति न परमातावगम्यते इत्युक्तं तदप्ययुक्तम् अनुपात्त-
सम्बन्धिविषयत्वात् तस्य, न हि डित्यस्य मातरमानयेत्युक्ते
प्रयोज्यस्य माता प्रतीयते प्रयोजकस्य वा, तद्वदत्रापि तत्-
पिण्डमिति तत्पदोपात्तत्वात् सम्बन्धिनः कथं पत्न्यपेक्षिता
विधानानुपपत्तिश्च पूर्वसुक्तैव ॥ १३ ॥

तस्मात् कृत्स्नतदंशग्रहणमेव पत्न्या वृद्धमनुर्बोधयति
॥ १४ ॥

तथा पत्न्यधिकारविपरीतबोधकानि वचनानि यथा
शङ्खलिखितपैठीनसियमाः । अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि
दृश्यं तदभावे पितरौ हरेतां पत्नी वा ज्येष्ठा सगोत्रशिष्य
स ब्रह्मचारिणः ॥ १५ ॥

अत्र भ्रातुरभावे पित्रोस्तयोरभावे पत्न्यधिकार इति
विरोधः ॥ १६ ॥

तथा देवलः ।

ततो दायमपुत्रस्य विभजेयुः सहोदराः ।

तुल्या दुहितरो वापि ध्रियमाणः पितापि वा ॥

सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम् ।

एषामभावे गृह्णीयुः कुल्यानां सहवासिनः ॥ १७ ॥

अत्र सर्वादौ भ्रातुरधिकारः सर्वशेषे च भार्याया इति
विरोधः ॥ १८ ॥

सम्बन्धिग्रन्थत्वेनेति । सम्बन्धिग्रन्थस्यादिः । स्वसम्बन्धुपस्थापकत्वं स्वार्थस्य
यः सम्बन्धी प्रतिपक्षीतिरूपकपक्षसहितस्वार्थबोधकत्वं तं विहाय स्वार्थान्वय-

तीक्ष्णत्वासम्भवात् तद्वटितमूर्तिरूपात् पुत्रत्वादिरूपसम्बन्धिताया घटकता
पुनरुपस्थितस्यैव सम्बन्धिन इति भावः । उक्तव्युत्पत्तिकल्पनस्थले दृष्टान्तविषया
दर्शयति 'यथेति । यथा मातेत्युक्ते उपस्थितस्य वक्तुरेव सम्बन्धितयाऽन्वयित्वं तथा
प्रकृतेऽपि अंशशब्दस्य स्वसम्बन्धिकतया उपस्थितायाः पद्म्या एव तदर्थांन्वयित्व-
मिति तत् कथं भर्तुः कृतृत्वमिति भद्रन्वयं व्याख्यामीति पूर्वपक्षः ।
यद्यपि पद्मोपदस्य स्वसम्बन्धिकतया तदर्थांन्वयित्वेन भर्ताप्युपस्थित एव तथापि
विशेषणतया विशेष्यतया च नानासम्बन्ध्युपस्थितिस्थले विशेष्यतयोपस्थितस्यैवा-
न्वयित्वं न तु विशेषणतयोपस्थितस्येति व्युत्पत्तिः कथमन्यथा यशदत्तमित्रं पितृ-
गृहं प्रविशतीत्यादौ न यशदत्तस्य पितृत्वयः अपि तु मित्रस्येति नियम उपपद्यत
इति सारः । दूषयति तदपीति । अनुपाप्तेति । सम्बन्धिपदार्थांन्वययोग्य-
तया सम्बन्धिनः शब्दोपात्तत्वे तस्यैव तदर्थांन्वयित्वं न सम्बन्धनरक्षीयस्थितस्यापि
तेन पद्म्या नांशान्वयः तस्याः प्रथमान्तोपस्थितत्वेन घटान्तसाक्षाद्वैय सम्बन्धिनः
अन्वयायोग्यत्वादिति भावः । प्रकृते भर्तृरूपसम्बन्धिनः शब्दोपात्तत्वं प्रतिपाद-
यति तत्पिच्छमिति । पद्मोपेक्षिता पद्मोपसम्बन्धिघटितस्वार्थमीधकता अंश-
शब्दस्येति शेषः । पद्मान्वये बाधकमप्याह विधानानुपपत्तिर्येति । उपसंहरति
तस्मादिति । तदंशयङ्गणं भर्तृशयङ्गणम् । तुल्याः-सवर्णाः । त्रिग्रमाश्च ।
निर्दोषः सन् जीवदवस्थः । सवर्णा भ्रातरो वैमात्रेयाः सङ्गीदराणां प्रागुक्त-
त्वात् । कुल्यानां सङ्गवासिनः सकुल्याः गृह्णीयुरित्यर्थः ॥ १३—१८ ॥

अत्र केचिदविभक्तसंस्मृष्टगोचरो भ्रात्राधिकारः प्रथमं
विभक्तासंस्मृष्टगोचरश्च पद्म्याधिकार इति समादधति ॥ १९ ॥

तद्वृद्धस्यतिविरुद्धम् । यदाह ।

विभक्ता भ्रातरो ये च सम्प्रौत्यैकत्र संस्थिताः ।

पुनर्विभागकरणे तेषां ज्येष्ठं न विद्यते ॥

यदा कश्चित् प्रमीयेत प्रव्रजेद्वा कथञ्चन ।

न लुप्यते तस्य भागः सोदरस्य विधौयते ॥

या तस्य भगिनी सा तु ततोऽग्रं लब्धुमर्हति ।

अनपत्यस्य धर्मोऽयमभार्या पितृकस्य च ॥

संस्मृष्टानाम् तु यः कश्चिद्विद्याग्रीर्यादिना धनम् ।

प्राप्नोति तस्य दातव्यो ह्यंशः शेषाः समांशिनः ॥ २० ॥

अत्रोपक्रमोपसंहारयोः संसृष्टत्वकीर्तनात् तत्सन्दंशपतितं,

न लुप्यते तस्य भागः सोदरस्य विधीयते ।

इति वचनं संसृष्टविषयं वाच्यम्, अत्र च अनपत्यस्य धर्मो-
ऽयमभार्यापिष्टकस्य चेति पुत्रदुहितृपत्नीपितृणामभावे
संसृष्टस्य सोदरस्य भ्रातुरधिकारं बोधयतीति कथं तस्य
पत्नीबाधकत्वम् ॥ २१ ॥

किञ्च न लुप्यते इति अविभक्तत्वे संसृष्टत्वे च भ्रात्रन्तरीय-
द्रव्यमिष्टीभूतस्य द्रव्यस्य पृथगप्रतीतौ लोपाशङ्कायां न लुप्यत
इति वचनमुपपद्यते, विभक्तस्यासंसृष्टस्य तु धने विभक्तत्व-
प्रतीतौ का लोपाशङ्का तस्मात् संसृष्टविषयत्वमेवामीषां
वचनानाम् ॥ २२ ॥

प्रव्रजित् आश्रमात्तरं प्रविशेदित्यर्थः । भगिनी अनूदा । अंशं विवाहोचितं
विधवापि वर्त्तनीचिन्तमिति केचित् । इदमप्यसंसृष्टविषयं कुतो न स्यादत
आह उपक्रमोपसंहारयोरिति । ननूक्तविरोधपरौहाराभ्यानुपपत्त्या सन्द-
पतितन्यायी नादरणीय इति विभक्तविषयत्वमेव वाच्यमित्यत आह किञ्चेति ।
लोपाशङ्कायामिति । लोपोऽविभाज्यत्वम् । अमीषां हृदयतिवचनानाम् ॥ १८-२२ ॥

किञ्च पत्न्यादेः पूर्वं भ्रात्रधिकारज्ञापकशङ्कादिवचनानां
संसृष्टभ्रातृविषयत्वं वचनाद्वा न्यायाद्वा । तत्र न तावद्वच-
नात् विशेषवचनाभावात्, संसृष्टिनस्तु संसृष्टौत्वादिवचना-
नान्तु भ्रात्रधिकारावसरे विशेषज्ञापनपरत्वेन भ्रात्रधिकार-
मात्रपरत्वानुपपत्तेः ॥ २३ ॥

अनन्तरोपन्यस्तहृदयस्तिवचनानाञ्च संसृष्टविषयत्वे पुत्र-
दुहितृपत्नीपितृपर्यन्ताभावे सोदरभ्रात्रधिकारज्ञापकत्वात्

निर्द्वन्द्वत्वात् असंसृष्टविषयत्वमेव तावदुक्तं न तु संसृष्ट-
विषयत्वम् ॥ २४ ॥

निर्द्वन्द्वविषयविभागे हेतुमपि विकल्पा दूषयति किञ्चित् । विशेषज्ञापन-
परत्वेन समानसम्बन्धिना मध्ये संसर्गिणः संसर्गनिवन्धनाधिकारधीकत्वेन
अथवा पुत्रसत्त्वेऽपि संसृष्टभाद्रधिकारप्रसङ्गादिति भावः । प्रसृत विरुद्ध-
मेव वचनमप्यस्तीत्याह अनन्तरिति । पुत्रदुष्टित्यादि । अनपत्यस्य धर्मो-
ऽयमभायोपिष्टकस्य चैत्यभिधानादिति भावः । असंसृष्टविषयत्वमेवेति ।
शङ्कादिवचनानामिति पूर्वोक्तमनुवर्त्यते । युक्तमिति । संसृष्टत्वे पद्माभावे
भाद्रधिकारात् अर्थादसंसृष्टत्वे पद्मीसत्त्वे भाद्रधिकारस्य स्वरसिद्धत्वादिति
भावः ॥ २३ ॥ २४ ॥

अथ न्यायादिदमभिधीयते तथाहि संसृष्टत्वे यदेकस्य
भ्रातुर्धनं तदपरस्यापि तत्रैकस्य मरणेन स्वत्वनाशेऽपि जीवत-
स्तत्र स्वामित्वानपायात् तस्यैव तद्ववति न तु पद्म्याः भर्तृ-
मरणेन पद्मीस्वत्वस्यापि नाशात् यथा सत्सु पुत्रादिषु न
तद्वन्न पद्म्या इति ॥ २५ ॥

तस्मिन्दं, न हि संसृष्टत्वेऽपि यदेकैकस्य तदेवापरस्यापि,
किन्तु अविज्ञातैकदेशं तत् द्वयोः न तु समग्रमेव समग्र-
स्वत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्, इत्युक्तमादावेव ॥ २६ ॥

न्यायमेवाह तच्चाह्वीति । तदपरस्यापीति । सर्वेषां संसृष्टानां सर्वेष्वन
एव सामान्यस्वत्वं न प्रादेशिकमिति भावः । ननु दम्पत्योर्मध्यगं धनमित्यनेन
तत्र पद्म्या अपि स्वत्वस्य विद्यमानतया अनन्तरं पद्म्या एव युगपदुभयोर्वा
तद्वन्न कर्त्तुं न स्यादत आह न त्विति । भर्तृमरणेन तत्स्वत्वापगमेन । भर्तृमर-
णात् तत्पद्मीस्वत्वनाशे प्रमाणाभाह यवेति । इत्यस्य पद्माधिकारस्थलेऽपि भर्तृमर-
णात् तस्याः प्राचीनं स्वत्वं नश्यत्वेव सामबोद्धत्वात् किन्तु पुनः स्वत्वान्तरमुपपद्यते
अतएव तद्वन्न स दावत्वमपीति भावः । किञ्चित्, अविज्ञातं चैत्रीयत्वादिना
विशेषरूपेण धर्मिष्ठानिधितम् एकदेशमिति, मध्यपक्षोपिसमासाश्रयणेन,
एकदेशो द्वे आश्रयो बस्य तादृशश्च तदित्यर्थः । न त्विति । न तु समग्र-

नेव ह्योरित्यन्वयः न तु संसृष्टितमेवोभयस्वामिकमित्यर्थः प्रमाणाभावादिति
वैशेषिकस्य वङ्गारानर्हत्वेन प्रमाणाभावादित्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

परिणयनोत्पन्नं भर्तृधने पद्म्याः स्वामित्वं भर्तृमरणात्
नश्यतीत्यत्र च प्रमाणाभावात् सति तु पुत्रे तदधिकारशास्त्रा-
देव पद्म्यस्वत्वनाशोऽवगम्यते, अत्रापि संसृष्टभ्रात्रधिकार-
शास्त्रात् तद्दिनाशोऽवगम्यते इति चेन्न, संसृष्टभ्राट्गोचरत्वं
स्याद्याप्यसिद्धेः, सिद्धेहि भ्राट्संसृष्टभर्तृमरणेन पद्म्यस्वामि-
त्वनाशे भ्रात्रधिकारशास्त्रस्य संसृष्टविषयत्वं सति तु तद्-
विषयत्वे शास्त्रस्य पद्म्यस्वामित्वनाश इतीतरैतराश्रय-
त्वम् ॥ २७ ॥

परिणयोत्पन्नं तदधीनदायव्यसंस्कारीत्यन्नम् अन्यथा परिणयनानन्तरभावि-
भर्तृधने स्वामित्वानुपपत्तेः परिणयनस्य विनष्टत्वादिति । प्रमाणाभावादिति
तथाच पद्म्याः स्वत्वस्य विरोधिनः सत्त्वात् न स्वात्स्वत्वसम्भव इति भावः
तदधिकारशास्त्रादेवेति । तथाच भर्तृमरणात् स्वत्वनाशे पुत्रसत्ताकालः संसृ-
कारी कल्प्यत इति भावः । असिद्धेरेति । तथाच संसृष्टभ्रात्रधिकार-
बोधकशास्त्रम् एतद्वचनं न भवतीत्यर्थः । ननु भर्तृमरणात् पद्म्याः स्वत्वनाशा-
भातुः स्वलोपनी बाधकाभाव इत्यत आह सिद्धेहीति । संसृष्टविषयत्वं
संसृष्टधनभाटविषयत्वं सित्यतीति शेषः । सति तु सिद्धे तु । पद्म्यस्वत्वना-
श इति । तत्शास्त्रबलेनैव पुत्रसत्ताकालस्य संसृष्टभ्राट्सत्ताकालस्यापि सच
कारित्वकल्पनादिति भावः ॥ २७ ॥

किञ्च शङ्खलिखितादिषचनानामविभक्तसंसृष्टगोचरत्वं
अविभक्तस्य संसृष्टस्य च धनं तद्विधभ्राट्गमि तस्य तु तथा-
विधस्याभावे पितरौ हरेतामित्यन्वयो वाच्यः, तदा च विकल्प-
नीयं, किं विभक्तासंसृष्टौ पितरौ गृह्णीयाताम् उताविभक्त-
संसृष्टौ, तत्र न प्रथमः कल्पः पद्म्यदुहितरश्चेत्यादिना
विभक्तासंसृष्टयोः पित्रोः पद्म्यवाध्यत्वात् कथं पद्म्यीतः पूर्वं

तयोरधिकारः नापि, द्वितीयः अविभक्तसंसृष्टभ्रातृसद्भावेऽपि
अविभक्तसंसृष्टपितृप्राप्तत्वं सर्वेषामविवादात् ॥ २८ ॥

किञ्च यथा पित्रा भ्रात्रा च विभक्तासंसृष्टधने शरीर-
दाहृतया आत्मा वै जायते पुत्र इत्येकत्वानुतेर्धनशरीरयोश्च
प्रभुत्वात् तत्पितृदेयपितामहप्रपितामहपिण्डद्वये च सपिण्ड-
नेन स्मृतस्य भोक्तृत्वात् जीवति च पितरि पुत्राणां पार्वण-
पिण्डदानाभावात् भ्रातृभ्यः पूर्वं पितुरधिकारः तथेतरापि-
युक्तः, अविभागसंसर्गयोर्वा अविशेषात् पितृभ्रातृयोस्तु-
यदधिकारो युक्तः न तु भ्रातुरभावे पितुरिति युक्तम् ॥ २९ ॥

ननु दम्पत्योर्मध्यगं धनमित्यनेन यत्र पत्युः स्वस्य तत्रैव पत्न्याः स्वत्वं
प्रत्याप्यते न तु वैपरीत्यं स्त्रीधने व्यभिचारात् तथाच पत्युः स्वत्वनाशात्
पत्न्याः स्वत्वनाशः सिद्ध एवेति ब्राह्मणस्य संसृष्टभ्रातृविषयत्वं निष्पत्तिरिति
काम्योक्त्याशयः पत्नीस्वत्वनाशस्य प्रमाचान्तरसिद्धत्वादत आह किञ्चेति । तद्विधः
अविभक्तसंसृष्टान्तरः । तस्य भातुः तथाविधस्य उक्तान्तरस्य । पत्नीदुहितर-
येत्यादिप्राशस्त्यवचनस्य विभक्तासंसृष्टविषयत्वमेव कुत इति चेदन्न चूडामणिः
सर्वभाष्यायाः पत्न्याः प्रथममधिकारबोधकतया तत्परत्वस्यैव निश्चयादित्याशया-
दिति व्याचष्टे । वस्तुतः श्रद्धादिवचनानां संसृष्टाविभक्तभातुः पत्नीतः पूर्वमधि-
कारबोधकत्वे पित्नोरपि तथाविधयोरेव पत्नीतः पूर्वमधिकारबोधकत्वं तुल्यत्वायात्
अतः पारिश्रियादेव प्राशस्त्यवचनस्य विभक्तासंसृष्टविषयत्वमिति भाव्यम् ।
पत्नीतः पूर्वमिति । श्रद्धादिवचनादिति शेषः । अथाद्यादिवचनां चङ्गनामज
विवाद एव प्राशस्त्यवचनात् विभक्तासंसृष्टस्य पितुर्भातृबाधकत्वे सिद्धे श्रद्धा-
युक्तभातृबाधताया अविभक्तसंसृष्टगीचरत्वस्यैव सम्भवादत आह किञ्चेति ।
ननु भातृदेशपिण्डद्वये सपिण्डनेन तस्य भोक्तृत्वात् भातुरेव प्रागधिकारो युक्त
इत्यत आह जीवति चेति । इतरत्रापि संसृष्टाविभक्तधनेऽपि । यदि
भोक्तृहेतुमपेक्षयापि संसर्गाविभक्तत्वयोक्तत्वं इत्युच्यते तदा पितृभ्रातृयोरेव
तद्विशेषात् युगपदधिकारः स्यादित्याह अविभागेत्यादि ॥ २८ ॥ २९ ॥

किञ्चाविभक्तसंसृष्टौ पितरौ गृह्णीयातामिति द्विवचन-

प्यनुपपन्नं, मात्रा सह विभागाविभागयोरभावात् अतएव
धनसंसर्गाभावोऽपि । यदाह बृहस्पतिः ।

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः ।

पितृव्येणाथवा प्रौत्या स तु संसृष्ट उच्यते ॥

अनेनैतद्दर्शयति येषामेव हि पितृभ्रातृपितृव्यादीनां
पितृपितामहार्जितद्रव्येणाविभक्तत्वमुत्पत्तितः सम्भवति त एव
विभक्ताः सन्तः परस्परप्रौत्या यदि पूर्वोक्तविभागध्वंसेन यत्तत्र
धनं तन्मम धनं यन्मम धनं तत्तवापीति एकत्र गृहे एकगृहि
रूपतया संस्थिताः संसृज्यन्ते न पुनरनेवंरूपाणां द्रव्यसंसर्ग-
मात्रेण सम्भ्रूयकारिणां वणिज्जामपि संसर्गित्वं, नापि
विभक्तानां द्रव्यसंसर्गमात्रेण पूर्वोक्तप्रीतिपूर्वकाभिसन्धानं
विना, अतः संसर्गित्वाविभक्तत्वयोर्मात्रा सहासम्भवात् कथं
मातृगतौ भ्रातृसङ्गावाधिकारविरोधः समाधेयः ॥ ३० ॥

अथ ब्रह्मादिवचनयाश्रयत्वादिवचनेषु क्रमेणाधिकारावनमात् यौगपत्या-
सम्भवः तथाच तद्गोत्रपिण्डव्यवदातपित्रपेक्षया तद्गोत्रपिण्डव्यवदाततया तद्देय-
मातामहादिपिण्डव्यवदाततया च भ्रातृव्यवदात् तत्क्रमेणैवाधिकारी युक्तः
विभक्तासंसृष्टपितुः प्रागधिकारस्तु वाचनिक एवेत्यत आह कश्चेति । अवि-
भागः साधारण्यम् । अतएव विभागविरुद्धादेव सम्पत्तिरुच्यते । तेन
मातृव्यावृत्तिः तस्या धनसम्बन्धस्य परिणसाधीनत्वात् । विभागध्वंसेन विभागा-
भिष्यङ्गात्त्वध्वंसेन । अतवेति । यावदेकवावस्थानमिति शेषः अन्यथा विभक्ताः
पितृविभागेत् संप्रौढैकत्र संस्थिताः । पुनर्विभागकरके तेषां ज्यैष्ठ्या न विद्यत
ब्रह्मादिवचनीयदेहितपुनर्विभागस्य वैषम्यापत्तेः । एतेन संसर्गे सति स्वत्वं
सर्वेषां सर्वधनेषु सासुदायिकमेष न तु विभागात् पूर्वमेव ब्राह्मणिकमिति
सिद्धम् । अत्र चोक्ताभिसन्धानवशेन साधारणधनस्त्रीराकासाध्या संसृष्टि-
मैकेनाविततद्वदेऽपि सर्वेषामेव संसृष्टिणां सासुदायिकत्वमिति कीदृशम् ।
अधिकारविरोधः अधिकारपीवांपद्विरोधः ॥ ३० ॥

सम्प्रति धौमद्विः समाधीयते । तत्र विष्णुादिवचनेभ्यः

ब्राह्मभावमात्रेण पतृधिकारः स्पष्टमवगम्यते, युक्तश्चेत्
यन्मृतधनं पुत्रपौत्रप्रपौत्राणामेव प्रथमं भवति, तथाहि
मनुविष्णू ।

पुत्रास्त्रो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।

तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥

(मनु ८।१३८, विष्णु १५।४३)

तथा हारीतः ।

पुत्रामा निरयः प्रोक्तश्छिन्नतन्तुश्च नैरयः ।

तत्र वै त्रायते यस्मात् तस्मात् पुत्र इति स्मृतः ॥

तथा शङ्खलिखितौ ।

पितृणामनृणो जीवन् दृष्ट्वा पुत्रमुखं पिता ।

स्वर्गी स तेन जातेन तस्मिन् संन्यस्य तदृणम् ॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदा यज्ञाश्च शतदक्षिणाः ।

ज्येष्ठपुत्रप्रसूतस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

तथा मनुशङ्खलिखितविष्णुवशिष्ठहारीताः ।

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्यमश्रुते ।

अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रह्मस्याप्नोति पिष्टपम् ॥

(मनु ८।१३७, वशिष्ठ १३।५, विष्णु १५।४५)

तथा याज्ञवल्क्यः ।

लोकानन्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः ॥ ३१ ॥

(याज्ञवल्क्य १।७८)

स्मिन्नात्ममाह सम्प्रतीति । न च स्वार्जितधने प्रथमं भ्रात्रधिकारः पितृ-
सम्बन्धधने पितुरधिकार इति रत्नाकराद्यभिहितमेव समाधानं युक्तमिति वाच्यं
प्रमाणाभावात् विनिगमनाविरहेण वैपरीत्यस्यापि सम्भवाच्च । धीमद्विरक्ष-

दभिसतार्थवादिभिः/ ह्युत्पादादिरित्यर्थः । विष्णुादीत्यादिना याज्ञवल्क्यः
परिवहः । वचनेभ्यः अपुत्रधनं पत्राभिगामीति प्रतीदुहितरश्चैवेत्यादिवचनेभ्यः
वचनस्यपुत्रपदस्य वक्ष्यमाणयुक्त्या प्रपौत्रपर्यन्तपरत्वादाह आदौति । पौत्र
प्रपौत्रपरिवहार्थम् । स्पष्टमिति । अपुत्रधनं पत्राभिगामीत्यभिधानात् एषा
सभावे पूर्वेषां धनभागुत्तरीत्तर इत्यभिधानाच्चेति भावः । अस्य न्यायसूत्रत्व
माह युक्तमिति । नैरयो नरकम् । नैरय इति निरयगामीत्यर्थ इति केचित्
तदसत् तत्रेत्यनन्वयापत्तेः किन्तु नरक एवार्थः तद्धितस्याविवक्षणात् । तः
तस्मात् । प्रसूतस्येति । भावे क्तः तेन जन्मन इत्यर्थः । ब्रध्नस्य आदित्यस्य
पिष्टपं लोकम् ॥ ३१ ॥

तदेवं पुत्रादिभिर्जन्मतः प्रभृति पितुः परलोकोचित
महोपकारनिष्पादनात् सृतस्य तस्य च पार्वणविधिना पिण्ड
दानात् पुत्रादर्थं तद्धनं सृतमेवोपकरोतीति न्यायप्राप्तं पुत्रा-
दीनां स्वामित्वं श्रुतम् ।

तथोपकारकत्वेनैव धनसम्बन्धं मनुरप्याह ।

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।

पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्तन्ममर्हति ॥ ३२ ॥

(मनु ८।१०६)

तस्मादिति हेतूपन्यासात् दायभागप्रकरणे च पुत्रादीनां
नानाविधपित्राद्युपकारकत्वकीर्तनस्य अनन्यप्रयोजनकत्वात्
उपकारकत्वादेव धनसम्बन्धो मनोरनुमत इति गम्यते ॥ ३३ ॥

अतएव पुत्रपदं प्रपौत्रपर्यन्तपरं तत्पर्यन्तानामेव पार्वण-
विधिना पिण्डदानोपकारकत्वस्याविशेषात् ॥ ३४ ॥

अन्यथा पुत्रपदस्य स्वार्थत्यागानुपपत्तेः पौत्राधिकार-
ज्ञापकं वचनं कथञ्चित् यदि लभ्येतापि, प्रपौत्रस्य तु न पृथक्
वचनमस्ति ॥ ३५ ॥

तस्मादुपकारकत्वादेव प्रपौत्रस्याप्यधिकार इति पुत्रपद-
मुपलक्षणम् ॥ ३६ ॥

अतएव बीधायनः । प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं
सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रः एतान् अवि-
भक्तदायादान् सपिण्डानाचक्षते विभक्तदायादान् सकुल्या-
नाचक्षते सत्स्वङ्गजेषु तन्नामी ह्यर्थो भवति सपिण्डाभावे
सकुल्यः तदभावे चाचार्योऽन्तेवासी ऋत्विग्वाहरेत् तदभावे
राजा ॥ ३७ ॥

अस्यार्थः पित्रादिपिण्डत्रये सपिण्डनेन भोक्तृत्वात् पुत्रा-
दिभिश्च त्रिभिः तत्पिण्डस्यैव दानात् यश्च जीवन् यत्पिण्ड-
दाता स मृतः सन् सपिण्डनात् तत्पिण्डभोक्ता एवञ्च सति
मध्यस्थितः पुरुषः पूर्वेषां जीवन् पिण्डदाता स मृतः तत्-
पिण्डभोक्ता च परेषां जीवतां पिण्डसम्प्रदानभूत आसीत्
मृतैश्च तैः सह दौहित्रादिदेयपिण्डभोक्ता अतो येषामयं पिण्ड-
दाता ये वास्य पिण्डदातारः ते अविभक्तपिण्डरूपं दायमद-
न्तीत्यविभक्तदायादाः सपिण्डाः पञ्चमस्य तु पूर्वस्य मध्यमः
पञ्चमो न पिण्डदाता न च तत्पिण्डभोक्ता, एवमधस्तनोऽपि
पञ्चमो न मध्यमस्य पिण्डदाता नापि तत्पिण्डभोक्ता, एतेन
वृक्षप्रपितामहप्रभृतयस्त्रयः पूर्वपुरुषाः प्रतिप्रणप्तुश्च प्रभृत्यध-
स्तनास्त्रयः पुरुषाः एकपिण्डभोक्तृत्वाभावात् विभक्तदायादाः
सकुल्या इत्याचक्षते ॥ ३८ ॥

युतं न्यायमूलश्रुतिबोधितम् । अतएव उपकारकत्वेन धनसम्पत्त्यस्य
मनोरतुमतत्वादेव । अन्यथा न्यायमूलकत्वाभावे । ननु वाचनिक एवायमधि-
कारकः पौत्रप्रपौत्रयोरपि वचनान्तरादेवाधिकारी भविष्यतीत्यत आह
पौत्राधिकार इति । कथञ्चिदिति । पौत्रौ मातामहजनेन दद्यात् पिण्डं

इरेह्नमित्यनेन पुत्रिकापुत्रस्य पौत्रतया धनाधिकारप्रतिपादनात् पौत्रस्य धनाधिकारस्यार्थतः प्राप्तित्यर्थः । एवं अपुत्रपौत्रे संसारे दौहित्रा धनप्रयुक्तित्वेनापि तथैव पौत्राधिकारलक्ष्य इत्यर्थः । यत एव प्रपौत्रस्य धनाधिकारः अतएवेत्यर्थः । दौहित्रादीत्यादिना जीवत्पुत्रान्तरादिपरिग्रहः । प्रतिप्रणमः प्रपौत्रपुत्रात् ॥ ३२—३८ ॥

इदञ्च सपिण्डत्वं सकुल्यत्वञ्च दायग्रहणार्थमुक्तम् ॥ ३९ ॥

अतएव मनुनापि । न भ्रातरौ न पितरः पुत्रा रिक्थ-
ह्वराः पितुरित्यभिधाय कुत इत्यपेक्षायां त्रयाणामुदकं कार्यं
त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते
॥ ४० ॥ (मनु ८।१८५—१८६)

अशौचाद्यर्थन्तु पिण्डलेपभुजामपि तद्वत्पिण्डलेपभोक्तृ-
त्वेन सपिण्डत्वं मार्कण्डेयपुराणे निर्दिष्टं यथा ।

पिण्डलेपभुजस्यान्ये पितामहपितामहात् ।

प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तमः ॥

इत्येवं मुनिभिः प्रोक्तः सम्बन्धः साप्तपौरुषः ।

(मार्कण्डेयपुराण २८।४)

अशौचकर इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अतएव मनुनाप्युक्तमशौचप्रकरणे ।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।

समानोदकभावस्तु जन्मनान्त्रोरवेदने ॥ (मनु ५।६०)

अन्यथा त्रयाणामित्यनेन विरोधः स्यात् ॥ ४२ ॥

प्रपौत्रपर्यन्ताभावे तु वैधव्यात् प्रभृति व्रतादिना भर्तुः
परलोकहिताचरणेन पुत्रादिभ्यो जघन्येति तेषामभावे धन-
हारिणी पत्नी । तदाह व्यासः ।

मृते भर्तारि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।

स्नाता प्रतिदिनं दद्यात् स्वभर्त्रे सतिलाञ्जलीन् ॥
 कुर्याच्चानुदिनं भक्त्या देवतानाञ्च पूजनम् ।
 विष्णोराराधनञ्चैव कुर्यान्नित्यमुपोषिता ॥
 दानानि विप्रमुख्येभ्यो दद्यात् पुण्यविहृदये ।
 उपवासाञ्च विविधान् कुर्यात् शास्त्रोदितान् शुभे ! ॥
 लोकान्तरस्थं भर्तारमात्मानञ्च वरानने ! ।
 तारयत्युभयं नारी नित्यं धर्मपरायणा ॥ ४३ ॥

तदेवमादिभिर्वचनैः पत्न्या अपि नरकनिस्तारकत्वश्रुतेः
 धनहीनतया वा अकार्यं कुर्वती पुण्यापुण्यफलसमत्वेन
 भर्तारमपि पातयतीति तदर्थं तद्धनं पूर्वस्वाम्यर्थमेव भवतीति
 युक्तं पत्न्याः स्वाम्यम् ॥ ४४ ॥

सामपीरुषसापिच्छविषीषितविरीधमाग्रहाञ्च इदमिति । इदं पुरुष-
 त्रयमात्रविशालम् । वैधव्यात् प्रभृतीति । अनेन जन्मप्रभृत्युपकारकैश्च पुत्रा-
 दिभ्यो जन्मन्मलमुपपादितम् एवं पार्ष्णपिच्छदानाभावादपि जघन्यत्वं बोध्यम् ।
 न च पुत्रादिभ्यः पूर्वं परिणयनात् प्रभृत्याश्रमधर्माचरणेन उपकारकत्वात् तस्या
 अप्युत्कर्षसम्भव इति वाच्यम् अलाभे चैव कथायाः स्नातकव्रतमाचरेदित्यादिना
 आश्रमधर्माचरणे तस्या अनियतत्वात् जन्मप्रभृतिसङ्गीपकारकपुत्रादितो जघन्य-
 तया दुर्बलत्वाच्च । स्वभर्त्रे इति । उपलक्षणमेतत् । श्वशुरार्थ्यश्वशुराभ्यामपि
 बोध्यम् । तर्पणं प्रत्यङ् कार्यं मर्तुः कुशतिलोदकैः । तन्वितुस्त्यक्तुश्चापि
 नामगोत्रादिपूर्वकम् इति काश्रीखण्डवचनात् अथ प्रत्यङ्गमिति विधानात् एषां
 तर्पणं नित्यम् अन्येषां कास्यमिति बोध्यम् । विष्णोरिति । आराधनं पतिबुद्ध्या
 विष्णीञ्च पूजनं कार्यं पतिबुद्ध्या न चान्यथा इति काश्रीखण्डवचनात् ।
 उपवासादिति । शास्त्रोदितान् नित्यान् कास्यान् वा अशीरान्नाभोजनरूपान्
 भोजनचतुष्टयनिष्ठतिरूपान् वा उपवासादित्यर्थः । कास्योपवासाञ्च महाभार-
 तीकृताः । यथा त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पञ्चव्रतमद्यापि वा । मासोपवासान्
 कुर्याद्वा चान्द्रायणमद्यापि वा इति । त्रिरात्रोपवासो न वैश्वश्रद्धयोः, त्रिरात्रं
 पञ्चरात्रं वा तेषां पुष्टिर्न विद्यते । वैश्याः श्रद्धाश्च ये भीष्मादुपवासं प्रकुर्वन्ते
 इति भारतवचनात् । पुष्टिर्ब्रतफलमिति । कश्चित् उपवाहतस्य पादेष्वी यस्तु

वासो गुणैः सङ्गः । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविभ्रोजनमिति धारिमाधिकीष
 वासपरमेव अत्रोपवासपदमित्याह तत्र, तस्य समुद्दितास्यैकविधत्वेन विविधाः
 नित्यमुपपत्तेः । न च उपवाससामान्यपरत्वे चाश्वत्थानुष्ठानदोषः सर्वविज्ञेयादिः
 काशीपवाससम्भवादिति, वाच्यम् एतस्य सम्भवपरत्वात् दानवत् । शीवा-
 न्नरस्य दुःखदापन्नदृष्ट्यामस्य, तारयति सुखदीप्तकृष्ट्यान् प्रापयति । नरक-
 निक्षारकलयुतेरिति । युक्तं पत्र्याः स्वाभ्यमिति वक्ष्यमाणहेतोः । पुण्यापुण्य
 इति । शरीराद् अता जाया पुण्यापुण्यकृते समेति वचनादित्यादि । पातव-
 तीति इति अतोऽपीत्यर्थः ॥ ३८—४४ ॥

अतः शङ्कादिवचनेषु व्यवहितयोजना कार्या, अपुत्रस्य
 स्वर्ग्यतस्य धनं ज्येष्ठा पत्नी हरेत् तदभावे पितरौ हरेतां
 तदभावे भ्रातृगामीति । तदभाव इति मध्यपठितं पूर्वेण
 भ्रातृगामीत्यनेन परेण च पितरौ हरेतामित्यनेन सम्बध्यते
 अधिकरोधात् न्यायस्योक्तत्वाच्च न त्वन्युताविभक्तसंसृष्टगोचरत्व-
 कल्पना ॥ ४५ ॥

अतोऽविशेषणैव विभक्तत्वाद्यनपेक्षयैव अपुत्रस्य भर्तुः
 क्तृस्त्रधने पत्न्याधिकारो जितेन्द्रियोक्त आदरणीयः ॥ ४६ ॥

अत इति । पत्न्याधिकारस्य न्यायसिद्धत्वं यतोऽत इत्यर्थः । शङ्कादि-
 वचनेष्विति । अपुत्रस्य स्वर्ग्यतस्य भ्रातृगामि धनं तदभावे पितरौ हरेतां
 पत्नी वा ज्येष्ठा इत्यादि प्रागुक्तेष्वित्यर्थः । व्यवहितयोजनानामेवाह अपुत्रस्येति ।
 अविरोधादिति । विष्णुयाज्ञवल्क्याशङ्कवचनानां परस्परविरोधपरीक्षाराधेत्यर्थः ।
 अथ व्यवहितयोजनानां मध्यपठितस्य उभयद्वन्द्वे वा उभयत्रैव वा हेतुः ।
 ननु विष्णुादिवचनेऽपि व्यवहितयोजना विरोधपरीक्षारसम्भवे व्यवहितयोजनानां
 विनिगमनमात्र इत्यत आह न्यायस्येति । वैधव्यात्प्रभृतीत्याद्युक्तन्यायस्येत्यर्थः ।
 तथाच न्याय एव विनिगमक इति भावः । निराकृतमपि केषाञ्चिन्नतं हेत्वन्तरे-
 णापि पुनर्निराकरोति न लिति । तथाचानुक्तकल्पनागौरवपरकृतमपि तदिति
 भावः । अविशेषणैव वचने विभक्तत्वादिविशेषानुपादानेमेव । विभक्तत्वाद्यन-
 पेक्षा इत्यत्रेयं हेतुः ॥ ४५—४६ ॥

पत्नीत्वञ्च प्रथमम् उत्तमवर्णायाः ।

ज्येष्ठा पत्नीत्यभिधानात् वर्णक्रमेण ज्येष्ठत्वात्,

तदाह मनुः ।

यदि स्त्राञ्च पराञ्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः ।

तासां वर्णक्रमेणैव ज्येष्ठं पूजा च वेश्म च ॥

(मनु ८।८५)

अतः परिणयनकनिष्ठापि सवर्णा ज्येष्ठैव तस्या एव
ज्ञादिषु व्यापाराधिकारात् पत्नीत्वम् । तथाच मनुः ।

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यञ्च नैतिकम् ।

स्त्रा स्त्रेव कुर्यात् सर्वेषां नान्यजातिः कथञ्चन ॥

यस्तु तत् कारयेन्मोहात् स्वजात्या स्थितयान्यया ।

यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥

(मनु ८।८६—८७)

सवर्णायाः पुनरभावे अनन्तरवर्णा पत्नी ।

यथा विष्णुः ।

सवर्णाया अभावे त्वनन्तरयैवापदि न त्वेव द्विजः शूद्रया ।

(विष्णु २६।३) धर्मकार्यं कुर्यादित्यनुवर्तते । (विष्णु
२६।१) तेन ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्यौ पत्नी तदभावे क्षत्रिया-
यापदि न तु परिणीते अपि वैश्याशूद्रे, क्षत्रियस्य क्षत्रिया-
पत्नी तदभावे वैश्यापि अनन्तरवर्णत्वात् न शूद्रा, वैश्यस्य
वैश्यैवैका । न त्वेव द्विजः शूद्रयेति द्विजमात्रस्यैव शूद्रा-
निषेधात् ॥ ४७ ॥

अनेनैव पत्नीभावक्रमेण धनाधिकारिता बोध्यया । अतः

परिणीतस्त्रीणामप्यपत्नीत्वात् तदभिप्रायकमेव नारदवच-
नम् । यथा,

भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात् कश्चित् वै प्रव्रजेद् यदि ।
विभजेरन् धनं तस्य शेषास्ते स्त्रीधनं विना ॥
भरणञ्चास्य कुर्वीरन् स्त्रीणामाजीवितक्षयात् ।
रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिन्दुरितरासु च ॥

(नारद १३।२५—२६)

तथा तस्यैव ।

अन्यत्र ब्राह्मणात् किन्तु राजा धर्मपरायणः ।
तत् स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः ॥

(नारद १३।२५)

तदीयस्त्रीणामपत्नीनां वर्त्तनधनदानं पत्नीनां पुनः
कृतस्त्रधनेऽधिकारितेत्यविरोधः ॥ ४८ ॥

अतएव ब्रह्मसतिः ।

येऽपुत्राः क्षत्रविट्शूद्राः पत्नीभ्रातृविवर्जिताः ।
तेषां धनं हरेद्राजा सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥

पत्न्यभावे राज्ञो धनसम्बन्धं दर्शयति । नारदस्तु । तत्-
स्त्रीणां जीवनं दद्यादिति वर्त्तनधनं दत्त्वा राज्ञा सर्वधनं
ग्रहीतव्यमिति यो विरोधः स पत्नीस्त्रियोभेदेन समाधेयः,
अतएव पत्न्याधिकारवचनेषु पत्नीपदानुस्मृतिः वर्त्तनवचनेषु च
स्त्रीनार्यादिशब्दप्रयोगः ॥ ४९ ॥

अप्रजा इति । पुत्रादिमातृपत्येनामाववानित्यर्थः । शेषा इतरे भ्रातरः ।
तेषामेव प्रकृतत्वात् अत्र तत् स्त्रीणां भरणमात्रविधानात् तत्सर्वेऽपि भ्रातृणा-
मधिकारः प्रतीयते । तस्यैव नारदस्यैव वचनान्तरमिति शेषः । अपत्नीनामिति ।

अवहितवर्णाणां शूद्राणामित्यर्थः । अतएव स्त्रीणां पत्नीत्वापत्नीत्वाभ्यां द्वेविध्या-
देव । पत्नीस्त्रियोभेदेन पत्नीपत्नीभेदेन । उक्तार्थे स्मृतिस्वरसमाह अतएवेति
॥ ४७—४८ ॥

यदपि देवलवचनम् ।

ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन् सहोदराः ।

तुल्या दुहितरो वापि ध्रियमाणः पितापि वा ॥

सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम् ।

एषामभावे गृह्णीयुः कुल्यानां सहवासिनः ॥

तुल्याः सवर्णा दुहितरः । सवर्णा भ्रातरः सापत्ना अभि-
मताः । सोदरभ्रातृणां स्वपदोपात्तत्वात् विशेषणानुपपत्तेः ।
तत्रापि सहोदरादिभार्यान्तस्य लिखनक्रमो नाधिकार-
क्रमार्थः विष्णुादिविरोधात्, किन्तु विष्णुाद्युक्तक्रमेण गृह्णीयु-
रित्येतदर्थः लिखनक्रमेणास्थाव्यञ्जनार्थमेव दुहितरो वापि
पितापि वेति अपिवाशब्दमुभयत्र प्रयुक्तवान् तच्चान्यत्राप्यनुष-
ज्यते तेन सहोदरा वा दुहितरो वा पिता वेत्यनास्था कीर्तन-
क्रमस्य देवलवचनेन दर्शिता ॥ ५० ॥

ध्रियमाणो धनाधिकारयोग्यः तेन पतितादिव्यावृत्तिः । विशेषणानुपपत्ते-
रिति । अव्यावर्त्तकत्वेन वेद्यर्थ्यादिति भावः । विष्णुादिविरोधादिति । अत्र
अनिगमना न्याय एवेति प्रायेवोक्तमिति भावः ॥ ५० ॥

यच्च बालकेनोक्तम् असवर्णाविषयं वा युवत्यभिप्रायं वा
प्रविभक्तसंश्लष्टविषयं वा शङ्कादिवचनमिति । तेन अव्यव-
स्थतशास्त्रार्थकथनेनात्मनो बालरूपत्वमेव प्रकटीकृतं सन्देहा-
कतरानुष्ठानानुपपत्तेः ॥ ५१ ॥

यदप्यनूढावसृष्टाभिप्रायं वर्त्तनवचनं वर्णितं तदपि धर्म-

पत्नीनामनुग्रहार्थमिति हेयमेव वर्त्तनविधानविषयस्य स्त्रीणां
पूर्वमेव दर्शितत्वात् ॥ ५२ ॥

असवर्णाविषयं वेति । एतन्मते पत्नी वा ज्येष्ठा इत्यादिशृङ्खलवचने अकार-
प्रश्लेषात् अज्येष्ठा इत्यर्थोऽवसेयः तेन न विरोधः । युवत्यभिप्रायं वेति ।
विधवा यौवनस्था च नारी भवति कर्कशा । आयुषः अपणार्थाय दातव्यं
स्त्रीधनं सदेति युवत्याः प्राणधारणमात्रोपयोगिधनदानमात्रविषयकङ्गारीतवच-
नैकमूलत्वादिति भावः । अविभक्तेति । केचिदित्यादिवाद्युक्तन्यायोऽत्र हेतुः । तेन
बालकेन । अव्यवस्थितशास्त्रार्थकथनेन, निर्णयानर्हशास्त्रार्थकथनेन । बालरूपत
बालकवत् प्रवृत्त्ययोग्यवाग्वादित्वम् । मन्देहादिति । तिसृषूक्तकोटिपु
विहिताविहितत्वसन्देहादित्यर्थः । एकतरेति । अनुष्ठानं प्रवृत्तिः । अत्र
पूर्वाक्षरपञ्चदशैः ङ्गारीतवचनविरोधोऽपि द्रष्टव्यः । यच्च तेनैवापरमुक्तं स्त्रीणां
कृतस्रधनाधिकारवचनानां वर्त्तनमात्रविधायकवचनानाञ्च विरोधपरीहाराच्च
वर्त्तनवचनम् अनूठावरुद्धाविषयं कृतस्रधनाधिकारवचनन्तु परिणीताविषयमिति
व्यवस्थापितं तदपि दूषयति यदपीति । अवरुद्धा अन्तःपुरचारिणी भोग्या
कर्मकरी । धर्मपत्नीनामिति । अवरुद्धानामित्यर्थः । अनुग्रहो वर्त्तनविधानेन
सोपहासा चेयम् अवरुद्धासु धर्मपत्नीलोक्तिः वस्तुतस्त्वासामभार्यात्वात् वर्त्तनमपि
कुत इत्युपहासः । यदा धर्मपत्नीनामिति यथायुक्तार्थकमेव । अनुग्रहार्थमिति
तासामधिकारवीधनादित्यभिप्रायः ॥ ५१—५२ ॥

किञ्च सवर्णत्वासवर्णत्वाभ्यां पत्नीकृतविशेषेऽपि पित्रो
भ्रातृणां चाधिकारे कथं विरोधः समाधेयः । संसर्गासंसर्गा-
भ्याञ्चेत् स एव विशेषः सर्वव्यापी भवतु किं पत्नीगोचरसव-
र्णादिविशेषपरिकल्पनेन अयमपि विशेषो दूषितोऽस्माभिः
पूर्वप्रपञ्चेन ॥ ५३ ॥

सोदरासोदरकृतञ्च विशेषो बृहस्पतिना पराहतः ।

तदाह ।

सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृमातृसनाभिभिः ।

असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तन्नागङ्गारिणी ॥

सनाभयः सहोदराः । तेषु सत्स्वपि पत्न्या धनसम्बन्धं
बोधयति तद्भागशब्दात् कृत्स्न एव भर्तृभागोऽवगम्यते न
पुनस्तदेकदेशः ॥ ५४ ॥

तस्मादस्मद्दर्शितेव व्यवस्था शास्त्रार्थः ॥ ५५ ॥

किं पत्नीचरति । संसर्गासंसर्गयोः प्रयोजकत्वावश्यकत्वे किमधिकेन
सवर्णासवर्णत्वादीनां प्रयोजकत्वकल्पनेनेति भावः । ननु मासु विशेषकल्पनं
किन्तु संसर्गासंसर्गाभ्यामेव विशेषः सर्वस्यापी भवत्वित्यत्राह अयमपीति ।
संसर्गासंसर्गकृत इत्यर्थः पूर्वप्रपञ्चेन केचिदित्यादिवादिमतदूषणावसरे तद्वृद्ध-
त्यतिवचनविरुद्धमित्यादिप्रपञ्चेन । अत्र पत्नीतः पूर्वं सोदरस्याधिकारः पश्चाद-
सोदरस्येति केचित् समादधिरे तदपि दूषयति सोदरेति । अत्र रत्नाकरादयः
ब्रह्मचर्यव्रते स्थितेति वचनात् सन्यग्विधवाव्रतानुष्ठात्रीणां स्त्रीणां प्रथमं सर्व-
धनाधिकारः किञ्चिद्ब्रह्मचारिणीनामप्यभिचारिणीनां तदनन्तरमधिकारः,
व्रतशून्यानां तथाविधानां वर्त्तनमात्राधिकारः, तासामेव पूर्वं भावधिकारः,
अभिचारिणीनां वर्त्तनेऽपि नाधिकार इति व्यवस्थामाहुः, अत्रापि किञ्चित्वा-
द्युक्तदूषणं द्रष्टव्यम् ॥ ५३—५५ ॥

पत्नी च भर्तृधनं भुञ्जीतैव परं न तु तस्य दानाधान-
विक्रयान् कर्तुमर्हति । तदाह कात्यायनः ।

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता ।

भुञ्जीतामरणात् क्षान्ता दायदा ऊर्ध्वमाप्नुयुः ॥ ५६ ॥

गुरौ श्वशुरादौ भर्तृगृहे स्थिता यावज्जीवं भर्तृधनं
भुञ्जीत न तु स्त्रीधनवत् स्वच्छन्दं दानाधानविक्रयानपि
कुर्वीत, तस्यान्तु मृतायां पत्न्यभावे ये दुहित्वादयो दायधि-
कारिणस्ते गृह्णीयुः न पुनर्ज्ञातयः तेषां दुहित्वादिव्यो
जघन्यत्वात् तद्बाधकत्वानुपपत्तेः पत्नी हि तेषां बाधिका
तदधिकारस्य प्रागभावे प्रध्वंसे च बाधकाभावस्याविशेषात्
बाधानुपपत्तेः ॥ ५७ ॥

नापि स्त्रीधनाधिकारिणो गृह्णीयुः तेषां स्त्रीधनविषय-
त्वात् कात्यायनेनैव च स्त्रीधनाधिकारिणां वचनान्तरैरुक्त-
त्वात् पुनरुक्तत्वापत्तेश्च ॥ ५८ ॥

दाग्राधानेति । आधानं बन्धकम् । ज्ञाता परिमिताद्वारेण स्त्रीणां ।
दायादा दुहित्वादयः । दुहित्रादीनामधिकारि ज्ञेयत्वरमाह पत्नी ह्येति ।
हि यस्यात् पत्नीव तेषां बाधिकेत्यर्थः । तेषां दुहित्रादीनाम् । प्रागभाव-
इति । इदन्तु अनुपपत्त्यमानस्यापि प्रागभावोऽस्तीति सतावस्यत्वेनाभिहित-
तन्मतेऽनुपपत्त्यमानस्यापि दुःखस्य प्रागभावार्थिनः प्रायश्चित्तादौ प्रवृत्तेः प्राय-
श्चित्प्राक् दुःखं मे मा भूदिति कामनाया आनुभविकत्वादिति । प्रागभावस्य
प्रतियोगिव्याप्यत्वमपि तु प्रागभावपदम् अत्यन्ताभावपरं तेन पतिसत्त्व एव
मरणेन पत्न्याः प्राक्कालीनाधिकारात्यन्तभावे इत्यर्थः । बाधकाभावस्येति ।
स्वत्वप्रत्यासत्त्यैव तस्या बाधकत्वमित्यभिप्रायः । वस्तुतो साधवात् तस्या-
स्वत्वस्यैव प्रतिबन्धकत्वं न तु तस्या इति बोध्यम् । नापीति । दुहित्वादौहित्रा-
भावे पतिदायादसत्त्वे इति शेषः । स्त्रीधनाधिकारिणो भावादयः । तेषां
मिति । तेषां धनाधिकारप्रतिपादकवचनस्य स्त्रीधनगोचरत्वादित्यर्थः । नन
प्रातं श्रित्येस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः । भर्तुः स्वास्यं भवेत्तत्र शेषम्
स्त्रीधनं कृतम् इति कात्यायनवचनात् तदपि स्त्रीधनं भवत्वैवेत्याशङ्का
कात्यायनेनैवेति । पुनरुक्तेति । तथाच दायाधिकारवचनस्य पुनरुक्तत्वापत्त्या
दायो न स्त्रीधनमिति भावः तदात्रैव एकस्यैव मुनेः स्त्रीधने विरुद्धाधिकार-
इयकथनेन विरोधोऽपि द्रष्टव्यः । न च गोष्ठव्यायात् दायतदितरस्त्रीधनानां
व्यवस्थाभेदो वचनाभ्यां भविष्यतीति नोक्तदोष इति वाच्यम् । दायस्य स्त्रीधन-
त्वमङ्गीकृत्य स्त्रीधनवचनानां दायेतरस्त्रीधनपरत्वेन सङ्कीर्णपक्षेणा शेषान्तु स्त्रीधन-
मित्यत्र वचने शेषपदस्यैव मुनिपरिगणितस्त्रीधनपरतया सङ्कीर्णस्य व्याप्यत्वात्
दायस्य केनापि मुनिना स्त्रीधनमध्येऽगणनात् अतएव विनियोगे स ईश्वर इति
नापङ्कारं स्त्रियः कुर्यादित्यादिना दाये तस्याः स्नातन्मग्राभाव उपपद्यत इति ।
चूडामणिसु दायादपदस्य स्त्रीधनाधिकारिभावादपरत्वे दोषान्तरमाह पुनरुक्त-
त्वापत्तेरिति व्याचष्टे ॥ ५६ = ५८ ॥

अतः पत्नीदुहितरस्येत्यादिना ये पूर्वपूर्वस्याभावे पर-
भूताधिकारिणो निर्दिष्टास्ते यथा पत्न्यधिकारप्रागभावे

गृह्णीयुस्तथा जाताधिकारायाः पद्मया अधिकारप्रध्वंसेऽपि
भोगावशिष्टं धनं गृह्णीयुः तदानीं दुहित्वादीनामेवान्यापेक्षया
मृतोपकारकत्वात् युक्तो धनाधिकारः ॥ ५८ ॥

तथा दानधर्मे ।

स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः ।

नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिदायात् कथञ्चन ॥ ६० ॥

उपभोगोऽपि न सूक्ष्मवस्त्रपरिधानादिना किन्तु स्वशरीर-
धारणेन पत्युरुपकारकत्वात् देहधारणोचितोपभोगाभ्यनु-
ज्ञानम् एवञ्च भर्तुरौर्द्धदेहिकक्रियाद्यर्थं दानादिकमप्यनु-
मतम् अतएव नापहारं स्त्रियः कुर्युरित्यपहारवचनम्
अपहारश्च धनस्वाम्यनुपयोगे भवति ॥ ६१ ॥

अतएव वर्त्तनाशक्तौ आधानमप्यनुमतं तत्राप्यंशक्तौ
विक्रयणमपि न्यायस्याविशेषात् ॥ ६२ ॥

भर्तुरौर्द्धदेहिकक्रियार्थम् अर्थानुरूपं भर्तृपितृव्यादिभ्यो
दद्यात् । तदाह बृहस्पतिः ।

पितृव्यगुरुदौहित्वान् भर्तुः स्वस्त्रीयमातुलान् ।

पूजयेत् कव्यपूर्त्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः ॥

पितृव्यपदं भर्तुः सपिण्डपरम् । दौहित्यपदं भर्तुर्दुहितृ-
सन्तानपरम् । स्वस्त्रीयपदं भर्तुः स्वसृष्टमन्तानपरम् । मातुल-
पदञ्च भर्तुर्मातृकुलपरम् । तदेवमादिभ्यो दद्यात् न पुनर-
तेषु सत्स्वेव स्वपितृकुलेभ्यः पितृव्यादिवचनानर्थक्यात् ॥ ६३ ॥

तदनुमत्या तु स्वपितृमातृकुलेभ्योऽपि दद्यात् । तदाह
नारदः ।

मृते भर्तृर्थ्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ।

विनियोगेऽर्थरक्षासु भरणे च स ईश्वरः ॥

परिचीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये ।

तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ॥

(नारद १३।२८—२९)

विनियोगे दानादौ । पतिपुत्राभावे भर्तृकुलपरतन्त्रता
तस्याः ॥ ६४ ॥

एवञ्च दुहितुरप्यधिकारे जाते तस्यां सृतायां तदभावोक्ताः
पितृधनाधिकारिणो गृह्णीयुः न तु दुहितृधनाधिकारिणः
॥ ६५ ॥

पत्न्या च भर्तृधनात् कन्यायै विवाहार्थं तुरीयांशो देयः,
पुत्राणामेव तद्दानप्रतिपादनात् दण्डापूर्पायितं पत्न्यादौनां
दानम् ॥ ६६ ॥

इति पत्न्यधिकारः ॥ ६७ ॥

उपसंहरति । अत इति । प्रागभावे इति । पूर्वोक्तार्थकयुक्तिमाह तदानौ
मिति । पत्नीमरणे इत्यर्थः । ननु दानाधानेति यदुक्तं तत्र प्रमाणमाह तथेति ।
चान्तेति पूर्ववचनस्वरसात् व्याचष्टे उपभोगोऽपीति । एवञ्च भर्तृरुपकार-
स्यापेक्षणीयत्वञ्च । ओर्द्धदेहि कर्त्तव्यार्थं पारलौकिकोपकारार्थम् । विनियोगे
दानादाविति । एवञ्च तद्वनदाने पतिपक्षपरतन्त्रता यदि तदा स्यष्टमेव
तदनुमत्या कदाचित् पितृपक्षेभ्योऽपि दानमिति । एवञ्चेति । दुहितृतीऽभ्य-
र्हितायाः पत्न्या एव भोगावगृह्णन्ते यद्यनन्तराधिकारिणामधिकारः तदा
सुतरां दुहितृनन्तरं तदभावोक्तानन्तराधिकारिणामधिकार इति भावः ।
पितृधनाधिकारिणः स्वपुत्रपित्रादयः । दुहितृधनाधिकारिणस्तदुहितृनादयः ।
दण्डापूर्पायितमिति । यथा दण्डाकर्षे तत्सम्बद्धस्यापूपस्याप्याकर्षः तथा अपुत्र-
संक्रान्तधनस्य पत्नीगततया आकर्षे तत्सम्बद्धस्य कन्याधनावगृह्णन्तविशेषस्याप्याकर्ष
इति भावः । इति पत्न्यधिकारः ॥ ५८—६७ ॥

एकादशः अध्यायः ।

द्वितीय परिच्छेदः ।

पत्न्यभावे दुहितुरधिकारः । तत्र मनुनारदौ ।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।

तस्यामात्मनि जीवन्त्यां कथमन्यो हरेद्वनम् ॥

(नारद १३।४६)

दुहितरं विशिनष्टि नारदः ।

पुत्राभावे च दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् ।

पुत्रश्च दुहिताचोभे पितुः सन्तानकारिके ॥

दुहितुरधिकारे सन्तानदर्शनं हेतुतया निगदितं सन्तान-
नश्च पिण्डदोऽभिमतः अपिण्डस्य अनुपकारकत्वेन अन्य-
सन्तानादसन्तानाच्चाविशेषात् ॥ १ ॥

दौहित्रश्च तत्पिण्डदाता, न च तत्पुत्रः नापि दौहित्री
तत्पर्यन्तेन पिण्डविच्छेदात् ॥ २ ॥

अतः पुत्रवती सम्भावितपुत्रा चाधिकारिणी । वन्ध्या
विधवा दुहितृप्रसूत्यादिना विपर्यस्तपुत्रा पुनरनधिकारिण्ये-
वेति दौक्षितमतमादरणीयम् ॥ ३ ॥

तत्र प्रथमं कन्यैवैका पितृधनहारिणी । यथा पराशरः ।
अपुत्रस्य नृतस्य कुमारी रिक्तं गृह्णीयात् तदभावे चोढ़ा ।
जडापदं पूर्वोक्तविशेषपरम् ॥ ४ ॥

तथा देवलः ।

कन्याभ्यश्च पितुर्द्रव्यात् देयं वैवाहिकं वसु ।

अपुत्रिकस्य कन्या स्वा धर्मजा पुत्रवद्वरेत् ॥

पुत्रिकापदं पुत्रोपलक्षणम् । स्वा सवर्णा । धर्मजा
औरसी ॥ ५ ॥

दुहितुरधिकारी निरूप्यत इति शेषः । विश्विनष्टि सन्तानवत्तयाधिकारि-
त्वेन । अन्यसन्तानादिति । अन्यस्य सन्तानो यथा न पिण्डदः तथाऽयमपीत्य-
विशेषः । असन्तानात् घटादेः । तत्पुत्रो दौहित्रपुत्रः । विपर्यस्तपुत्रा
पुत्रविपरौतापत्या । उन्मादादिदोषयस्तपुत्रा इति केचित्, तदसत्, दुहित-
प्रसूत्यादिनेति हेतुनोपपत्तेः । कन्यैवेति, न तु दत्तया सहैत्यर्थः । पूर्वोक्तविशेषां-
ऽविपर्यस्तपुत्रत्वम् ॥ १—५ ॥

युक्तञ्चेतत् धनमन्तरेणापरिणीतायाः कन्याया ऋतुदर्शने
पित्रादीनां नरकपातश्रुतेः । तदाह विष्णुः ।

यावत्तु कन्यामृतवः स्पृशन्ति तुल्यैः सकामामपि याच्यमानाम् ।
तावन्ति भूतानि हतानि ताभ्यां मातापितृभ्यामिति धर्मवादः

(विशिष्ट १७।५६)

तथा पैठौनसिः । यावन्नोद्भिद्येते स्तनौ तावदेव देया
अथ ऋतुमती भवति तदा दाता प्रतिग्रहीता च नरक-
माप्नोति पितृपितामहप्रपितामहाश्च विष्ठायां जायन्ते तस्मा-
न्नग्निका दातव्या ॥ ६ ॥

तस्मात् विवाहोपयुक्तत्वेन पित्रादीनां नरकनिस्तारक-
त्वात् परिणीतायाश्च पुत्रद्वारेणाप्युपकारकत्वात् तदर्थं धनं
स्वाम्यर्थमेव भवतीति पत्न्यभावे न्याय्यं कन्यास्वत्वम् ॥ ७ ॥

कन्यायास्त्वभावे सम्भावितपुत्रायाः पुत्रवत्याश्चाधिकारः ।
तदाह बृहस्पतिः ।

सदृशौ सदृशेनोद्गा भर्तृशुश्रूषणे रता ।

कृताकृता वाऽपुत्रस्य पितुर्धनहरी तु सा ॥ ८ ॥

सदृशी पितृसवर्णा । सदृशेनोदेति, उत्तमाधमवर्णपरिणीतानिरासार्थं उत्तमाधमपरिणीतादुद्दिष्टजातस्य अधमोत्तमवर्णमातामहादिश्राद्धनिषेधात् सवर्णेनोदायास्तु पुत्रहारेण पितृपकारकत्वात् ॥ ८ ॥

नयिकाऽनागतर्तुका । नयिकाऽनागतार्त्तं वा इत्यमरकोषात् । परिणीताया अनन्तरं विवाहितायाः । पुत्रहारेणेति । ऊदाया एतदुपकाराविशेषोऽपि धनाभावेनापरिणीताया ऋतुमत्तया सम्भावितस्य भविष्यती नरकस्य प्रतिकर्तृत्वमेव कुमार्याः प्रथमं धनग्रहणे निमित्तमिति बोध्यम् । सदृशीति । तेनासवर्णायाः सदृशेनोदाया अपि न धनाधिकारित्वमित्युक्तम् । कृता पुत्रिका अकृता तदन्या । अपुत्रस्येति । अपुत्रौकस्येति बोध्यं पुत्रभाव एव कन्याधिकारावगमात् । निषेधादिति । निषेधस्तस्मादेव विशेषणात् कल्पनीय इति ॥ ६—८ ॥

पुत्रिकापुत्रस्य तु पुत्रवदेवोपकारकत्वातिशयेन पुत्रिकायाः पुत्रतुल्यत्वात् पुत्रिकौरसयोः समधनाधिकारः अपुत्रिकायास्तूदायाः पुत्रादिन्यूनोपकारकस्वपुत्रहारेणोपकारकत्वमिति कन्यापर्यन्तानामभाव एव धनाधिकारिता युक्ता ॥ १० ॥

न च वाच्यम् एवं तर्हि पुत्रवत्या एव प्रथमाधिकारोऽस्तु तदभावे तु सम्भावितपुत्राया इति यतस्तस्याः पश्चादुत्पन्नस्य दौहित्रस्यानधिकारापत्तेः न च तदयुक्तं दौहित्रतया द्वयोरप्युपकाराविशेषात् ॥ ११ ॥

भर्तृशुश्रूषापरत्वेनावैधर्म्यं प्रदर्शयन् सम्भावितपुत्रतां प्रदर्शयति ॥ १२ ॥

सेति च पूर्ववचनोपात्ता दुहिता परामृश्यते तदेवं सदृशी सदृशेनोदा इत्यादि विशेषणात् न दुहितृमात्रतया पितृधनाधिकारितेति दर्शयति ॥ १३ ॥

अन्यथा,

अङ्गादङ्गात् सम्भवति पुत्रवदुद्दिता नृणाम् ।

तस्याः पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ॥

इत्यनेन दुहितृधिकारे कथिते सदृशी सदृशेनोद्देत्यादिना
तस्यैवाभिधानं पुनरुक्तं स्यात् सामान्यप्राप्तेस्तु विशेषकथनम-
पुनरुक्तमेव ॥ १४ ॥

कृताकृतावेत्येकवचनेनोपात्तत्वात् पुत्रिकाया अपि पत्नीकुमार्योरनन्तराधि-
कारः स्यादित्याशङ्कामपनेतुमाह पुत्रिकापुत्रस्य लिति । अनेन द्वारगत उत्कर्ष
उक्तः । स्वतीऽप्युत्कर्षमाह पुत्रिकाया इति । तुल्यत्वञ्च पुत्रिकायां कृतायां
त्वित्यनेन मनुना समविभागोक्तेरिति पुत्रादित्यादिना पौत्रप्रपौत्रपरिग्रहः ।
एवं तर्हीति । यद्युपकार एव प्रयोजकः तदेत्यर्थः । यत इति । अतएव
विधवासधवयोः पुत्रवत्योर्विधवाया एव प्राक् पुत्रद्वारेण पिण्डदातृत्वात् प्रथम-
मधिकारं इति निरस्तम् । भर्तृशूषायाः पितृपकारत्वाभावात् धनव्यवस्थाप्रयो-
जकत्वमाशङ्क्याह भर्तृशूषापरत्वेनेति । पूर्ववचनेति । अङ्गादङ्गात् सम्भूतौ-
त्यादिवचनोपात्तित्यर्थः तस्यैव दृश्यतेरेव । सामान्यप्राप्तेरिति । यद्यपि विशेष-
कत्वेऽपि सामान्यवचनवैयर्थ्यं तथापि सामान्यवचनाभावे । कुमारीणामनूदा-
त्वेनाधिकाराप्रसक्त्या न वैयर्थ्यम् ऊढायास्तु दुहितृत्वपुरस्कारेण सामान्य-
वचनादधिकारप्राप्ता विशेषस्यापुनरुक्ततैवेति भावः । तस्याः पितृधनं त्वन्यः
कथमित्यनेनान्यवाधायत्वेनावैयर्थ्यमिति केचित् ॥ १०—१४ ॥

यत एव स्वपुत्रद्वारेण पिण्डदातृतया दुहितुः पितृधनाधि-
कारः अतएव पुत्रिकाया अपि पितृपरमजातधनसम्बन्धायाः
पञ्चाह्नव्यात्वेन तद्भर्तुर्वा प्रसवासामर्थ्येन विपर्यस्तपुत्राया
मरणे तद्धनं न भर्तुः । शङ्कलिखितौ । यथा

प्रेतायाः पुत्रिकायास्तु न भर्ता द्रव्यमर्हति ॥

अपुत्रायाः । तथा पैठीनसिः ।

प्रेतायां पुत्रिकायान्तु न भर्ता द्रव्यमर्हति ।

अपुत्रायां कुमार्या वा स्वस्रा ग्राह्यं तदन्यथा ॥

ततः कुमार्या स्वस्रा अन्यथा वा पुत्रवत्या सम्भूत-
पुत्रया स्वस्रा तद्धनं ग्राह्यम् अतः स्वराधिकारे व्यावृत्तिर-
न्याधिकारस्य ॥ १५ ॥

यत्तु मनुवचनम्

अपुत्रायां मृतायान्तु पुत्रिकायां कथञ्चन ।

धनं तत् पुत्रिका भर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥

(मनु ८।१३५)

तदविपर्यस्तपुत्राया उत्पन्नमृतपुत्रायाः पुत्रिकाया मरणे
वेदितव्यम् ॥ १६ ॥

विपर्यस्तपुत्रायाः पुत्रात्यन्ताभाववत्याः । तद्धनं ग्राह्यमिति । तदपि
पद्मभावे, कुमार्थादीनां पद्मीनाध्यत्वादिति बोध्यम् । अत इति, उक्तोभय-
मूत्राभ्यां विपर्यस्तपुत्रायाः पुत्रिकाया मरणे कुमार्थादीनामधिकारे प्राप्ते
भर्तुरधिकारस्य व्यावृत्तिरिति समग्रोपसंहारः । प्राचस्तु यतः पुत्रिकाया एव
विपर्यस्तपुत्राया मरणे न तत्संक्रान्तदाये भर्तुरधिकारोऽतः स्वराधिकारे,
अन्यासां दुहित्रादीनामप्यधिकारेऽनन्तरं विपर्यस्तपुत्राणां तासां मरणे
भर्तुरधिकारस्य व्यावृत्तिरिति व्याचक्रुः तदविपर्यस्तपुत्राया इति । एतस्यैव
विवरणम् उत्पन्नमृतपुत्राया इति । अत्र पदान्तराभावात् चकारः क्राविल्कः
पाठः प्रामादिकः । अथात्र शङ्खलिखितादिवचनमेव उत्पन्नमृतपुत्राविषयं मनु-
वचनन्तु अनुत्पन्नपुत्राविषयमिति वैपरीत्यमेव न कुतः अनुत्पन्नपुत्राया इवा-
विपर्यस्तपुत्रायाः पुत्रीत्यर्थैव पितुः पुत्रामनरकनिवर्त्तकत्वेन कृतीपकारकतया
स्वामित्वे निर्बुद्धे पितुरितरापेक्षया तस्या एवाधिकोपकारकत्वात् तद्वर्त्तुरधिकारी
युक्तः अतएव दौहित्रस्य सुखं दृष्ट्वा किमर्थमनुशोचसीत्यनेन दौहित्रसुखदर्शन-
स्यापि नरकनिस्तारकतेति पुत्रानुत्पन्नौ तु पितृपकाराभावात् तस्या एव न
स्वामित्वं कृतस्तत्पत्युरिति तत्पितृधनाधिकारिणां कन्यादीनामेव तदानीं तत्रा-
धिकारस्य न्याय्यत्वात् यद्यपि बन्ध्यात्वेनावधृतायां जीवन्त्यामप्येवमुचितं तथापि
प्रेताया इति शङ्कणात् न जीवन्त्यां तस्याम् अन्यदुहित्रादीनामधिकार इति ।

परं तु नेदं वचनं पुत्रिकापितृदायपरं किन्तु तदीयसौदायिकादिधनान्तर-
विषयं पुत्रिकायाः पुत्रत्वेन तस्याः तद्धने पितृधिकारप्रसक्तौ तदपवादक-
मित्याहुः ॥ १५ ॥ १६ ॥

पिण्डदानमेव च द्वयोरेकं निमित्तमनुवदति वृहस्पतिः ।

यथा पितृधने स्वाम्यं तस्याः सत्स्वपि बन्धुषु ।

तथैव तत्सुतोऽपीष्टे मातृमातामहे धने ॥

यथा येन दौहित्रदेयपिण्डेन दुहिता पितृधनाधिकारिणी
तथैव तेनैव पिण्डदानेन दुहितृसुतोऽपि मातामहधने स्वामी
सत्स्वपि पित्रादिषु ॥ १७ ॥

न च पुत्रिकापुत्राभिप्रायेणेदं वचनं कृताकृता वाऽपुत्रस्य
पितुर्धनहरी तु सा एतद्वचनोपात्तकृताऽकृतदुहितोरेव तस्या
इति तत्सुत इति तत्पदेन परामर्शात् प्रत्यासत्त्यतिरेकाद्वा
अकृतापरामर्श एव युक्तो न तु तत्परित्यागः ॥ १८ ॥

अतएव मनुः ।

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्तमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।

स एव दद्यात् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लौकिके विशेषो नास्ति धर्मतः ।

तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥ १९ ॥

(मनु ८ । १३२—१३३ ।)

मातामहदेहात् दुहितुः सम्भवं दौहित्रस्य धनाधिकारि-
हेतुत्वेन निर्दिशति न तु पुत्रिकाकरणं इतरथा तदेव निर्दि-
शेत् । तथा व्यक्तमाह स एव ।

अकृता वा कृता वापि यं विन्देत् सट्टयात् सुतम् ।

पौत्री मातामहस्तेन दद्यात् पिण्डं हरेत् धनम् ॥

(मनु ८ । १३६)

अकृताजातस्यापि दौहित्रस्याधिकारमभिदधाति ॥ २० ॥

दौहित्राधिकाराद्यमाह पिण्डदानमेव चेति । अकारो युक्तान्नरसूचनाय ।
अकारोपकारस्य प्राधान्यार्थः । एतेन विपर्यस्तपुत्रायाः पिण्डदानाद्योग्याया
हेतुः सुतरां नाधिकार इत्यपि सूचितम् । यथेत्यस्य विवरणं येनेत्यादि ।
येवेत्यस्य विवरणं तेनैवेत्यादि न च पुत्रिकापुत्रेति । तथाच दौहित्रसामान्या-
धिकारे नेदं वचनं किन्तु पुत्रिकाधिकार एवेति भावः । एतेनोक्तवचनस्य
पुत्रिकाविषयतया तस्या एवाधिकारे पिण्डदानोपकारस्य हेतुतया निर्देशात्
पुत्रिकाणां दुहितृपुरस्कारेणैवाधिकारात् तादृश्या विपर्यस्तपुत्राया अपि
नाधिकारस्य निर्व्यूढत्वात् तदनन्तरं तद्वर्तुरेवाधिकारी न्याय इति पूर्वोक्त-
विपर्यस्तोपि सूचितः । परामर्शादिति । तद्वचनानन्तरमेव एतद्वचनस्य दृष्ट-
व्यतिना अभिहितत्वादिति भावः । प्रत्यासत्त्येति । कृतापेक्षया अकृतायाः
यात् निर्दिष्टत्वेन अधिमेण तस्या इत्यनेन तस्या एवाव्यवधानातिरेकादित्यर्थः ।
एतदेवेति । निर्दिष्टतृतीय्येणान्वयः । न त्विति । एतेन एतद्वचनं न पुत्रिका-
विषयं किन्तु दुहितृसामान्यविषयं देहसम्भवस्य हेतुत्वेन निर्देशादित्यपि
सिद्धम् ॥ १७—२० ॥

किञ्च स्मृतिषु दौहित्रपदमपुत्रिकाजातपरं नियतम् ।

यथा वौधायनः ।

अभ्युपगम्य दुहितरि जातं पुत्रिकापुत्रम् ।

अन्यं दौहित्रम् । विद्यादित्यनुवर्तते ॥ २१ ॥

अतएव भोजदेवेनापि कृताकृतदुहित्रधिकारे ब्रह्मस्यति-
रित्वभिधाय यथा पित्रधने स्वाभ्यमिति वचनं लिखितम् ॥ २१ ॥

तथा गोविन्दराजेनापि मनुटीकायाम् ।

अपुत्रपौत्रे संसारे दौहित्रा धनमाप्नुयुः ।

पूर्वेषान्तु स्वधाकारे पौत्रदौहित्रकाः समाः ॥

एतद्विष्णुवचनबलेन ऊढातः प्रागेव दौहित्रस्याधिकारो
दर्शितः ॥ २३ ॥

स चास्मभ्यं न रोचते सदृशी सदृशेनोदेत्यादिविरं
धात् ॥ २४ ॥

किन्तु उदायाः प्रागुक्तरूपाया अभाव एव सत्स्वा
पिचादिषु दौहित्रस्याधिकारः तथैवेति दुहितृवद्भावविधाना
तत्सुतोऽपीत्यप्यर्थतया च निर्देशात् दौहित्रस्य जघन्यता
गतेः । अतो दुहितृनन्तरं दौहित्रस्याधिकार इति सिद्धम् ॥ २५ ॥

ननु पौत्री मातामहस्तेनेत्यभिधानात् अकृतापदम् अभिसन्धिकृतापः
अपुत्रिकापुत्रस्य मातामहपौत्रत्वानुपपत्तेः अभिसन्धिसमावात् पुत्रिकेत्येकेषामि
मोतमदर्शनात् अभिसन्धिसमावेणापि पुत्रिकासम्भवात् तथाचाकृता अवाकृत्येत्यथ
नेतद्वचनमपुत्रिकापुत्रविषयमत आह किञ्चेति । अन्तं दौहित्रमिति । एते
कृतेति वचनं पौत्रीत्यनुवादादस्तु पुत्रिकापुत्रपरं दौहित्री स्त्रियं रिक्तमि
वचनस्तु दौहित्रपदग्रहणात् अपुत्रिकापुत्रपरमेवेत्यकृतापुत्रस्याप्यधिकारः नि
एवेति दर्शितम् । अभ्युपगम्य पुत्रिकात्वेन स्वीकृत्य । अतएवेति । य
पितृधने स्वास्यमिति वचनस्य कृताकृतजातदौहित्रविषयत्वादेवेत्यर्थः । इ
स्यतिवाक्ये पौत्रादिपदाभावात् अकृता अपुत्रिकेत्येवार्थ इत्याशयेनाह सदृ
सदृशेनेति । विरोधादिति । तेन पुत्राभाव एव दुहितृरधिकारस्य प्रतिपादन
सुतरामेव दौहित्रस्य तदनन्तरत्वादित्यर्थः । प्रागुक्तरूपाया अप्रतिपक्षपुत्राः
दुहितृवद्भावविधानात् तत्सुल्यत्वाभिधानात् जघन्यतावगतेरित्यशेषान्वयः अत्र हे
उपमानस्य उपमेयापेक्षया उत्कर्षबोधस्य सार्वभौमिकत्वमिति । हेत्वन्तरम
तत्सुतोऽपीति । अकारो भिन्नक्रमे अप्यर्थतया अप्यर्थान्वितार्थबोधकतत्सुतो
ऽपीतिशब्दार्थतया निर्देशाच्चेत्यर्थः ॥ २१—२५ ॥

सत्स्वपि बभ्रुष्वित्यनेन पित्रोरधिकारः पत्न्यभा
न्याय्योऽपि दुहितृदौहित्राभ्यां बाधित इति बाधकाभा
पित्रोरधिकारः सूचितः । अतएवानन्तरं ब्रह्मस्यतिः ।

तदभावे भ्रातरस्तु भ्रातृपुत्राः सनाभयः ।

सकुल्या बान्धवाः शिष्याः श्रोत्रिया धनहारकाः ॥

तच्छब्देन दौहित्रस्य पित्रोश्च सूचितयोः परामर्शः । तेना-
मीषामभावे भ्राजादीनामधिकारः ॥ २६ ॥

यत्तु बालकवचनम् ।

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।

इत्यादिनियतक्रमादधस्तन एव दौहित्रस्याधिकार इति
तद्वद्व्यतिवचनेन विरोधात् बालवचनमेव बहुवचनात्सदुद्दिष्ट-
पदेनैव कन्योदादौहित्राणां निर्दिष्टत्वात् क्रमविरोधाभावात्
यथा स्वर्गात्तस्य ह्यपुत्रस्येति पुत्रपदं प्रपौत्रपर्यन्तपरं पिण्ड-
दत्त्वाविशेषात् तथा दौहित्रस्यापि पिण्डदत्त्वात् तत्पर्यन्त-
परं दुहितृपदं यथा वा

पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् ।

इत्यत्र पुत्रपदं पत्नीपर्यन्तपरम् अन्यथा दुहितर इति
बहुवचनमनर्थकं स्यात् पत्नी तत्सुत इत्यादिवदेकवचनमेव
कुर्यात् भ्रातर इत्यस्यापि बहुवचनस्यार्थवत्तां वक्ष्यामः ॥ २७ ॥

किञ्च पित्रादीनां राजपर्यन्तानां क्रमनियमात् राज्ञो-
ऽभावे दौहित्रस्याधिकारो वाच्यः न च कदाचिद्राज्ञोऽभावो-
ऽस्तीत्यनधिकार एवाभिहितो भवेत् ॥ २८ ॥

तस्मात् विश्वरूपजितेन्द्रियभोजदेवगोविन्दराजैर्दुहित्र-
भावे दौहित्रस्याधिकारो निरूपित आदरणीयः ॥ २९ ॥

अतएवानन्तरमिति । यथा पित्रधने स्वास्यमित्यनन्तरमित्यर्थः । तच्छब्दे-
नेति । अन्यथा पित्रोरवचने दौहित्राभाव एव भ्रात्रधिकारे पितरौ भ्रातर-
समेत्यादि याज्ञवल्क्यादिविरोधः स्यादिति भावः । स एव दद्याद्दौहित्राविति
मनुवचनं पुत्रिकापुत्रपरमेव पित्रधनयज्ञपक्षे मातामहधनयज्ञपक्षे च उभय-
पक्षपिण्डदानविधायकं पित्रधनयज्ञपक्षे तु केवलमातामहपक्षस्यैव पिण्डदान-

मिति, अपुत्रिकापुत्ररूपदौहित्राधिकारस्तु पत्नी दुहितरश्चेत्यादिना निर्दिष्टाधिकारिणाम् अनन्तरमेवेति बालकमतं तदपाकर्तुमाह यस्त्विति । इहस्यति वचनेनेति । तथैव तत्सुतोऽपीष्टे मातृमातामहे धने इत्यनेनेत्यर्थः । बालवचनमिति । शिशोरिवानभिसंहिततात्पर्यस्य वचनमित्यर्थः । नन्वेवं याज्ञवल्क्याद्युक्तक्रमविरोधः तैर्दुहित्ननन्तरं दौहित्रस्यानिर्देशादत आह बहुवचनेति । दुहितुरुदानूदाभेदेन वैविध्यात् बहुत्वान्वयानुपपत्त्या तथैव तत्सुतोऽपीति इहस्यतिना दौहित्रस्य दुहितृधर्मातिदेशेन च अजहत्स्वायंलक्षणया दुहितृपदस्य दुहितृदौहित्रीभयपरत्वादिति भावः । लत्यतावच्छेदकान्तु अनूदीढादौहित्रान्यतमत्वादिकमिति बोध्यम् । असगोत्रत्वे सति साचात्यरम्परा साधारणपार्वणकर्तृत्वमिति केचित् । प्रपौत्रपथ्यन्तपरमिति । अत्र लत्यतावच्छेदकं सगोत्रत्वे सति पार्वणकर्तृत्वम् । वक्ष्यःम इति । संसृष्टवचनव्याख्यावसरे इत्यर्थः । दुहितृपदस्य दौहित्रपथ्यन्तपरत्वाभावे दीपमप्याह किञ्चेति ॥ २६-—२८ ॥

यदा च कन्या जाताधिकारा पश्चात् परिणीता सती स्मियते तदा तद्वनं कन्याया अनुत्पन्नाधिकाराया अभावे येषामूढादीनां प्रतिपादितम् उत्पन्नाधिकाराया अप्यभावे तेषामेव तद्वनं न तु तद्वत्तादीनां भवति तस्य स्त्रीधनविषयत्वात् भुञ्जीतामरणात् क्षान्तेति वचनेन जाताधिकारायाः पत्न्या अभावे अनुत्पन्नाधिकारपत्न्याभावोक्तानां पूर्वधनस्वामिदायग्राहिणां दुहितृदादीनां धनाधिकारस्य दर्शितत्वात् पत्नीतो जघन्यदुहितृदौहित्रयोरधिकारे दण्डापूपन्यायसिद्धोऽयमर्थः ॥ ३० ॥

यदा पत्नीत्युपलक्षणं स्त्रीमात्राधिकारे अयमर्थो बोद्धव्य इति तात्पर्यम् ॥ ३१ ॥

इति दुहितृदौहित्रयोरधिकारः ॥ ३२ ॥

दौहित्राधिकारं निरूप्य कन्याधिकारे विशेषमाह यदेति । केचित् पुत्रिकाया विपथ्येक्षपुत्राया अभावे तत्पितृधनं न भर्तुः किन्तु पितृधनाधिकारिणमित्युक्तम् अपुत्रिकायास्तथात्वे किं स्यादत आह यदेति इत्याहुः ।

म्रियते इति । पुत्रमनुष्यादेत्यादि । तस्येति । भर्ताधिकारायं कवचन-
स्यत्यर्थः, आदिना पित्रमात्रमात्राणां यद्वचनम् । सक्तार्थे युक्तिमाह भुञ्जीति ।
अधिकारे अधिकारसाधने । अयमर्थ इति । नाताधिकाराभावे अनन्तराधि-
कारिणामूदादीनामधिकार इत्येवंरूपोऽर्थ इत्यर्थः । ननु यावद्वचनं हि वाच-
निकमिति न्यायात् पत्राधिकार एव तथात्वम् अन्यथा तत्र पत्नीपदोपादान-
वैयर्थ्यापत्तिः अतः पत्नीपदस्य स्त्रीमात्रपरत्वमाह यदेति । पत्नीति । भुञ्जीता-
मरणात् चान्ता इत्यत्र पत्नीपदं स्त्रीमात्रपरत्वकमित्यर्थः । ननु किमत स्त्रीमात्रोप-
लक्षकत्वे वीजमिति चेत् अत्रायं भावः स्त्रीसंक्रान्तधनस्य स्त्रीधनत्वाभावात्
अधिकारिविशेषस्यात्र वचनादप्राप्त्या वैयर्थ्यापत्तेः आकाङ्क्षा कल्पने सादृश्यात्
स्त्रीसंक्रान्तधनमात्रस्य पूर्वस्वामिदायादरूपोऽधिकारौ कल्पनीय इत्येतदर्थं पत्नी-
पदस्य स्त्रीलक्षकत्वमिति । अथैव पत्नीतीऽभ्यर्हितायाः पुत्रिकायाः तथा
दर्शनात् पुत्रिकौरसयोः साभ्यात् पुत्रादिरहितस्य औरसस्यानन्तरं तद्वनं
तत्पत्रा न स्यात् स्याच्च दायादानां दुष्टिवादीनामिति चेन्नैव पुत्रस्य जन्मनैव
कृतोपकारतया तत्र तस्य स्वामित्वे निर्व्यूढे तदनन्तरं तदुत्तराधिकारिणा
तत्पत्रादीनां तत्राधिकारस्य न्याय्यत्वात्, विपर्ययस्तपुत्रायास्त पुत्रिकाया
उपकारलिङ्गाभावात् तदधिकारस्यैवानिर्व्यूढतया तदनन्तरं दायादाधिकारस्यैव
न्याय्यत्वादिति ॥ ३०—३२ ॥

एकादशः अध्यायः ।

तृतीयः परिच्छेदः ।

दौहित्रस्याभावे पितुरधिकारो न मातुः नापि युग-
पन्मातापित्रोः तदभावे मातृगामीति विष्णुवचनविरोधात्
॥ १ ॥

यत्तु मनुवचनम् ।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्वनम् ॥

(मनु ८।२।१७)

यच्च दृष्टस्यतिवचनम् ।

भार्यासुतविहीनस्य तनयस्य मृतस्य च ।

माता रिक्थहरी ज्ञेया भ्राता वा तदनुज्ञया ॥

तत्पितृपर्यन्ताभावे बोद्धव्यम् ॥ २ ॥

दौहित्राधिकारं निरूप्य तदनन्तरं पितुरधिकारमाह दौहित्रस्याभाव इति । न मातुरिति पितुः पूर्वमिति शेषः । याज्ञवल्क्यावचने पितराविति दम्बनिर्देशात् यौगपद्याधिकारमाशङ्क्याह नापि युगपदिति । तदभाव इति । एतेन तदभावे मातृगामि तदभावे पितृगामीति रत्नाकरादिभिर्लिखितः पाठो वक्ष्यमाणविरोधात् भ्रमविजृम्भित एवेति ध्वनितम् । तत्पितृपर्यन्ताभाव इति, वक्ष्यमाणविण्वचनेन मनुवचने अपत्यपदस्य पत्न्यादेः दृष्टस्यतिवचने च भार्यापुत्रपदयोः पौत्रादेरुपलब्धकत्वस्यावश्यकत्वात् पितरुपलब्धकत्वस्यापि युक्तादिति भावः ॥ १—२ ॥

न्यायागतञ्चैतत् दौहित्रात् परतो मातृतश्च पूर्वं पितुरधिकार इति मृतपिण्डमृतभोग्यान्यपिण्डद्वयदातुर्दौहित्रात् मृतभोग्यान्यपिण्डद्वयमात्रदातृतया पितुर्जघन्यत्वात्, मातृदिभ्यस्तु मृतभोग्यान्यपिण्डद्वयदातृतया वीजस्य चैवं योन्याश्च वीजमुत्कृष्टमुच्यते (मनु ८।३५) इति मनुवचनावगतोत्कर्षेण च बलवत्त्वात् ॥ ३ ॥

पितरावित्यत्र च पितृक्रम एवावगम्यते । तथाहि पितृपदात् प्रातिपदिकात् प्रथमं पितुरवगतेः पश्चात्तु द्विवचनबलेनैकशेषकल्पनया मातुरवगमात् ॥ ४ ॥

अतः क्रमज्ञानं क्रमाभिधानव्याप्तं तत् निवर्त्तमानं क्रमज्ञानं निवर्त्तयतीत्यनुमानं तदप्रमाणं व्यापकनिवृत्तेरसिद्धत्वात् विण्वचनविरोधाच्च ॥ ५ ॥

इति पितुरधिकारः ॥ ६ ॥

न्यायमाह न्यायगतमित्यादि । दौहित्रात्परतोऽधिकारे हेतुमाह सृत्
 पिच्छेति । सातृतः पूर्वमधिकारे हेतुमाह मातादिभ्य इति । युगपदधि-
 काराभावे हेत्वन्तरमाह पितरावित्यनेति । पितृक्रम एवेति । पितुः प्राक्
 रतिपादितत्वादिति भावः । प्राक् प्रतिपत्तिं दर्शयति तथाह्वीति । तथाच
 पितराविति पितृक्रमाभिधानपरमेव तत्प्रापकान् उक्तन्यायोपहंसितविषयवचन-
 नेव अतोऽत्र द्विवचनावगतसाहित्यम् अभिधानक्रियापेक्षयैव गणां भोज्यता-
 मिति वदति भावः । केचित्तु पितरावित्यत्र युगपदेव पित्रोरन्वयबोधः तथाच
 क्रमिकान्वयबोधस्य क्रमिकपदार्थस्मरणव्यापकतया प्रकृते व्यापकस्य क्रमिका-
 न्वयबोधस्याभावे व्याप्यस्य क्रमिकपदार्थस्मरणस्याप्यभावात् युगपदेव द्वयोरुप-
 स्थित्या युगपदेवाधिकारः पित्रोरिति वदन्ति तन्मतं दूषयति अत इति ।
 उक्तक्रमेण क्रमिकोपस्थितेरावश्यकत्वात् इत्यर्थः । क्रमज्ञानं क्रमिकपदार्थ-
 स्मरणं क्रमाभिधानं क्रमिकान्वयबोधः तद्व्याप्तमित्यर्थः, तत्क्रमाभिधानम्
 व्यनुमानमिति इति व्याप्तिहेतोर्यदनुमानं व्याप्याभावसाधने व्यापकाभावरूप-
 म् तत् लिङ्गं तदप्रमाणम् अर्थासाधकम्, अर्थासाधने स्वरूपासिद्धिहेतुमाह व्यापक-
 नवत्तेरिति । तथाच तयोरन्वयबोधः क्रमेणैवेति भावः । ननु हन्वस्थलं
 साहित्येन युगपदन्वयबोधी न तु क्रमिकः तथाच कथं व्यापकनिवृत्तेरानिवृत्त-
 मन्वय आह विष्णुवचनेति तथा चान्वयबोधस्य यौगपदिकत्वेऽपि नाधिकारो
 यौगपदिकः विष्णुविरोधात् किन्तु क्रमिक एव यथा पदौदुहितरथैवेत्यत्र सर्वं
 साहित्यानेकान्वयबोधविषयत्वेऽपि वचनान्तरबलात् कुमार्यादिक्रमेणाधिकार-
 इति भावः ॥ ३-६ ॥

एकादशः अध्यायः ।

चतुर्थः परिच्छेदः ।

पितुरभावे मातुरधिकारः पितुरधिकारानन्तरं तदभावे
 मातृगामीति, विष्णुश्रुतेः ॥ १ ॥

युक्तश्चेतत् गर्भधारणपोषणात् कृतोपकारतया तन्निष्-

क्रयस्यावश्यकर्तव्यत्वात् पुत्रभोग्यान्पिण्डजननेनाप्युप-
कारकत्वाच्च भ्रात्रादिभ्यः पूर्वमधिकारस्य न्याय्यत्वात् ॥ २ ॥

अतः पितृतो गौरवातिरेकश्रुतेः मातुरधिकारः पितृतः
पूर्वमिति द्वयं गौरवातिरेकस्य धनसम्बन्धहेतुत्वे उत्पादक-
ब्रह्मदात्रोर्गौरवान् ब्रह्मदः पितेति (मनु २।१४६) पितृतः
पूर्वमाचार्यस्याधिकारापत्तेः, कनिष्ठे च भ्रातरि भ्रातृसुते
वा सत्यपि पितृव्यादौनामधिकारापत्तेश्च ॥ ३ ॥

अतः पितृतः परत एव मातुरधिकार इति, एवञ्च सृतस्य
पितृसन्तानात् पूर्वं पितुश्च परतो मातुरधिकार इति वदता
पितामहसन्तानात् पूर्वं पितामहाच्च परतः पितामह्या
धनाधिकारः सूचितः । अन्यथा पितरौ भ्रातरस्तथेति
क्रमविरोधः स्यात् । अतएव मनुः ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ।

ससन्तानायां वृत्तायामित्यर्थः ॥ ४ ॥

अपिशब्दचकारयोश्चोभयत्रान्वयः कार्यः, तेन मातरि च
वृत्तायां पितामह्यपि गृह्णीयात् किं पुनर्भ्रात्रादयः पितामह-
पर्यन्ता इति, अपिशब्दसूचिताः भ्रात्रादयः ॥ ५ ॥

तदयं वचनार्थः दौहित्रान्तात् सृतसन्तानात् परतः
स्वसन्तानाच्च पूर्वम् उक्तक्रमेण पित्रोरधिकारः, अतः स्वसन्ता-
नात् पूर्वं पितामहपितामह्योरधिकारोऽनेनैव दर्शितः अतएव
याज्ञवल्कीन मातुरधिकारप्रदर्शनेनैव पितृव्यादिभ्यः पूर्वं
पितामहपितामह्योरधिकारस्याप्युक्तत्वात् न पृथगुक्तः ॥ ६ ॥

इति मातुरधिकारः ॥ ७ ॥

पितुरनन्तरं मातुरधिकारमाह पितुरिति । अस्य न्यायमूलत्वमाह युक्त-

ज्ञेयमिति । भ्रात्रादिभ्यः पूर्वमिति । यद्यपि भ्रातापि तद्गोप्यपिण्डदः तथापि गर्भधारणाद्युपकारकत्वेन भ्रातृमातृसम्बन्धाधीनस्वास्थ्यं च प्रथमं मातुरेवाधिकार इति । गौरवातिरेकेति । सङ्ख्यन्तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते इत्यादि नैत्यर्थः । उपसंहरति अत इति । पितृतः परत इति भ्रात्रादिभ्यः पूर्वमित्यपि बोध्यम् । पितृसन्तानात् भ्रात्रादेः पितामहसन्तानात् पितृव्यादेः । अन्यथेति । उक्तक्रमेणाधिकाराकल्पने इत्यर्थः । क्रमविरोधः स्यादिति । ननु वाचनिक एव पितरौ भ्रातरस्तथेति क्रमः स च पितामह्याः कल्पनां विना कथमनुपपन्नः मैवं मातुः परम्परया पिण्डत्रयस्य धनिभोग्यस्य दानेऽपि साक्षात् तद्गोप्यपिण्ड-
त्रयदातृतया श्रेष्ठात् भ्रातृतः पूर्वमधिकारी गर्भधारणाद्युपकारकत्वादेव मुनिभिरुक्तः एवं पितामह्यादधिकारेऽपि यदि साक्षात् तद्गोप्यपिण्डदयदातुः पितृव्यात् अन्यद्वारा तादृशपिण्डदायाः पितामह्या धनिपितृजननेन पितृव्यधन सम्बन्धमूलतया चाधिकोपकारकत्वेन पितृव्यं बाधित्वा धनाधिकारी न भवेत् तदीक्षरूपस्याप्रयोजकत्वात् मातृभ्रातृः क्रमाभिधानं मुनीनां न स्यादिति भावः । केचित्तु पितामह्यपितृव्ययोः पौर्वापर्यं केनापि नोक्तम् अतः कल्प्यां तथाच अन्यथाकल्पने मातृभ्रातृस्थलोक्तस्य उपकाराधीनाधिकारक्रमस्य विरुद्धः । दित्याहुः । अपिशब्दमुचिता इति । व्याख्यानवाक्यस्या अपिशब्दमुचिता इत्यर्थः । एतच्च पितरौ भ्रातरस्तथा इति मातृगामौत्यभिधाय तदभावे मातुः गामौत्यादिकश्रुतिमूलत्वादुक्तम् ॥ १—७ ॥

एकादशः अध्यायः ।

पञ्चमः परिच्छेदः ।

मातुरभावे भ्रातुर्धनं मातृगामौत्यभिधाय तदभावे
अतृगामौति विष्णुवचनात् तदिति मातुः परामर्शः पितरौ
भ्रातरस्तथेत्यत्रापि पितरौभावे भ्रातुरधिकारावगतेः ॥ १ ॥

न च भ्रातरस्तथा तत्सुत इति यथा भ्रातरोऽधिकृता-
स्तथा भ्रातृपुत्रोऽपि मातुरनन्तरमधिकारी स्यादिति वाच्यं

भ्रातृगामीत्यभिधाय तदभावे भ्रातृपुत्रगामीति विष्णुविरो-
धात् तदिति भ्रातुः परामर्शः ॥ २ ॥

न्याय्यं चैतत् मृतधनिभोग्यपित्रादित्रयपिण्डदानेन भ्रातृ-
रूपकारकत्वात् तथा तद्देयमातामहादिपिण्डत्रयदानेन
तत्स्थानपाताच्च अनेवरूपात् भ्रातृपुत्रात् बलवत्त्वात् मातृ-
मूलत्वाच्च भ्रातुरेवरूपस्य मातृतो जघन्यतेति मातृतः परत
एवाधिकारो युक्तः ॥ ३ ॥

मातुरनन्तरं भ्रातुरधिकारं पिरूपयति मातुरभाव इति । तथा भ्रातृपुत्रो-
ऽपीति । तथाच भ्रातृतत्पुत्रयोर्युगपदधिकारः स्यादिति भावः । तत्स्थान-
पातादिति । धनिकार्यकारित्वेन धनिस्थानपातादित्यर्थः । अनेवरूपादिति ।
मृतभोग्यपिण्डत्रयमृतदेयपिण्डत्रयदातृभिन्नादित्यर्थः । नन्वेवं भ्रातृबलवत्त्वात्,
मातृतः प्रागधिकारः स्यात् अत आह मातृमूलत्वाच्चेति ॥ १—३ ॥

किञ्च तथा पदं भ्रात्रैव कुतो न सम्बध्यते तेन यथा
पितरौ भ्रातरोऽपि तथेति पित्रोर्भ्रातृणाञ्च तुल्याधिकारः
स्यात् ॥ ४ ॥

तस्मात् विष्णुवचनविरोधेनैवायं पर्यनुयोगः परिहर्तव्यः
स चान्यत्रापि समानः । तथाच मनुः ।

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्त्यं भ्रातर एव वा ।

भ्रातर एव हरेयुर्न तु भ्रातृपुत्रोऽधिकारीत्याह ॥५॥

(मनु ८।१८५)

किञ्च जीवत्पितृकस्यापि भ्रातृपुत्रस्य किमधिकारो
नेष्यते न चात्रान्यो हेतुः जीवत्पितृकस्य पिण्डदत्ताभावे-
नानुपकारकत्वादित्यतः एवञ्चेन्मृतपितृकस्यापि भ्रातृतुल्योप-
कारकत्वाभावात् कथं तुल्यवदधिकारिता ।

अतएव देवलेन

ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन् सहोदराः ।

तुल्या दुहितरो वापि भ्रियमाणः पितापि वा ॥

सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम् ।

इत्यनेन भार्यासवर्णादुहितपितृमातृसहोदरभ्रातृसापन्न-
भ्रातृपर्यन्ताधिकारिशृङ्खलायां भ्रातृपुत्रस्याकीर्त्तनात् सापन्न-
भ्रातृपर्यन्ताभाव एव भ्रातृपुत्राणामधिकारः कथितः ॥ ६ ॥

अधोपकारकत्वेऽपि भ्रातरस्तथा तत्सुत इत्यनवस्थासिद्धवचनबलात् युग-
पदधिकारोऽस्तु इत्यत आह किञ्चेति । अन्यत्रापि भ्रातृभ्रातृपुत्रयोरधिकारेऽपि
एवञ्चेदिति । उपकारक्रमेणैवाधिकारात् उपकारतारतम्येन क्रम इति स्थितञ्चे-
दित्यर्थः अतएव भ्रातृनन्तरं भ्रातृपुत्रस्याधिकारादेव ॥ ४—६ ॥

यच्च सर्वे ते तेन पुत्रेणेति (मनु ८।१८२) पुत्रत्वस्मरणं
तत्पिण्डदानार्थं भ्रातृभावे च धनाधिकारार्थं पूर्वोक्तवचनेन
विरोधात् अन्यथा भ्रातृतः पूर्वमेव कुतो न स्यात् ॥ ७ ॥

तस्मात् भ्रातुरेव प्रथममधिकारः ॥ ८ ॥

तत्रापि प्रथमं सोदरस्यैव तदुक्तं सोदरस्य तु सोदरः,
भ्रातरस्तथेत्युक्तभ्रातुरधिकारावसरे प्रथमं सोदरो गृह्णीया-
दित्यर्थः । तस्य त्वभावे सापन्नो भ्राता एकप्रभवत्वेन तस्यापि
भ्रातृशब्दार्थत्वात् ॥ ९ ॥

तथाच

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः ।

दद्याच्चापहरेदंशं जातस्य च मृतस्य च ॥

(याज्ञवल्क्य २।१३६)

इदमपि याज्ञवल्क्यवचनं सोदरासोदरयोर्भ्रातृशब्दार्थत्वं

दर्शयति अन्यथा सोदरमात्रस्य तदर्थत्वे सोदरस्य तु सोदर
इति न पुनर्विशेषणीयमिति भ्रातृशब्दादेव सोदरावगतेः॥१०॥

तस्मात् पितरौ भ्रातर इत्यनेन सोदरासोदरयोरेवाधि-
कारो दर्शितः सोदरवचनेन तु सोदरस्य प्रथममधिकारः॥११॥

सापन्नस्य च सोदरात् मृतदेयषाट्पौरुषिकपिण्डदातु
मृतभोग्यमात्रपित्रादिपिण्डत्रयदाहृतया जघन्यत्वात् भ्रातृ-
पुत्राञ्च मृतभोग्यपिण्डद्वयदातु मृतभोग्यपिण्डत्रयदाहृतया
उपकारकत्वातिरेकेण बलवत्त्वात् मध्य एवाधिकारः श्रौकर-
विश्वरूपोक्त एवाटरणीयः॥ १२ ॥

पूर्वोक्तिः । तदभावे भ्रातृपुत्रगामीति विष्णुवचनेनेत्यर्थः । अन्यथा पुत्र-
त्वातिदेशश्लेनेवाधिकारः । स्यादिति । अधिकार इति शेषः । भ्रातृधिकारं
विशेषमाह तत्रापीति । प्रथमं सोदरस्याधिकारं प्रमाणमाह तदुक्तमिति ।
भ्रातरस्तथ्युक्तेति । तथाचेतहाक्येनैव सोदरासोदरभ्रातृसामान्यस्याधिकारसिद्धौ
सोदरस्य तु सोदर इति यत् पुनरभिधानं तत् सोदरक्रमेणाधिकारार्थमेव अन्यथा
वेत्यर्थं स्यादिति भावः । ननु एकमातापितृजन्यपुंस्त्वमेव भ्रातृपदशक्यतावच्छेदकं
तथाच सोदर एव भ्रातृपदवाच्यः वैमात्रेयादौ च पूर्वपुरुषसमस्यसन्तानत्वेन
रूपेण गौण एव भ्रातृपदप्रयोगः एतच्च सति सोदराभावे भ्रातृपदस्यैवाधिकारो
युक्तः तदभावे भ्रातृपुत्रगामीति विष्णुवचनात् तत् कथं सोदरात् परतः सापन्न-
भ्रातृधिकारं ब्रूषे इत्यत्राह एकप्रभवत्वेनेति । तथाच मातापितृत्वानिवर्तिन
एकशरीरजन्यपुंस्त्वमेव भ्रातृपदशक्यतावच्छेदकं लाघवादिति भावः । वैमात्रेयस्य
भ्रातृपदवाच्यत्वे मुनेः स्वरसमाह तथा चेति । संसृष्टिन इति । संसृष्टिनो
जातस्य संसृष्टिनीत्यत्रस्य पुत्रस्य अपरः संसृष्टी दद्यात् मृतस्य संसृष्टिनोऽंशं
हरेदित्यर्थः । इदमपीति । अपिना प्रागुक्तलाघवतर्कः समुचीयते । क्रमाधि-
कारो युक्तिसम्याह सापन्नस्य त्रिति । मध्य इति । सोदरभ्रातृतत्पुत्रयोरन्तर
इत्यर्थः ॥ ७—१२ ॥

तत्र किं संसृष्टिनोऽप्यसोदरस्य सोदराज्जघन्यत्वं न वेत्य-
पेक्षायामाह यान्नवल्काः ।

अन्योदर्थस्तु संसृष्टी नान्योदर्थो धनं हरेत् ।

असंसृष्ट्यपि चादद्यात् संसृष्टो नान्यमातृजः ॥ १३ ॥

(याज्ञवल्का २।१४०)

अस्यार्थः संसृष्टी पुनरन्योदर्थः प्रथमं हरेत् न पुनरन्यो-
दर्थमातृजः प्रथमञ्च हरन् सोदरं बाधित्वैव वा तेन सह
वेत्यपेक्षायाम् उत्तरार्द्धम्, असंसृष्ट्यपि सोदरो गृह्णीयात्
सोदर पदमनुवर्त्तते नान्यमातृज एव संसृष्टी गृह्णीयात् संसृष्ट-
पदमेव वा सोदरमभिधत्ते अतएव बृहदयान्नवल्कावचनं
सोदरो नान्यमातृज इति जितेन्द्रियेण लिखितं तथाच पूर्वा-
र्द्धस्य संसृष्टीत्यनुवर्त्तते ॥ १४ ॥

तेन न केवलमन्योदर्थ एव संसृष्टी गृह्णीयात् किन्त्व-
संसृष्ट्यपि सोदरो गृह्णीयादित्यर्थः तेनासंसृष्टिना सोदरेण
संसृष्टिना चासोदरेण विभज्य ग्रहीतव्यम् अतएवापि च शब्दं
प्रयुक्तवान् ॥ १५ ॥

सोदरादिति । संसृष्ट्यसंसृष्टिवाधारशीक्तिः । लघन्यत्वमिति । सोदरस्य
तु सोदर इत्यनेन सोदरस्यैवाधिकारप्रतिपादनादिति भावः । नवेति । एत-
द्वचनस्यासोदरेण संसृष्टिना सोदरतुल्याधिकारपक्षे अजघन्यत्वकोटिः । नान्यो-
दर्थ इत्यस्यार्थमाह न पुनरिति । अन्योदर्थ्यमात्र इति । संसृष्ट्यसंसृष्टिवाधारश्च
इत्यर्थः । प्रथमम् असंसृष्टिवैमात्रेयात् । सोदरपदमिति । सोदरस्य तु सोदर
इति पूर्ववचनस्यसोदरपदमित्यर्थः । नान्यमातृज इति । तथाच पूर्वापर-
विरोधभयादेवकारोऽध्याहार्य इति भावः । अनुषङ्गकल्पने गौरवादाह संसृष्ट-
पदमेव वेति । अभिधत्ते इति । गर्भसंसृष्टार्थकत्वादिति भावः । अतएव
संसृष्टपदस्य सोदरार्थकत्वादेव । पूर्वार्द्धस्येति । तथाचान्यमातृजः संसृष्टः केवलो
न गृह्णीयादित्युत्तरार्द्धार्थः । निर्गलिताद्यमाह तेनेति । अपिच शब्दमिति ।
तयोः समुच्चयार्थकत्वादिति भावः । अत्रेदं चिन्त्यते संसृष्ट्यसोदरासंसृष्टि-
सोदराभ्यां विभज्य यद्वयं न युक्तिवचनप्राचीनस्वरसमिद्धं तथाहि संसृष्टित्वं

विनिगमकान्तराभावे एव विनिगमकम् अन्यथा पितृव्यैः संसृष्टिनि असंसृष्टिनो
वैमात्रेयस्याधिकारी न स्यात् न चैतद्वचनं व्याचक्षिणारमात्रविषयं सामान्ये
ब्राधकाभावात् पितृव्यादिसंसर्गविषयकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् वचनस्य यथोक्तरीत्या
व्याख्याने च दद्यादिति क्रियानुषङ्गः नान्योदर्थ इत्यस्य वैयर्थ्यं मात्रपदाध्याहार-
श्चेति दूषणानि प्राचीनाश्च श्रीकरादयो युगपद्विभाजं तथोर्निषिद्धवन्त इति,
तस्माद्वचनस्यायमर्थः अन्योदर्थः संसृष्टौ चेत् तदा तस्य सृज्य धनम् अर्थात्
अपरः संसृष्टौ अन्योदर्थो न हरेत् तदा को गृह्णीयादित्याह अन्यमातृज इति
असंसृष्ट्यपीति अपिना संसृष्ट्यसंसृष्टौ वा सोदर एव गृह्णीयात् इत्यर्थः ।
अन्योदर्थोद्धारणे हेतुमाह नान्यमातृज इति अन्यमातृजत्वेन षट्पुरुषपिच्छदातुः
सहोदरात् जघन्यत्वप्रतिपादनात् यतः अन्यमातृजः अर्थात् न गृह्णीयादित्यर्थः ।
इत्यत्र व्याख्याने संसृष्ट्यसोदरासंसृष्टिसोदरयोस्तुल्यवद्भागोऽयुक्त एवेति सुधीभि-
र्भाज्यम् ॥ १३—१५ ॥

यच्च श्रीकरमिश्रैकृतं संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्यस्य असोदर-
संसृष्टिमात्रविषयत्वे अन्यानपेक्षत्वात् सोदरस्य तु सोदर
इत्यस्यापि असंसृष्टसोदरमात्रविषयत्वे नैरपेक्ष्यात् असोदरे
संसृष्टिनि सोदरे चासंसृष्टिनि उभयोः प्राप्तौ यदि द्वयमेव
प्रवर्तते तदा अन्योन्यसापेक्षमुभयोर्विधायकत्वं भवेत् । न
चैकस्य सापेक्षं निरपेक्षञ्च विधायकत्वमुचितं विधिवैषम्य-
प्रसङ्गात् यथा दर्शितं द्वयोः प्रणयन्तीत्यधिकरणे पर्वचतुष्टय-
विहिताया उत्तरवेदेर्न पर्वद्वये प्रतिषेध उपपद्यते तत्र पर्वद्वये
विकल्पसापेक्षं विधानं पर्वद्वये च निरपेक्षमिति उत्तरवेदि-
विधिवैषम्यापत्तेः । तथाचात्र यत्रैव निरपेक्षविधायकत्वं
तत्रैव संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्यस्य सोदरस्य तु सोदर इत्यस्य च
प्रवृत्तिः स्यात् तत्रासोदरे संसृष्टिनि सोदरे चासंसृष्टिनि
सत्युभयोरप्रवृत्तेस्तद्वचनं न कश्चिदपि गृह्णीयादित्यापद्यते,
तस्मात् संसृष्टिनस्तु संसृष्टीति संसृष्टधने संसृष्टिनः सामान्यतो
भागप्राप्तौ तदपवादार्थं सोदरस्य तु सोदर इति वचनम्

एवञ्च संसृष्टिनोऽप्यसोदरस्य सोदरे सति न प्राप्तिः किं तर्हि
विभागसंसृष्टस्य असंसृष्टस्य च सोदरस्यैवेत्यन्तम् ॥ १६ ॥

निरपेक्षेति अस्य विषयः प्रागेव दर्शितः । विधिवैषम्येति । संसृष्टौ
कचिदन्यनिरपेक्षः स्वयमेव गृह्णीयात् सोदरे असंसृष्टिनि सति तु तत्सापेक्षः
तेन सहेत्यर्थ इति संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्यस्य विधिभेदरूपं वैषम्यम् एवं सोदरो-
ऽसंसृष्टौ कचिदन्यनिरपेक्षः स्वयं गृह्णीयात् सति च संसृष्ट्यसोदरे तत्सापेक्षः
तेन सहेति सोदरस्य तु सोदर इत्यस्य च विधिभेदरूपं विधिवैषम्यं तत्प्रसङ्गा-
दित्यर्थः । विधिवैषम्ये दृष्टान्तमाह हयोः प्रणयन्तीति । पर्वणतुष्ट्येति । आत-
मांसयागप्रसङ्गे वैश्वदेववरुणप्रचासश्चाकमेधमुनासीर्थाख्याश्वतारो यागाः अत-
मांससाध्या उक्ताः तत्र च उपपन्नवपनि न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपकिरन्ति न मुना-
सीर्थं उरु वा एतौ यज्ञस्य यद्वरुणप्रचासः आकमेधश्चेति हयोः प्रणयन्तीति
श्रुतिरस्ति । अस्यार्थः अत्र पर्वसंज्ञके यागचतुष्टौ उत्तरवेदिम् उपवपनि
निर्वापन्ति सन्वादयन्तीत्यर्थः उत्तरवेदिष्व अपिप्रणयनीपयोगिपञ्चविंशः अत्र
उत्तरवेदेः पर्वत्वेन यागचतुष्ट्ये सामान्यविधिः अत्र प्रकृतौभूतदर्शपौर्णमासी-
यस्य अपिप्रणयनस्यातिदेशादेव प्राप्तिसदंशे न विधिः किन्तु तदर्थम् उत्तरवेदिमात्रं
विधीयते इत्यस्य हयोः प्रणयन्तीत्यादि न्यायावगतमेवोक्तम् अपिप्रणयनार्थकोत्तर-
वेदिर्यागहोत्रे विधाने अपिप्रणयनस्यापि यागहोत्र्यत्वस्य सिद्धत्वादिति न वैश्वदेवे
न मुनासीर्थं उत्तरवेदिमुपकिरन्ति अत्र यागहोत्रे वैश्वदेवत्वादिना विशेषविधि-
हयं यागहय एवापिप्रणयनस्य वास्तविकत्वात् तद्वैतुभूतं यागहयप्राशस्त्यमाह
उरु वेति । मङ्गान्तादित्यर्थः । यज्ञस्य यज्ञानां मध्ये अतो हयोः प्रणयन्ति
अपिमिति शेषः अत्र विशेषविधिहयस्य निषेधविधेः सामान्यविध्युपजीवक-
तया उपजीव्यबाधायोमात् सामान्यविधेरपि निविध्यमानयागहये प्रकृतौ
सामान्यविधेर्निरपेक्षविधायकत्वं आकमेधादियागहये विकल्पसापेक्षविधायकत्वञ्च
वैश्वदेवादियागहये तथाच आकमेधादिहये सद्वैवोत्तरवेदिं वपनि वैश्वदेवादिहये
त्विक्रिया वपन्तीति विधिभेदरूपं वैषम्यं स्यात् तस्मादत्र पर्युदासलक्षणया
वैश्वदेवमुनासीर्थभिन्ने पर्वण्ययागे उत्तरवेदिं वपन्तीत्येक एव विधिरिति
हयोः प्रणयन्तीत्यधिकरणे यथा विधिवैषम्यसुक्तं तथा प्रकृतेऽपीति पूर्वेषामन्यः ।
यत्रैवेति । सोदरासत्त्वस्थले असोदरसंसृष्टसत्त्वस्थले च संसृष्टिनस्तु संसृष्टी-
त्येतयोर्निरपेक्षविधायकत्वं बोध्यम् । उभयोः संसृष्टिनस्तु संसृष्टीति सोदरस्य
तु सोदर इत्येतयोः । आपद्यतेति । विशेषवचनाभावादिति शेषः । इत्थं

निरपेक्षसापेक्षविधानेन दोषमुपन्यस्य स्वयं विधिद्वयम् उक्तर्गापवादभेदेन व्यवस्थापयति तथादिति । असंसृष्टस्य चेति । तस्यापि सीदरपदार्थत्वेनापवादविषयत्वादिति भावः । इत्यन्तमिति श्रीकरमित्रैरुक्तमिति पूर्वोक्तान्वयः ॥ १६ ॥

तदमङ्गतं न हि द्वयोरुभयत्रैकैकशः प्रवृत्तयोर्युगपदेकत्र प्रवृत्तिमात्रेण विधिवैरूप्यम् ॥ १७ ॥

केवलोद्गातृप्रतिस्तीव्रपच्छेदेन निरपेक्षप्रवृत्तयोः सर्वस्वदक्षिण्यादाक्षिण्यशास्त्रयोर्युगपदुभयापच्छेदे सति नैकमपि शास्त्रं प्रवर्तत विधिवैरूप्यात् ॥ १८ ॥

तथा चातुर्होत्रां पौर्णमासीमभिमृषेत् पञ्चहोत्राममावास्यामिति शास्त्रयोरुपांशुयागान्नीषोमीययोरैन्द्रदध्नेन्द्रपयमोरेकैकशः प्रवृत्तयोर्द्वयोराम्नेये प्रवृत्तौ विधिवैषम्यापत्तेर्नैकमपि प्रवर्तत ॥ १९ ॥

न हीति । द्वयोर्विध्योः उभयत्र उदाहरणद्वये एकैकशः प्रवृत्तयोः परस्परनैरपेक्षेण प्रवृत्तयोः । विधिवैरूप्यमिति । सापेक्षनिरपेक्षौदासीन्येन संसृष्टिनस्त्वित्यादिना संसृष्टिमात्राधिकारविधाने सीदरस्य त्वित्यादिना सीदरमात्राधिकारविधाने च परस्परापेक्षा नास्ति युगपदुपस्थितौ तु उभयोरैव विषयत्वात् उभयोरैव युगपत्प्रवृत्तिरिति न वाक्ययोर्भवदुक्तरीत्या प्रत्येकं विधिभेदरूपं विधिवैषम्यमिति भावः । अत्र प्रतिबन्धिमाह केवलोद्गाविति । ज्योतिष्टोमे हविर्धानौ नाम गृहमेकम् अपरञ्च हविष्यवमानाख्यं तत्र च यथोक्तक्रमेण हविर्धानौगृह्यात् ऋत्विजो हविष्यवमानाख्यं गृहं गच्छन्ति गच्छताञ्च मर्ध्य उद्गाता ऋत्विक् यदि खलति तदा सर्वस्वदक्षिणाविधिः यदि प्रतिस्तीता ऋत्विक् खलति तत्र असर्वस्वदक्षिणाविधिश्चेति विधिद्वयमस्ति एतयोश्चैकैकस्य खलनस्यैव एकैकशः प्रवृत्तत्वात् युगपत्खलने नैकस्यापि प्रवृत्तिः स्यात् भवन्मते विधिवैरूप्यात्, तथाचात्र प्रथमतः प्रतिस्तीत्रे असर्वस्वं किञ्चिद्विधिना दत्त्वा उद्गात्रे सर्वस्वं दक्षिणा दौयते इति युक्तिसिद्धः पारम्परिकः सिद्धान्तो भवन्मते व्याकृतः स्यादिति भावः । अपच्छेदेनेति । खलनेनेत्यर्थः । अत्रैव प्रतिबन्धन्तरमाह तथेति । अयमर्थः द्वापौर्णमासे यागे श्रूयते चतुर्होत्रां पौर्णमासीमभिमृषेत् पञ्चहोत्राममावास्यामिति अत्र चतुर्होत्रपदेन पृथिवी

होत्रेत्याकारकी मन्त्र उच्यते तस्य यत्र विनियोगः तस्मात्तुर्होवां पौर्णमासीमिति सप्तम्यर्थे द्वितीया तेन पौर्णमास्यामित्यर्थः । चातुर्होत्रमिति परिभाषा प्राप्तः पृथिवीहोत्रेत्यादिमन्त्रस्य करणताप्राप्तये ततश्च पौर्णमास्यां पृथिवीहोत्रेति मन्त्रेणाभिसृष्टेत् स्पृशेदिति विधिप्राप्तौ किमिति स्वर्गकर्माकाङ्क्षायां वाक्यान्तरोपस्थितानि ऐन्द्रदध्यादौनि हवींष्येव कर्मतयाऽन्वीयन्ते । चूडामणिलु पौर्णमासीपदेन कर्माभिधीयते कर्मणस्तु स्वर्गाभावात् तत्कालीनं मुख्यं हविरेवोपांशुयागीयम् ऐन्द्रदधिरूपं प्रत्याय्यते, एवमयिमवाक्येऽपि अमावास्यापदेनापि तदानीं कर्तव्यस्याग्नीषोमीयस्य पयोरूपं मुख्यं हविः प्रत्याय्यत इति व्याचष्टे । एष च विधिदर्शः पौर्णमासान्तर्गतपौर्णमासीकर्तव्यस्थोपांशुयागस्य केवलदधिरूपहविःस्पर्शने विध्यन्तरनिरपेक्षप्रवृत्तिः उपांशुयागस्य केवलदधिकरणकत्वात् तथा पञ्चहोत्रामावास्यामित्यत्र पञ्चहोत्रपदेन अग्निहोत्रेत्यादिकी मन्त्र उच्यते तस्य यत्र विनियोगः तत् पञ्चहोत्रम् अमावास्यामित्यत्र सप्तम्यर्थे द्वितीया पञ्चहोत्रमिति च तन्मन्त्रस्य करणत्वलाभाय तेनामावास्यायाम् अभिसृष्टेदिति विधिः अत्रापि कर्माकाङ्क्षायां पूर्वोक्तानि हवींष्येवान्वीयन्ते अथ च विधिः दर्शपौर्णमासान्तर्गतस्य दर्शकर्तव्यस्य अग्नीषोमीययागस्य केवलैन्द्रपयोरुपद्रव्यस्पर्शे निरपेक्षप्रवृत्तिः अग्नीषोमीयस्य केवलपयोरुपद्रव्यकरणकत्वात् आग्रये च दर्शपौर्णमासान्तर्गतं दर्शं पौर्णमास्याच्च कर्तव्यं दधिपयोरुपद्रव्यके हविर्हयस्पर्शाद्यं विध्योर्युगपत्प्रवृत्तौ भवन्मते विधिवेषस्यापातात् न कोऽपि प्रवर्त्तते तथाचात्र इयोरिव विषयसत्त्वात् प्रवृत्त्या मन्त्रद्वयेन हविर्हयस्य दधिपयोरुपस्य स्पर्श इति सिद्धान्तोऽपि भवन्मते व्याहृत इति । इदञ्च न सम्यक् युगपत्प्रवृत्तावपि सामान्यविध्योर्बाधाभावात् तद्रूपविधिवैरुप्याप्रसक्तेः अतः प्रागुक्तप्रतिबन्धिमात्रं साधोय इति धौमद्विर्विभावनीयम् ॥ १७-१८ ॥

तस्मात् बाधनिरपेक्षं नित्यवद्बिधानं क्वचित् क्वचित् विध्यन्तरबाधसापेक्षमिति वैरूप्यलक्षणम् । तथाहि उपात्र वपन्तीति वेदिविधिसापेक्षो निषेधः तद्बाधं विना विधिरिव न स्यादिति वेदिविधिबाधसापेक्षं विधानं न च नित्यवदेव तस्य बाधः तथा सति निषेधो विफलः निषेधं विनापि वेद्यकरणस्य प्राप्तेः ततश्च वेदिविधिरपि निषेधविधिबाधसापेक्षविधिभावः पर्वद्वये पर्वद्वये तु निरपेक्ष इति भवति

विधिवैषम्यं विकल्पश्च स्यात् रागप्राप्ते तु नित्यवहाधः कादाचित्कस्या करणस्य निषेधमन्तरेणापि प्राप्तेः ॥ २० ॥

अतएव षोडशग्रहणायहणशास्त्रयोर्विकल्पः ॥ २१ ॥

अथैवं विधिवैषम्यलक्षणं किमित्याकाङ्क्षायामाह तस्यादिति । उपादेति । सपाच वपन्तीति यो वेदिविधिः तस्यापेक्ष इत्यर्थः । तद्वाधं विनिति । वेदिविधिविधौ विनित्यर्थः । विधिरेव न स्यादिति । सामान्यविधिवैश्वदेवादियागद्वयाविषयकत्वे तत्र विध्यभावादेव वेदाकरणस्य प्राप्तत्वात् निषेधविधेरप्राप्तप्रापकत्वाभावेन विधिर्न स्यादित्यर्थः । इतीति हेतौ, यतो निषिध्यमानयागयो रपि सामान्यविधिविषयत्वेन तद्वाधेनैव वैकल्पिकस्य निषेधस्य प्रवृत्तिः अत इत्यर्थः । ननु निषेधविधिविधौषत्वेन बलवत्त्वात् सर्वदेव सामान्यविधिसुम्भूत्येत तथाच सामान्यविधेस्तन्नाप्रवृत्त्या कथं तद्वाधेन वैकल्पिकनिषेधविधानमित्याशङ्कते न चेति । तस्य सामान्यविधिः । विफल इति । नित्यवदेव बाधे सामान्यविधेस्तदितरविषयत्वमेव वाच्यम् अन्यथा तदंशे तद्विधेरननुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यापत्तिः तथाच विध्यभावादेव निषेधस्य सिद्धत्वात् निषेधविधिविफलः स्यादित्यर्थः । एतदेवेति निषेधं विनापीति । वेदाकरणस्य । ततश्चेति । सामान्यविधेर्निषिध्यमानयागद्वयविषयकत्वात्त्यर्थः । निषेधविधिवाधेति । विरोधेन निषेधविधिविधौ विना सामान्यस्य प्रवृत्त्यसम्भवादिति भावः । विधिवैषम्यमिति । एकस्यैव वेदिविधेः पर्वहये नित्यविधायकत्वं पर्वहये च निषेधभाषापेक्षविधायकत्वमिति विधिवैषम्यमित्यर्थः । विकल्पश्चेति । निषेधाङ्गीकारे निषिध्यमानयागद्वये वेदिकरणाकरणयोर्विकल्पश्चेत्यर्थः । अथच विकल्पो न व्यवस्थितः तादृशविकल्पस्थले करणे फलाधिकात् अधिकफलकामरूपस्याधिकारिणो भेदात् कित्वेच्छिकः तथाचाष्टदोषापातो वाक्यभेदश्चेति गौरवम् अतो लाघवात् पर्युदासलक्षणया वैश्वदेवादिभिन्ने पर्वस्ययागे उत्तरवेदिं वपन्तीत्येक एव विधिः कल्पात इति भावः । नन्वं न कलञ्च भक्षयेदित्यादौ रागप्राप्तनिषेधे विकल्पः स्यात् रागस्योपजीव्यत्वेन निषेधेन नित्यवहाधाद्योगादत आह रागप्राप्ते त्विति । केचित्तु कलञ्चेतरभोजनकलञ्चभोजनेतरयो रागप्राप्तत्वेन कलञ्जातिरिक्तं भुञ्जीत कलञ्चभोजनेतरत् कुर्वीतेति पर्युदासासम्भवात् निषेधे विकल्प एवेति धम्मनिरासार्थमाह रागप्राप्ते त्वित्याहुः । कादाचित्कस्याकरणस्येति । न हि निषिध्यमानमनुतिष्ठन् यावज्जीवमङ्गनिर्ग्रहं तदनुतिष्ठति निषिद्धानुष्ठानस्य रागाधीनत्वेन रागस्यानियतत्वात् सङ्कल्पार्थेकरविलम्बाच्चेति भावः । तथात्र निषेध-

विधेर्वैयर्थ्यापत्त्या न विकल्पः कित्वा नित्यवहाध एवेति भावः । अतएवेति ।
यत एव सामान्यनिषेधयोरेव विधिनविषयोः कचिदेकत्र प्रवृत्तौ सामान्यविध-
वैरूप्यं न लेकविशेषनिष्ठयोस्तयोः अत एवेत्यर्थः । षोडशीति । तथाच श्रुतिः
अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति । अतिरात्राख्यो
यागविशेषः षोडशीपात्रविशेषः गृह्णातीति किङ्क्षे सट् अत्र विधिनविषयोर्न्यो-
रेवातिरात्राख्ययागपविशेषनिष्ठत्वेन विधेः कचिन्नित्यवहाधायकत्वाभावेन विधि-
वैरूप्याभावात् निषेधविषयकत्वाभावेन पूर्वोक्तन्यायेन पर्युदासासम्भवाच्च विकल्प-
इत्यर्थः अत एवोक्तम् एवमेवाष्टदोषोऽपि यद्विधीयववाक्ययोः । विकल्पः संश्रित
सत्र गतिरन्या न विद्यते इति, अन्या गतिः पर्युदासरूपा गतिः ॥ २० ॥ २१ ॥

ये तु ब्रुवते प्राप्तिपूर्वकत्वात् निषेधस्य न निमित्तं विधि-
रपवाधत इति न्यायेन विकल्प इति तेषां मते न तौ पशौ
करोतीत्यादौ रागप्राप्तनिषेधे च विकल्पः स्यात् ॥ २२ ॥

किञ्च एवं निमित्तिनः स्वनिमित्तवाधाक्षमत्वात् कैथं
पक्षेऽपि बाधः अतुल्यबलत्वात् अथ निषेधस्यैवायं स्वभावः
यत् स्वनिमित्तमुन्मूलयतीति तदा सर्वदेवोन्मूलयेत् प्राप्तेरेव
दुर्बलत्वात् ॥ २३ ॥

विकल्पः स्यादिति । रागातिदेशयोरपि निमित्तत्वाविशेषादिति भावः ।
ननु प्रमाणयोस्तुल्यबलत्वे हि विकल्पः अतएव गौतमोऽपि तुल्यबलविरोधं
विकल्प इत्याह स, तथाच षोडशिविधयागपविशेषयोर्द्वयोरेव वैदिकप्रमाण-
वाविशेषात् तुल्यबलतया विनिगमनाविरुद्धैकेनाप्यपरस्य नित्यवहाधायोगात्
पक्षतो बाधेन विकल्पो युक्तः इह तु रागस्य शास्त्रात् दुर्बलतया विकल्पासम्भवात्
निषेधेन नित्यवहाधः । एवमतिदेशस्यापि सामान्यविधितया विषयान्तरं
वरितार्थत्वेन पर्युदासासम्भवात् तुल्यबलत्वाभावेन नित्यवहाध एवेति कथं विकल्पा-
भित्तिर आह किञ्चेति । प्राप्तेरिति । प्रापकविधेरित्यर्थः ॥ २२ ॥ २३ ॥

ये तु ब्रुवते यादृच्छिकग्रहणप्राप्तिनिषेधोऽयं न तु विधितः
प्राप्तस्येति तदतीवाज्ञवचनं वैधग्रहणस्य अवैधग्रहणनिषेधस्य

च युगपदुपसंहारासम्भवात् विकल्पाभावप्रसङ्गेः क्रत्वर्थतया
च यादृच्छिकग्रहणप्रसङ्गभावात् निषेधो न क्रत्वर्थः स्यात्
॥ २४ ॥

तस्मादस्मदुक्तन्यायादेव विकल्पः, तदस्तु किं विस्तरेण
॥ २५ ॥

परमतनिराकरणायाह ये त्विति । यादृच्छिकेति । स्वारसिकौच्छा या
सा यदृच्छा राग इति यावत् तथा प्राप्तं यदग्रहणं तद्विषयोऽयं निषेध इत्यर्थः ।
प्राप्तीयस्य क्लृप्तिभावत्वेन प्राप्तार्थमाह न त्विति । तथाच वैधग्रहणं नित्य-
मेवेत्याशयः । युगपदिति । युगपद्ये उपसंहारस्य विरोधस्यासम्भवादित्यर्थः ।
उपसंहारसम्भवादिति पाठे युगपदेकदा उपसंहारस्य एकतावस्थानस्य सम्भवा-
दित्यर्थः । विकल्पाभावेति । तथाच विरुद्धयोरेव भावाभावयोर्विकल्पत्वम्
इह, तु वैधग्रहणावैधग्रहणनिषेधयोरविरोधात् विकल्पाभावप्रसङ्गेरित्यर्थः । ननु
विकल्पो न श्रूतः किन्तु कल्पाः अस्य चाटदोषयस्ततया गत्यन्तराभाव एव
कल्पना प्रकृते तु वैधेतरग्रहणनिषेधरूपगत्यन्तरसत्त्वात् कथं तत्कल्पनम् अतो
विकल्पाभावे इष्टापत्तिरेवेत्यत आह क्रत्वर्थतया चेति । क्रत्वङ्गतया चेत्यर्थः ।
न क्रत्वर्थः स्यादिति । ननु क्रत्वङ्गतया प्राप्तस्य प्रतियोगिनी निषेधस्यैव क्रत्वङ्ग-
त्वमिति नियमे प्रमाणाभावः यागानङ्गस्याग्निभोजनस्य निषेधे यागाङ्गव्यभि-
चारश्चेति कथं यादृच्छिकग्रहणनिषेधस्याक्रत्वर्थत्वापत्तिरिति चेत् व्याप्तिबल-
नाक्रत्वर्थत्वापादनं किन्त्वेवं वाक्यार्थः क्रत्वर्थतया यादृच्छिकग्रहणस्य प्रसङ्ग-
भावात् उपस्थित्यभावात्, तथाच निषेधविधिना प्रकरणोपस्थित वैधग्रहणस्य
निषेध एव प्रत्याख्यते न तनुपस्थिता वैधग्रहणस्य एवञ्च सति वैधग्रहणनिषेधो न
क्रत्वर्थः स्यादिति न च षोडशग्रहणत्वेन वैधवैधग्रहणसाधारणेन रूपेणैव प्रकर-
णात् उपस्थितिः न तु वैधग्रहणत्वेन तथाच यादृच्छिकग्रहणमप्युपस्थितमेवेति
वाच्यं तथापि भवदुक्तावैधग्रहणनिषेधस्य क्रत्वर्थत्वानुपपत्तेः ग्रहणसामान्याभाव-
स्यैवाङ्गताया विधिप्रतिपाद्यत्वात् एवञ्च सति विरोधात् विकल्प एवेति हृदयम् ।
केचित्तु क्रत्वर्थतयेत्यादिशब्दम् अन्यथा योजयन्ति तथाहि नातिरात्र इति वाक्येन
ग्रहणस्याङ्गत्वाभावाद् ग्रहणाभावस्याङ्गत्वं पुरुषार्थत्वं वा प्रत्याख्यते आद्ये क्रत्वर्थ-
तयेति निषेधो निषेधविधिर्न क्रत्वर्थः न क्रतुविषयः, द्वितीये सन्निहितवैध-
ग्रहणमपचायासन्निहितावैधग्रहणविषयत्वकल्पने गौरवं स्यात्, तृतीये प्रकरण-

विरोध इति तदसत् अद्यदुक्तकमेव यथाशुतार्थनिर्वाहे चाशयकल्पनानौचित्यात् । तस्यादिति । यस्याद्वदुक्तं न युक्तं तस्यादित्यर्थः । अद्यदुक्तन्यायात् नित्यनिषेधे विधिनिषेधोभयवैयर्थ्यं नित्यविधौ च निषेधवैयर्थ्यं स्यादित्येवंकृपात् । एवकारस्य भिन्नयोजनया विकल्प एवेत्यर्थः न तु भवदुक्तसमुच्चय इत्यर्थः । तदस्य उक्तमते दूषणान्तरं मतान्तरस्य दूषणमन्यदनिवृत्तमेव तिष्ठतु किं विसरेण ग्रन्थ-बाहुल्येन तथाच ग्रन्थगौरवभयात् उक्तार्थे दूषणान्तरं तद्दूषणञ्च नोपनिवृत्तमिति भावः ॥ २४ ॥ २५ ॥

यच्च स्वयमेव वर्णितम् असोदरे संसृष्टिनि सोदरे चासंसृष्टिनि संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्यनेन असोदरस्य धनसम्बन्धप्राप्तौ तदपवादार्थं सोदरस्य तु सोदर इति वचनं तदप्ययुक्तम् अस्मिन्नेव विषये सोदरस्य तु सोदर इति सोदरस्य धनसम्बन्धप्रसक्तौ तदपवादार्थं संसृष्टिवचनस्यापि सम्भवात् विनिगमनाकारणाभावात् ॥ २६ ॥

यच्च संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्येतद्विवरणार्थत्वेन अन्योदर्य इति वचनं व्याख्यातं तदप्यतीवायुक्तम् अन्योदर्यवचनादेव विवक्षितार्थलाभात् संसृष्टिनस्त्वित्यस्यानर्थक्यापत्तेः ॥ २७ ॥

किञ्च अन्योदर्यस्तु संसृष्टीत्यस्यायमर्थः अन्योदर्यस्तु संसृष्टौ यः स नान्योदर्यधनं हरेत् किन्त्वसंसृष्ट्यपि सोदरपदानुषङ्गात् सोदर एव गृह्णीयात् संसृष्टोऽपि नान्यमातृजो गृह्णीयादिति व्याख्यातं तदपि न पूर्वाह्णं एकस्य अन्योदर्यपदस्य पुनरुक्तत्वात् तथोत्तरार्द्धेऽपि नान्यमातृज इत्यस्यानर्थक्यापत्तेः अपिशब्दस्य चैवकारार्थेऽवर्णनात् ॥ २८ ॥

श्रीकारमतदूषणस्यैव प्रकृतत्वात् संसृष्टिनस्त्विति सोदरस्य त्विति वचनयोः सहाख्यानमनूय दूषयति यद्वति । वर्णनमेवाह असोदर इति । इत्यनेन वचनेन असोदरस्य संसृष्टिनोऽसोदरस्य धनसम्बन्धप्राप्तौ धनाधिकारप्राप्तौ तदपवादार्थं तद्वाधार्थम् । विनिगमनेति । एकतरपक्षपातिनौ युक्तिर्विनि-

गमना तद्रूपकारणाभावादित्यर्थः । अन्योदर्थः संसृष्टौ यः सः अन्योदर्थ्यधनं न
हरेत् सोदरे सतीत्युत्तराहंस्वरसाङ्गभ्यते तर्हि को गृह्णीयादित्यत्राह असंसृष्ट्यपीति
अपिरेवार्षो भिन्नक्रमेण योजनीयः तेनासंसृष्टौ सोदर एव गृह्णीयादित्यर्थः किं
पुनः संसृष्टौ सोदर इति कैमुतिकन्यायसिद्धाधिकारोऽपि संसृष्टौ सोदरः
चकारेण सन्तुष्टीयते इति । पूर्ववचने यत् सोदरस्य संसृष्टासोदरापवादकत्व-
मुक्तं तदेव हितौयवचनेन विवृतमिति यदुक्तं तदपि दूषयितुमुपन्यस्यति यच्च इति ।
आनयंक्ष्यापत्तेरिति । विवरणवचनादेव उक्तार्थलाभे विव्रियमाणवचनवैयर्थ्या
दिति भावः । वक्ष्यमाणदूषणान्तरं स्पष्टयितुं तदुक्तविवरणं दर्शयति किञ्चित् ।
तथाच वचनसोरेकार्थपर्यवसाने विनिगमनाविरहात् नैकतरवैयर्थ्यम् अतएवोक्तं
सम्भेदेनान्यतरवैयर्थ्यम् । इति हितोः । अयं वक्ष्यमाणोऽयं श्रीकरीक इति
शेषः । पुनरुक्तत्वादिति । अन्योदर्थः संसृष्टौ न गृह्णीयादित्यनेनैव प्रकृतार्थ-
सिद्धौ अन्योदर्थ्यपदान्तरस्य व्यर्थत्वादित्यर्थः ॥ २६—२८ ॥

किञ्च सोदरे चासंसृष्टिनि असोदरस्य संसृष्टिनोऽपवा-
दार्थं सोदरवचनस्य वर्णितत्वात् सोदरासोदरयोरसंसृष्टिनोर-
प्रवृत्तत्वात् तुल्यवदेवाधिकारः स्यात् न वा कस्यचिदपि
स्यात् ॥ २९ ॥

अथात्रापि सोदरवचनमेव प्रवर्तते तदैकत्र संसृष्टिवचन-
वाधसापेक्षम् अन्यत्र तु वाधानपेक्षमिति भवतामेव विधि-
वैरूप्यं यथा सोमे विधीयमाना वेदिः दीक्षणीयादिष्वतिदेश-
प्राप्तवेदिविधिवाधेन अन्यत्र वाधं विनैवेति वैरूप्यात्
अवेदिमतां तद्द्रष्टव्यमित्युक्तम् ॥ ३० ॥

ननु सर्वमिदं भवदुक्तदूषणमकिञ्चित्करं तथाहि सोदरवचनस्यैवापवादकत्वं
सोदरस्याधिकोपकारकत्वेन न्यायसिद्धं न तु संसृष्टिवचनस्य न्यायाभावात् अन्यो-
दर्थ्य इति नान्यमाह्वज इत्यनयोर्भवदुक्तन्यायानेऽप्यविशेषात् अपिशब्दस्य अव्यया-
नासनेकार्थत्वेन एवकारार्थेऽपि वर्तनात् अतएव सविवादा सदा भूमिः पौरुषे-
णापि सृज्यते इत्यत्र अपिरेवार्षो दृष्ट इत्यत्र आह किञ्चित् अप्रवृत्तत्वादिति ।
अपवादस्य उक्तगर्वविषयेऽप्रवृत्तत्वादिति भावः । तुल्यवदिति । विशेषकाभावात्

भातर इति सामान्यवाक्येन भाङ्गत्वाविशेषात् इयोरेव युगपदधिकारः स्यादित्यर्थः । न वा कस्यचिदिति । स्यादधिकारबोधकसामान्यवचनस्य संसृष्टादिविशेषविषयकतया उपसंहृतत्वादिति भावः । अथेति । सोदरवचने सोदरपदस्य संसृष्टासंसृष्टिसाधारणसोदरपरत्वेनात्रापि सोदरवचनं प्रवर्तते इत्यर्थः । एकत्र संसृष्टासोदरासंसृष्टिसोदरस्थले अन्यत्र सोदरासोदरयोरसंसृष्टिनोरित्युक्तस्थले सोदरवचनस्य सोदरत्वपुरस्कारेणासोदरमात्रवाधसापेक्षत्वेन संसृष्टिर्नोऽप्यसोदरस्य बाधसापेक्षत्वावश्यकत्वादिति भावः । यथेति अत्रायमर्थः पौर्णमासयागे प्रकृतौ वेदिर्विहिता सा चातिदेशात् तद्विकृतिभूतदीक्षणीयेष्टौ प्राप्ता वाक्यान्तरे च सामान्यतः सोमद्रव्यकयागे वेदिर्विहिता तत्र दीक्षणीयेष्टरेपि सोमद्रव्यकतया यदि सामान्यवचनं तत्र प्रवर्तते तदा अतिदेशविधिविधानैव प्रवर्तते अन्यथा प्राप्तत्वात् विधित्वानुपपत्तेः पौर्णमासविकृतिभिन्ने सोमद्रव्यक्यागान्तरे त्वतिदेशाभावात् तदबाधेनेति विधिवैषम्यात् अवेदिमतां वाक्यान्तरप्रातवेदिकभिन्नानां यागानां तस्मान्न्यवेदिविधानं द्रष्टव्यमिति तत्रोक्तं विधिवैषम्यं यथा तथा प्रकृतेऽपीति ॥ २६ ॥ ३० ॥

अस्मन्नन्ते तु श्रीकरसम्मतमपि विधिवैरूप्यं नास्ति संसृष्टिसोदरवचनयोरेकैकविषयत्वात् अन्योदर्थ्यवचनस्य च सोदरस्यासंसृष्टिनः संसृष्टिनद्यासोदरस्य तुल्यवदधिकारज्ञापनार्थत्वात् तथाहि अन्योदर्थ्यस्तु संसृष्टौ सन् सत्यपि सोदरेऽसंसृष्टिनि धनं हरेत् नान्योदर्थ्योऽसंसृष्ट्यपि गृह्णीयादिति पूर्वाह्णस्यार्थः तत्र किं सोदरस्तदानीं न गृह्णीयादित्यपेक्षायाम् उत्तरार्हानोत्तरम् । असंसृष्ट्यपि चादद्यात् सोदर इत्यनुषज्यते संसृष्टोऽन्यमातृज एव न केवलः किन्तूभाभ्यां विभज्य ग्रहीतव्यमित्यर्थः अतो विधिवैषम्यमपि परिहृतम् ॥ ३१ ॥

तथा मनुरप्येतदेव दर्शयति । सोदर्थ्या विभज्युस्तं समेत्य संहिताः समम् । भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ ३२ ॥

सोदर्थ्यमात्राणां सोदर्थ्या इति असोदराणाञ्च संसृष्टानां संसृष्टा इति बहुवचनान्तस्वपदादेवेतरैतरयोगावगतेः समेत्य सहिता इतिपदम् उभयसाहित्यार्थमेव युक्तम् अन्यथानर्थक्यात् । अत उभयोरितरैतरयोगस्याश्रवणादिति अहृदयव्याहृतम् । किञ्च ये चेति चकारश्रुतेः चार्थं द्वन्द्वसमासस्यापि श्रवणात् इतरैतरयोगस्याश्रवणाभिधानं द्वन्द्वस्याप्यतदर्थतामापादयति ॥ ३३ ॥

तस्मात् सोदरासोदरमात्रसद्भावे सोदराणामेव । अतएव वृहन्ननुः ।

एकोदरे जीवति तु सापन्नो न लभेद्वनम् ।

स्थावरेऽप्येवमेव स्यात् तदभावे लभेत वै ॥

• स्थावरेऽप्येवमेवेति विभक्तस्थावराभिप्रायेण यस्मादनन्तरमेवाह यमः ।

अविभक्तं स्थावरं यत् सर्वेषामेव तद्भवेत् ।

विभक्तं स्थावरं ग्राह्यं नान्योदर्थ्यैः कथञ्चन ॥ ३५ ॥

सर्वेषां सोदरासोदराणामित्यर्थः । सोदराणामेव मध्ये एकस्य संसृष्टत्वे तस्यैव, असंसृष्टि सोदरासोदरसंसृष्टिसद्भावे च द्वयोरेव सापन्नमात्रसद्भावेऽपि प्रथमं संसृष्टिनः तदभावे चासंसृष्टिनोऽसोदरस्य मृतधनं प्रत्येतव्यम् ॥ ३६ ॥

अतएव उक्तक्रमेण बहूनामधिकारप्रतिपत्त्यर्थं भ्रातर इति बहुवचनमुक्तम् अन्यथानर्थकं भवेत् ॥ ३७ ॥

प्रौढाङ्ग अश्वमते त्विति । श्रीकरोति । वस्तुतस्तु विधिवैक्यमेव न भवतीति भावः । अन्योदर्थ्यवचनस्य तुल्यवदधिकारज्ञापकत्वं यथा तथा व्याकरोति तथाञ्चैति । नान्योदर्थ्य इति । एतेनैकतरस्यान्योदर्थ्यवचनस्य वैषम्यमपि परिहृतम् । असंसृष्टापीति । तथा चैकस्यैवासंसृष्टिपदस्य काकाचित्याया-

दुभयभाव इति भावः । केवल इति । तथाच संसृष्टासौदर्यसौदरयोर्व्य-
 स्थितविकल्पनाधिकारभूमिरासाय तुल्यवदधिकारप्रापकं नात्यमातृजवचन-
 मपि सार्थकमिति भावः । स्त्रीकृत्याख्याने मनुसंवादमाह तथेति । तुल्य-
 रूपाणां सौदरासौदराणां मध्ये सौदरा एव संहिता विभजिरन् संसृष्टासंसृष्ट-
 रूपाणां मध्ये संसृष्टाः संहिता विभजिरन् इति वचनार्थमाशङ्क्य सौदर्य-
 मात्राणामिति । इतरैतरयोगावगतेः सौदरमात्राणां संसृष्टमात्राणाञ्च परस्पर-
 साहचर्यमिति । सौदरसंसृष्टसौदरसाहचर्यमित्यर्थः । एतच्च अन्योदर्य-
 स्वत्यादिपञ्चवक्त्रैकमूलकत्वादुक्तम् । अत इति । संहितपदादुभयसाहच-
 र्यवत् यतोऽत इत्यर्थः । अष्टदयव्याहृतमिति । हृदयं ज्ञानं तेन वचनार्था-
 भिन्नव्याहृतमित्यर्थः । ननु एकस्य हयोर्वा तद्वनाधिकारानुपपत्त्या उद्देश्य-
 तेशेषणत्वेन बहुत्वं यथा न विवक्षितं तथा साहचर्यमपीत्येतदर्थे समेत्य संहिता
 (युक्तं) न तु तेषामितरैतरसाहचर्यं तत्कथमितरैतरसाहचर्यवचनम् अत आह
 केचेति । चार्थे इति । चार्थे इन्दु इति सूत्रेणेति शेषः । अतदर्थत्वं इतरै-
 तरयोगानभिधायकत्वम् । आपादयतीति । तथाच अनन्यथासिद्धचकारवली-
 वितरैतरसाहचर्यावगम इति भावः । न चैवं साहचर्यस्य विवक्षितत्वे एकस्य
 सौदरमात्रस्य वा तद्वनाधिकारानुपपत्तिरिति वाच्यं बहुभातकनिरुक्तपक्षे एवेतद-
 भेधानादिति । उपसंहरति तस्यादिति । सौदरासौदरमात्रमिति इन्द्रः
 मात्रपदेन संसृष्टत्वव्यवच्छेदः । केचित्तु सौदरासौदरयोर्द्वयोरेव मात्रपदार्थान्वय-
 श्चुपेत्य मात्रपदं संसृष्टत्वाभाव परमिति व्याचक्रुः । अतएवेति । उक्तं मनु-
 चनानुरोधादेव । ब्रह्मन्तुः तुल्यरूपसौदरासौदरयोरेव मध्ये सौदरस्याधि-
 कारं बोधयति न त्वसंसृष्टसौदरसंसृष्टासौदरयोः सत्त्वे संसृष्टासौदरस्य अर्थं
 नराकरोतीत्यर्थः । जीवतीति । अधिकारिणि सतीत्यर्थः । एवमेवेति ।
 यावरमपि सौदर एव गृह्णीयादित्यर्थः । लभतेति । सापन्न इत्यनुषङ्गान्वयः ।
 विेषामिति । तुल्यरूपाणां सौदरासौदराणामित्यर्थः पूर्ववचने तुल्यरूपाणामेव
 क्त्वात्त्वान् । सौदराणामिवेति यदुक्तं तत्र विशेषमाह सौदराणामिव मध्ये
 ति । सापन्नमात्रेति । तस्याप्यकीत्यद्वलेन भातत्वादिति भावः । भातर
 इति बहुवचनस्याप्यवशां वक्ष्याम इति यदुक्तं तत्राह अत एवेति ॥ ३५—३७ ॥

संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्येतच्च तुल्यरूपसम्बन्धिसमवाये संसृष्टि-
 कृतविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ॥ ३८ ॥

तेन सौदराणां सापन्नानां वा तथा भ्रातृपुत्राणां

पितृव्यादीनां वा तुल्यानां सद्भावे संसर्गो गृह्णीयात् वाक्याद-
विशेषश्रुतेः पूर्ववचनेन सर्वेषामेव प्रकृतत्वात् सर्वेष्वेव चापेक्षा-
सद्भावात् अतोभ्रातृमात्रविषयं वचनमित्यनादरणीयम् ॥ ३९ ॥

इति भ्रातृधिकारः ॥ ४० ॥

संसृष्टिनस्त्विति वचनं न भ्रातृमात्रविषयं किन्तु तुल्यरूपसम्बन्धिमात्रविषयं
सामान्ये बाधकाभावे सङ्कोचस्यान्याय्यत्वादिति व्यवस्थापयति संसृष्टिनस्त्विति ।
विशेषाधिकारित्वं तुल्यरूपसम्बन्धिनी विवृणीति तेमेति । सोदराणामित्यादि
षष्ठान्तोऽनु सर्वत्र सोदरमात्राणामित्यादिमात्रार्थात्तर्भावः तथा भ्रातृपुत्राणां सोदर
भ्रातृपुत्राणां सापन्नसातृपुत्राणाञ्च पितृव्यादीनामित्यत्रापि । वाक्यादिति
संसृष्टिनस्त्वितिवचनतो भ्रातर इत्यश्रयत्वादित्यर्थः । नन्वेवं वचनस्य तुल्यरूपसम्बन्धिः
सद्भावमात्रविषयत्वे सोदरासोदरयोरसंसृष्टिसंसृष्टिनोः सद्भावे कथमेतद्वचनप्रवृत्तिः
स्वयमुक्तसङ्गच्छतामिति चेन्न तुल्यरूपाणामिति न वचनप्राप्तं किन्तु न्यायप्राप-
मेव तथा च न्यायविशेषेणान्यत्रापि प्रवृत्तौ बाधकाभावः तुल्यरूपाणामिति
नियमपरत्वाभावादिति संसृष्टिसोदरवचनयोरैकैकविषयत्वादित्युक्तव्याख्यानपक्षे
अन्योदयवचनस्यैवात्र प्रवृत्त्या संसृष्टिवचनस्याप्रवृत्तेरित्याहति । पूर्ववचनेन
पत्रौ दुहितर इति वचनेन सर्वेष्वेव भ्रातृभ्रातृपुत्रगोत्रजपदीपाक्षपितृव्येष्वेव
अपेक्षा भ्रातृपुत्रयोः पितृव्ययोर्वा संसृष्टिसंसृष्टिनोर्मध्ये को गृह्णीयादित्याकाङ्क्षा
अत उक्तयुक्तः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

एकादशः अध्यायः ।

षष्ठः परिच्छेदः ।

तदभावे भ्रातृपुत्रस्य, भ्रातृगामीत्यभिधाय तदभावे
भ्रातृपुत्रगामीति विष्णुवचनात् ॥ १ ॥

तत्रापि प्रथमं सोदरभ्रातृपुत्रस्य तस्य चाभावेऽसोदर-
भ्रातृपुत्रस्याधिकारः सोदरस्य तु सोदर इति वचनात्,

असोदरभ्रातृपुत्री हि धनिनो मृतस्य मातरं विहाय स्वपिता-
महीविशिष्टस्य धनिपितुः पिण्डदातेति सोदरभ्रातृपुत्राज्ज-
घन्यस्तदनन्तरं धनमधिकरोति ॥ २ ॥

भ्रातृभावे भ्रातृपुत्रस्याधिकारमाह तदभाव इति । प्रमाणमाह भ्रातृगामी-
त्यभिधायिति । तत्र भ्रातृपुत्राणां मध्ये । प्रथममिति । सोदरभ्रातृपुत्रस्य
असोदरभ्रातृपुत्रात् प्रागधिकारबोधकवचनाभावेऽपि सोदरस्य तु सोदर इति
वचनेन सोदरस्यासोदरबाधकत्वावगमात् बाधकपुत्रेण बाध्यपुत्रस्य बाधो न्याय्य
इत्यभिप्रायः । अत्र हेतुन्तरमप्याह असोदरभ्रातृपुत्री ह्येति । सोदरभ्रातृपुत्रा-
दिति । मृतस्य मातरमादाय पितामहपिण्डदातुरित्यादिः ॥ १ ॥ २ ॥

न च सपत्नीकत्वेन सपत्नीमातुः सपत्नीपितामह्याः
सपत्नीप्रपितामह्याश्च आष्टेऽनुप्रवेशः मात्रादिशब्दानां
स्वजननीपितृजननीपितामहजननीष्वेव मुख्यत्वात् तैरेव च
पदैः आष्टे अनुप्रवेशात् । यथा,

स्वेन भर्ता सह आहं माता भुङ्क्ते स्वधामयम् ।

पितामही च स्वेनैव स्वेनैव प्रपितामही ॥

सपत्नीमात्रादीनाञ्च पार्वणश्राद्धानुप्रवेशो निषिद्ध एव
यथा पठन्ति ।

अपुत्रा ये मृताः केचित् स्त्रियो वा पुरुषाश्च ये ।

तेषामपि च देयं स्यादेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥ ३ ॥

किञ्च सपत्नीकस्य श्राद्धविधानस्य नित्यत्वं सर्वजनसिद्ध-
त्वात् सपत्नीमात्रादीनाञ्चानित्यत्वात् नित्यानित्यसंयोगविरो-
धेन मात्राद्यपेक्षमेव सपत्नीकश्राद्धविधानं युक्तम् ॥ ४ ॥

सपत्नीकत्वेनेति । एतच्च सपत्नीकत्वेनैव पित्रादीनां देवतात्वमिति मत-
माश्रित्याभिहितम् । वस्तुतः असावेतत्ते यज्ञमानस्य पित्रे असावेतत्ते यज्ञमानस्य
पितामहायेत्यादि निरपेक्षश्रुतिश्रवणात् पत्नीनिरपेक्षाणामेव पित्रादीनां देवतात्वं

किन्तु तत्पिण्डभोगमात्रे पत्राः सङ्कल्पन्तेति श्लेषादिप्रभृतयोऽप्येवमिति बोध्यम् । मातादिशब्दानामिति । स्त्रिय भर्ता सङ्गः श्राद्धमित्यादिवचनस्थाना-
मित्यर्थः । आदिना पितामहप्रपितामहशब्दयोर्यङ्गणम् । तैरेवेति । मातादि-
बोधकैः सपत्नीकपदैरेवेत्यर्थः सपत्नीकत्वेनैव देवतालीक्यैर्यथाश्रुतासङ्कतेः । ननु
पुत्रहीनानां सपत्नीमातादीनां पार्वणनिषेधेऽपि सपुत्राणां तासां पार्वणानुप्रवेशं
वाधकाभाव इत्यत आह किञ्चेति । नित्यानित्येति । एकस्यैव सपत्नीकाभि-
लापविधिर्मातादांशे नित्यवहिधायकत्वं सपत्नीमातादांशे कादाचित्कविधायकत्व-
मित्येतयोर्विरोधनेत्यर्थः । न च मातादांशेऽपि कादाचित्कविधायकत्वमेव
जीवन्मातादिस्थले तदसम्भवादिति वाच्यम् एतस्य श्राद्धार्हमात्रादिविषय एव
विधायकत्वात् अन्यथा सपत्नीकामिलापस्य प्रसक्त्यभावादिति ॥ ४ ॥

ननु सोदरभ्रातृपुत्रवत् सोदरपितृव्यस्यापि धनिदेय-
सपत्नीकपूर्वपुरुषद्वयस्य पिण्डदाहत्वात् धनिपितृव्य-भ्रातृ-
पुत्रयोः समानोऽधिकारः स्यात् । उच्यते, पितृव्यो हि धनिनः
पितामहप्रपितामहयोः पिण्डदः, भ्रातुः पुत्रस्तु धनिनः
प्रधानं पितरमेवादाय पुरुषद्वयस्य पिण्डदातेति स एव
बलवानिति पितृव्यात् पूर्वमधिक्रियते ॥ ५ ॥

अतएव भ्रातृनप्तापि पितृव्यस्य वाधकः मृतधनिकस्य
पितुः प्रधानस्यैव पिण्डदाहत्वात् ॥ ६ ॥

भ्रातुः प्रतिनप्ता तु धनिनः पितृसन्ततिरपि पितृव्येण
वाध्यते पञ्चमत्वेन पिण्डदाहत्वाभावात् । तथा च मनुः ।

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते ।

चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ (मनु ८।१८६)

इत्यनेन पञ्चमो निषिद्धः ॥ ७ ॥

किन्तु पितुरपि प्रपौत्रपर्यन्ताभावे पितृदौहित्रस्याधि-
कारो बोद्धव्यः धनिदौहित्रस्यैव ॥ ८ ॥

एवं पितामहप्रपितामहसन्ततिरपि दौहित्रान्तायाः

पिण्डप्रत्यासत्तिक्रमेणाधिकारो बोद्धव्यः दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैव
सन्तारयति पौत्रवदिति (मनु ८।१३८) हेतोरविशेषात्
स्वदौहित्रवत् पित्रादिदौहित्रस्यापि तद्भोग्यपिण्डदानेन
सन्तारकत्वात् ॥ ८ ॥

अतएव मनुना पृथगमीषामधिकारो न दर्शितः त्रयाणा-
मिति, अनन्तर इति (मनु ८।१८६—१८७) वचनद्वयनैव
संगृहीतत्वात् । याज्ञवल्क्येन च पित्रादिदौहित्रस्यापि
तद्भोजजातस्य पिण्डदानानन्तर्यक्रमेणाधिकारप्रतिपत्त्यर्थं
गोत्रजपदं कृतं सपिण्डस्त्रीणाञ्च व्युदासार्थं तासामतद्भोजजात-
त्वात् ॥ १० ॥

अतएव अर्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ बौधायनः । न दायां
निरिन्द्रिया अदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतेः । न दाय-
मर्हति स्त्रीत्यन्वयः, पत्न्यादीनां त्वधिकारो विशेषवचनाद-
विरुद्धः ॥ ११ ॥

प्रपितामहसन्तानस्य दौहित्रान्तस्य मृतभोग्यपिण्डदा-
तुरभावे मृतदेयमातामहादिपिण्डदानेन पिण्डानन्तर्यात्
मातुलादिग्रहणार्थं बन्धुपदं प्रयुक्तवान् याज्ञवल्क्यः, मनुना
तु पिण्डदानानन्तर्यवचनेनैव दर्शितम् ॥ १२ ॥

मृतदेयमातामहादिपिण्डत्रयस्य मातुलादिभिर्दीयमान-
त्वात् मातुलाद्यर्थत्वं धनस्य धनद्वारेण तस्यापि तत्पिण्ड-
दातृत्वात् धनार्जनस्य हि प्रयोजनद्वयं भोगार्थत्वं दानाद्य-
दृष्टार्थत्वञ्च, तत्रार्जकस्य तु मृतत्वात् धने भोग्यत्वाभावेना-
दृष्टार्थत्वमेव शिष्टम् । अतएव वृहस्पतिः ।

समुत्पन्नाहनादर्हं तदर्थं स्थापयेत् पृथक् ।

मासषाण्मासिके आद्ये वार्षिके च प्रयत्नतः ॥

तथा आपस्तम्बः ।

अन्तेवासी वार्थान् तदर्थेषु धर्मकृत्येषु प्रयोजयेत् दुहिता वा ।
मासिकादिना तद्भोगार्थं धर्मकृत्येष्विति अदृष्टार्थत्वे हेतुः ॥

अतएव दत्तभुक्तफलं धनमिति स्मरन्ति । तस्मात्
तद्भोग्यपिण्डदातुरभावे तद्भोग्यपिण्डदातुर्मातुलादेरधिकारो
न्याय्य एव ॥ १२ ॥

सीदरपितृव्यस्य पितुः सीदरस्य । अतएव उपकाराधिक्यादेव । भावनप्रा
भात्पौत्रः । उपकाराधिक्यमाह सृतधनिकस्येति । पिण्डदातृत्वाभावे मान
माह तथा चेति । पितृदौहित्रस्येति । सीदरवैमात्रेयभगिनौपुत्रस्यापि पितृव्यादि-
सत्त्वेऽपीत्यर्थः । यद्यपि दुहितृत्वाभावे दौहित्रस्यैव भगिन्या एव प्रागधिकारोऽयुक्तः
तथापि तस्याः स्त्रीत्वेन पार्षणपिण्डदत्त्वाभावात् नाधिकारः, दुहितुस्तु दौहित्रात्
पूर्वम् अज्ञादज्ञात् सम्भवतीत्यादिविशेषवचनादेवाधिकार इति भावः । धनि-
दौहित्रस्यैवति । यथा धनिप्रपौत्राद्यनन्तरं तद्दौहित्राधिकारः तथा इत्यर्थः ।
त्रयाणामिति अनन्तर इति । त्रयाणामुदकं कार्यमित्यनेन पिण्डदानमभिधाय
अनन्तरः सपिण्डात् य इत्यनेनानुपदं लिखित्यभागेन पिण्डदानाधिकारबोधकेनेत्यर्थः ।
गोत्रजपदस्य प्रयोजनान्तरमप्याह सपिण्डस्त्रीणाञ्चेति । तासां व्युदासी वचनान्तर-
सवादं दर्शयति अतएवेति । निरिन्द्रिया जाल्यभादयः स्त्रियश्च अदाया दाय-
नर्हा मता इति इत्यन्तं सूत्रम् । अनुवर्जमानाहतीति क्रियान्वयेन निषिद्धं
स्यत्यर्थेति श्रुतेरिति । श्रुतेरुक्तवचनस्य । स्त्रीति निरिन्द्रियस्याप्युपलक्षणं तथाच
पिण्डवर्द्धिर्भावेन यस्मात् निरिन्द्रियाः स्त्रियश्च न दायार्हा अतः स्त्री निरिन्द्रियश्च
न दायमर्हतीत्यर्थः । नन्वेवं पत्रादीनामपि अनधिकारार्पणः तासामपि पिण्ड-
वर्द्धिर्भावाविशेषात् अत आह पत्रादीनान्विति । आदिना दुहितृमातृपिता-
महौघद्वयम् । विशेषवचनात् पत्नी दुहितर इति माता ऋक्षधरौ ज्ञेयेति
पितुर्माता हरेज्जनमित्यादि विशेषवचनादेवेत्यर्थः । भोग्यत्वाभावेन साक्षाद्भोग्य-
त्वाभावेन तद्भोग्यपिण्डदातुरभावेन परम्परया भोग्यत्वाभावेन च । समुत्पन्नात्
सम्बन्धितया जातात् । तदर्थे सतस्त्वामर्थे । मासषाण्मासिकमाज्ञादौ तन्निमित्त-
मित्यर्थः । अन्तेवासीत्यापस्तम्बवचने भिन्नक्रमो बोध्यः दुहितुः प्रागधिकारात् ।
दत्तभुक्तफलमिति । दानभोग्यफलमित्यर्थः ॥ ५—१९ ॥

अतएव त्रयाणामिति अनन्तर इति वचनद्वयेनैवायमर्थो दर्शित इति मत्वा तदनन्तरं मनुनोक्तम् ।

अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १४ ॥

(मनु ८।१८८)

सकुल्यो वृद्धप्रपितामहादिसन्ततिः समानोदकाश्च भण्यन्ते तेषामुपन्यासक्रमेणाधिकारक्रमः । तदभावे आचार्यशिष्यादीनाम् ॥ १५ ॥

अन्यथा कथं मातुलादीनां मनुविरुद्धोऽन्तर्भावः शक्यते । तस्मात् मनुना पूर्ववचनद्वयप्रतिपादितोऽयमर्थ इत्यविरोधः ॥ १६ ॥

अतएव दायभागप्रकरणे त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्थः सम्प्रदातेषां पञ्चमो नोपपद्यते (मनु ८।१८६) इत्युक्त्वा अनन्तरः सपिण्डादयस्तस्य तस्य धनं भवेदिति (मनु ८।१८७) लिखितं पञ्चमस्यैकपिण्डसम्बन्धहीनस्य पितृमातृकुलजातैकपिण्डसम्बन्धिसद्भावे अनधिकारार्थम् अन्यथा सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते (मनु ५।६०) इति सपिण्डत्वस्योक्तत्वात् अनन्तरः सपिण्डादय इत्यनेन चानन्तर्यस्य धनग्रहणकारणत्वेनाभिहितत्वात् त्रयाणामिति अनर्थकं स्यात् । न च तैपुरुषिकस्याहविधानार्थमिदमिति वाच्यं दायभागसन्दंशमध्यपाठात् आहस्य च वचनान्तरविहितत्वात् । तथाच मनुः ।

स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् ह्योमैर्देवान् यथा विधि ।

पितॄन् आह्वेन नृनक्षैर्भृतानि बलिकर्मणा ॥ १७ ॥

(मनु ३।८१)

अतएवेति । भोग्यदेयपिण्डानन्तर्यक्रमेण मातुलादिपर्यन्तागामप्यधिकारो यत अतएवेत्यर्थः ।* इष्टप्रपितामहेति । तथाच तान् प्रस्तुत्य विभक्तदायादान् सकुल्यानाचक्षते इति बौधायनवचने तेषां सकुल्यत्वस्य दर्शितत्वादिति भावः । उपन्यासक्रमेणेति । आदौ सकुल्यानां ततः समानोदकानामिति क्रमेणेत्यर्थः । तदभावे समानोदकपर्यन्ताभावे । अन्यथा मनुवचनस्य मातुलाद्यभिप्रायकत्वाभावे । पूर्ववचनेति । पूर्वलिखितवचन इत्यर्थः । सन्दंशेति । दायभागप्रकरणपाठादित्यर्थः । युक्त्यन्तरमाह आहस्येति । पितृन् पित्रादिविकान् असावेतत्ते यजमानस्य पित्रे इत्यादिश्रुत्येकवाक्यत्वात् तद्याच त्रयाणामित्यस्य पुनरुक्तत्वापत्त्या न आहपरत्वमिति भावः । न च पितृणां संख्यागुणविधायकत्वमेवास्ति न पुनरुक्तिरिति वाच्यं तद्यत्वे तद्वचनानन्तरमिवैतन्निर्देशापत्तेरिति भावः ॥ १४—१७ ॥

न च जननक्रमेणानन्तर्यग्रहणार्थं वचनं न तु प्रदाहत्वेनानन्तर्यार्थमिति वाच्यं जननक्रमस्य वचनादन्यगतेः किन्तु उदकवत् त्रिभ्यः पिण्डदानं चतुर्थोऽधस्तनः पिण्डदाता पञ्चमस्तु पूर्वतनो न सम्प्रदानं नाप्यधस्तनः पञ्चमः पिण्डदातेत्यभिधाय आनन्तर्यमभिदधानो मनुः प्रदाहत्वातिशयेनैवानन्तर्यं ज्ञापयति ॥ १८ ॥

तस्मात् यो यस्तत्कुलोत्पन्नोऽतद्भोत्रोऽपि स्वदौहित्रपितृदौहित्रादिरतत्कुलोत्पन्नो वा मातुलादिर्धनिनो मृतस्य पितृमाहकुलगतत्रैपुरुषिकपिण्डदाहृतया एकपिण्डसम्बन्धेन सपिण्डः तस्य तस्याप्यधिकारार्थं त्रयाणामिति वचनम् आनन्तर्येण च विशेषार्थम् अनन्तर इति वचनं वर्णनीयम् ॥ १८ ॥

तेन मृतभोग्यमृतदेयपित्रादिव्रयपिण्डदातुः पितृदौहित्रादेरभावे मृतदेयमातामहादिपिण्डदातृणां मातुलादीनामानन्तर्यक्रमेणाधिकारो बोद्धव्यः ॥ २० ॥

जननक्रमेणैति । अनेकजननाव्यवहितापत्यत्वेनेत्यर्थः । तथाच पीत्रादेः
पूर्वं कन्यायाः पितृदौहित्रात् पूर्वञ्च भगिन्या इत्यादिक्रमेणाधिकारः स्यादिति
भावः । पिण्डदानानन्तर्यस्यापि वचनादनवगतेस्तत्र युक्तिमाह । किन्त्विति ।
स्वमतमुपसंहरति तद्यादिति । सपिण्ड इति अधिकारीति शेषः । तेन पिण्ड-
दानानन्तर्यक्रमस्य विवक्षितत्वेन । मातुलादीत्यादिना मातुलपुत्रपौत्रयोः
परिशङ्कः ॥ १८—२० ॥

एतत्पर्यन्ताभावे तु सकुल्यः । तदाह मनुः ।

तदभावे सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ।

(मनु ८।१८७)

सकुल्यो विभक्तपिण्डः प्रतिप्रणमृतः प्रभृति पुरुषत्रय-
मधस्तनं वृद्धप्रपितामहादिसन्ततिश्च ॥ २१ ॥

तत्रापि प्रतिप्रणम्रादेरानन्तर्यं पिण्डलेपद्वारेण तेषामुप-
कारकत्वात् तदभावे च वृद्धप्रपितामहादिसन्ततिः मृतदेय-
पिण्डलेपभोगिभ्यो वृद्धप्रपितामहादिभ्यः पिण्डदातृत्वात्
॥ २२ ॥

एवंविधसकुल्याभावे च समानोदकाः सकुल्यपदेनैवोपात्ता
मन्तव्याः ॥ २३ ॥

तेषामभावे आचार्यः, तस्याप्यभावे शिष्यः, आचार्यः
शिष्य एवेति मनुवचनात् । तदभावे स ब्रह्मचारी, शिष्यः
स ब्रह्मचारिण इति निर्देशात् ॥ २४ ॥

तदभावे चैकगोत्राः, तदभावे चैकप्रवराः, पिण्डगोत्रर्षि-
सम्बन्धा ऋक्थं भजिरन्निति (गीतम २८।१८) गीतमवच-
नात् ॥ २५ ॥

एतत्पर्यन्ताभावे मातुलादिपर्यन्ताभावे । तत्रापि कर्तृतनायकानसकुल्ययो-

मंध्येऽपि । उपकारकत्वादिति प्रथमं प्रतिप्रणप्तादयोऽधिकारिण इति शेषः । सकुल्यपदेनैवेति । समानकुलीत्यन्नत्वरूपयोगार्थस्य तत्रापि सत्त्वादिति भावः । एकपदोपात्तत्वेऽपि उपकारतारतम्यादधिकारक्रम इति तात्पर्यम् । आचार्य वेदाध्यापयिता । शिष्यश्च वेदाध्येता । स ब्रह्मचारौति । मनुना आचार्याभावं शिष्यस्योक्तत्वात् याज्ञवल्क्येन च शिष्याभावे स ब्रह्मचारिणी विधानात् आचार्य बाध्यत्वं स ब्रह्मचारिणी दण्डापूर्पायितमिति । निर्देशादिति । शिष्यः स ब्रह्मचारिण इति याज्ञवल्क्येन निर्देशादित्यर्थः । पिङ्गोवेति । सपिण्डसगोत्रत्वसमानप्रवरत्वसम्बन्धनः पाठिकक्रमेण रिक्त्यं हरियुरित्यर्थः ॥ २१—२५ ॥

उक्तपर्यन्तानान्तु सर्वेषामभावे ब्राह्मणाः तद्धनं गृह्णीयुः ।
यदाह मनुः ।

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्त्यहारिणः ।

त्रैविद्याः शुचयो दान्ता एवं धर्मो न हीयते ॥

(मनु ८।१८८)

भोगेन क्षीयमाणोऽपि धर्मस्तदीयधनस्य ब्राह्मणगामित्वेनापरधर्मप्राप्त्या आपूर्यमाणो न हीयत इति अत्रापि धनस्य तादर्थ्यमेव पुरस्करोति ॥ २६ ॥

तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजा गृह्णीयात् । गोत्रर्षिसम्बन्धानां ब्राह्मणानां चाभावः तदग्रामे बोद्धव्यः अन्यथा राजाधिकारस्य निर्विषयत्वापत्तेः ॥ २७ ॥

अन्येति । सगोत्रादीनामभावे राज्ञोऽधिकारी वाच्यः न च इतिष्यं तत्सगोत्राद्यभावे निर्णेतुं शक्य इत्याशयः उपकारी धनाधिकारप्रयोजक इति भावः ॥ २६ ॥ २७ ॥

तत्र यदि त्रयाणामित्यादिना पिष्टदौहित्रमातुलादीनामधिकारो नोक्तः स्यात् तदा सकुल्यादीनां नियतक्रमाणां मध्येऽनुप्रवेशाभावादधिकार एव न स्यात् न च मा भूदिति

वाच्यं याज्ञवल्क्येन तेषां गोत्रजबन्धुपदाभ्यां दर्शितत्वात्
तस्मात् मनुनापि त्रयाणामित्यादिनैव दर्शितमिति वाच्यम् ।
तस्मात् यथा यथा मृतधनस्य तदुपयुक्तत्वं भवति तथा तथा
अधिकारक्रमोऽनुसरणीयः ॥ २८ ॥

अतएव पुत्रपौत्रप्रपौत्राणां तुल्यवदेवाधिकारः सिध्यति
पुत्रेण लोकान् जयतीत्यादिवाक्येभ्यस्तुल्योपकारश्रुतेः तत्-
पिण्डदानाविशेषात् अतएव जीवत्पितृकयोः पौत्रप्रपौत्रयो-
रनधिकारः सिद्ध्यति । न जीवन्तमतिदद्यादिति श्रुत्वा
जीवन्तं पितरमतिक्रम्य तयोः पार्वणनिषेधादनुपकारकत्वात्
अन्यथा मृतपितृकयोरिव तयोरपि स्यात् जननक्रमेण च
सपिण्डानन्तर्यात् पुत्रस्यैव स्यात् न पौत्रप्रपौत्रयोः । न च
पुत्रादीनां त्रयाणां युगपदधिकारप्रतिपादकं वचनमुक्ति
तस्मात् उपकारकत्वाविशेषादेव तुल्यवद्जनसम्बन्धोऽभिधेयः
॥ २९ ॥

एवञ्च सर्वत्रोक्तरीत्या मृतधनस्य मृतार्थत्वमनुसन्धेयम् उक्त-
क्रमेण ॥ ३० ॥

सचायमर्थः दायभागप्रकरणे पुत्रादीनामुपकारकत्वाति-
शयाभिधानस्य अनन्यप्रयोजनकत्वात् पितृणामनृणस्यैव स
तस्मात्तन्मुमूर्हतीत्यानृण्यकरणस्य धनलाभहेतुत्वेन कौर्त्तनात्
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् (मनु ८।१३८)
इत्यनेनापि सन्तारणस्य धनसम्बन्धहेतुत्वेन निर्देशात् पुत्रा-
दीनाञ्च त्रयाणां सन्तारणादन्यस्य तुल्यवद्जनसम्बन्धकारणस्या-
भावात् त्रयाणामुदकमित्यादेशानर्थक्यापत्तेः क्लीवपतित-
जाल्यन्धादीनाञ्चानुपकारकत्वादेवानंशित्वाभिधानस्योपपत्तेः
प्रतिसम्बन्धिनाञ्चाधिकारार्थं वचनकल्पना गौरवात् तदर्जित-

धनस्य च तदुपकारतारतम्येन तदार्थसम्पादनस्य न्याय्यत्वात्
उपकारकत्वेनैव धनसम्बन्धो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामभिमत
इति मन्यते ॥ ३१ ॥

इति निरवयवविद्याश्रोतेन द्योतितोऽयमर्थो विद्वद्भिरादर-
णीयः ॥ ३२ ॥

अथात्रापरितोषो विदुषां वाचनिक एवायमर्थः तथापि
यथोक्त एव वचनयोरर्थो ग्राह्य इत्यस्तु किं विस्तरेण ॥ ३३ ॥

दायाय पुनराह तत्रेति । नियतक्रमाणामिति । तदभावे सकुल्यः
स्यादिति सर्वेषामप्यभाव इति अद्वैतार्थं ब्राह्मणधनमिति वचनानां अनुना
क्रमणैवाभिधानात् सकुल्यादीनां क्रमनैयत्यमिति भावः । अतएवेति । यत
एव उपकारेणैव धनाधिकारिता उपकारतारतम्याच्च धनाधिकारकमोऽत-
एवेत्यर्थः । तुल्यवदिति । तथाच उपकारतारतम्याभावात् न क्रमेणाधिकारः
किन्तु युगपदेवेति भावः । तथैरपि स्यादिति । जीवत्पिष्टकयोरपि पौत्र-
प्रपौत्रयोः सम्बन्धाविशेषादधिकारः स्यादित्यर्थः । जननक्रमेण चेति । यज्जनन-
व्यवहितं यज्जननं तदुत्तरं तदधिकार इति क्रमस्य प्रयोजकत्वे चेत्यर्थः ।
पौत्रप्रपौत्रयोर्मृतपिष्टकपौत्रप्रपौत्रयोः । अयमर्थ इति । उपकारकत्वेनैव धन-
सम्बन्धो न्यायप्राप्त इत्येवंरूपोऽयमर्थो मन्वादीनामभिमत इति मन्यते इति
द्विरेणाश्रमेणाख्यः । अत्र द्वितुनाह दायभागप्रकरण इत्यादि । उपकारकत्वाति-
शयाभिधानस्येति त्रयाणांसुदकं कार्यमिति पुत्रेण लोकान् जयतीत्यादिनेति
शेषः । धनसम्बन्धहेतुत्वेनेति । सन्तारकत्वस्येत्यादि । आनर्थक्यापत्तेरिति ।
उपकारस्याप्रयोजकत्वे तत्प्रतिपादकवाक्यस्यानावश्यकत्वादिति भावः । क्लीवेति ।
क्लीवादीनामनधिकारस्य वाचनिकत्वे गौरवात् उपकारस्य प्रयोजकत्वे च
उपकाराभावेन न्यायमूलकत्वे लाघवादिति भावः । प्रतिसम्बन्धिनामिति ।
जीवत्पिष्टकपौत्रप्रपौत्रादीनां सम्बन्धिनामित्यर्थः । वचनकल्पनेति । मृत-
पिष्टकादीनामिव तेषामपि पौत्रत्वाद्यविशेषादधिकारप्रसङ्गो तन्निषेधार्थं भव-
न्मते वचनकल्पना मन्मते तु उपकाराभावेन तदनधिकारस्य न्यायप्राप्ततया न
वचनकल्पनेति भावः । अद्यैतासां स्मृतीनां न्यायमूलत्वे सत्यपि तद्गोप्यपार्ष-
दातरि तस्य गङ्गायामस्थिप्रक्षेपमुरग्यायां पिण्डदातुर्वा उदासीनस्याधिकारापत्ति-
रित्यत आह अत्रावेति । अतो न्यायमूलत्वे विदुषामसन्तोषोऽतो वाचनिक

एवायं इति यदि तथापीत्यर्थः । यथोक्त एव तद्भोग्यतद्देशपिच्छलेपदात्रादीनाम्
आनन्तर्यक्रमेणाधिकारक्रम इत्येवंरूप एव । वचनयोः त्रयाणासुदकं कार्य-
मिति अनन्तरः सपिण्डादय इति वचनयोरर्थ इत्यर्थः, एवं सति च तदस्ति-
प्रक्षेपादेरुदासीनस्य नाधिकार इति भावः ॥ २८—३३ ॥

ब्राह्मणधनवर्जं राजा गृह्णीयात् । तदाह मनुः ।

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।

इतरेषान्तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ (मनु ८।१८८)

सर्वशब्देन ब्राह्मणपर्यन्तस्योपादानम् ॥ ३४ ॥

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां धनं धर्मभ्रातृसच्छिष्याचार्याः
गृह्णीयुः, तदभावे एकतीर्थी एकाग्रमी गृह्णीयात्,

तदाह याज्ञवल्करः ।

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणासृक्थभागिनः ।

क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः ॥ ३५ ॥

(याज्ञवल्कर २।१३८)

प्रतिलोमक्रमेण यथासम्भवं धनं ज्ञेयम् । ब्रह्मचारी च
नेष्टिकोऽभिमतः पित्रादिपरित्यागेन यावज्जीवमाचार्यकुल-
निवासपरिचर्यानिष्ठायाः तेन कृतत्वात्, उपकुर्वाणस्य तु धनं
पित्रादिभिरेव ग्राह्यम् ॥ ३६ ॥

इति अपुत्रधनविभागः ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणधनवर्जं राजाधिकारीति प्रागुक्तार्थे प्रमाणमाह ब्राह्मणेति । धर्मभ्राता
भाटलेनाभ्युपेतीऽपरो वानप्रस्थी गृह्णीयात् यथासंख्यक्रमेणेत्यर्थः । अत्र प्रमाण
माह तदाहिति । अनुलोमक्रमस्य विवक्षितत्वे वानप्रस्थस्य आचार्यासम्भवादाह
प्रतिलोमेति । धर्मभ्रात्रादिस्युत्क्रमेणेत्यर्थः । तथा आचार्याभावे एकतीर्थिन
इति गत्युक्तसम्प्रती वचनायः । वस्तुतो धर्मभाटपदम् एकतीर्थीविशेषणमेव
अन्यथैतन्मोः पृथक् यथासंख्यक्रमानुपपत्तेरिति ध्येयम् । यथासम्भवञ्चेति । तेन
वानप्रस्थधनं सञ्चितनीवारादि । यतिधनं कमण्डलुकूपीनादि । ब्रह्मचारि

धनं पुस्तकवस्त्रादि । ब्रह्मचारी द्विविधः नैष्ठिकः उपकुर्वाणश्च । तत्र नैष्ठिक-
स्यैव धने आचार्यस्याधिकारीऽपरस्य तु धने तत्पितादौनां क्रमेणाधिकार इत्याह
ब्रह्मचारी चेति । कृतत्वात् सङ्कल्पितत्वात् । उपकुर्वाणस्य अकृततथासङ्कल्पस्य
अध्ययनसमाप्तानन्तरं पितृगृहनिवासामिमुखस्य ।

अत्रायं स्रुतपुंघनाधिकारिक्रमः । तत्र प्रथमं पुत्रः तदभावे पौत्रः तदभावे
प्रपौत्रः, स्रुतपितृकपीत्र-स्रुतपितृपितामहकप्रपौत्रयोस्तु पुत्रेण सङ्ग युगपदधिकारः ।
प्रपौत्रपक्षेणाभावे पत्नी सा च प्राप्तभग्नदाया भर्तृकुलं तदभावे पितृकुलं वा
समाश्रिता सती शरीररक्षार्थं भर्तृदायं भुञ्जीत तथा भर्तृरूपकारार्थं यथाक-
श्चिद्दानादिकमपि कुर्वीत न तु स्त्रीघनवत् स्वच्छन्दं विनियुञ्जीत । तदभावे
दुहिता तत्र प्रथमं कुमारी तदभावे वाय्दत्ता, तदभावे ऊढा सा च पुत्रवती
सम्भावितपुत्रा च ह्ये युगपदेवाधिकारिण्यौ, बन्धा पुत्रह्नीना विधवा च नाधि-
कारिणी । ऊढाया अभावे दौहित्रः तदभावे पिता तदभावे माता तदभावे
भ्राता, तत्रापि प्रथमं सोदरः तदभावे वैमात्रेयः, स्रुतस्य भ्रातृसंस्तुते तु सोदर-
भ्रातृविषये प्रथमं संस्तुतसोदर एवाधिकारी तदभावे चासंस्तुतसोदरः, एवं
वैमात्रेयभ्रातृविषये प्रथमं संस्तुतवैमात्रेयः तदभावे चासंस्तुतवैमात्रेयः, यदा
तु संस्तुतो वैमात्रेयः सोदरश्चासंस्तुतः तदा तावुभौ तुल्यवदधिकारिणौ ।
भ्रातृणामभावे भ्रातृपुत्रः, तत्रापि प्रथमं सोदरभ्रातृपुत्रः तदभावे वैमात्रेयभ्रातृ-
पुत्रः, संसर्गे तु सोदरभ्रातृपुत्रमात्रविषये प्रथमं संस्तुतसोदरभ्रातृपुत्रः तद-
भावे चासंस्तुतसोदरभ्रातृपुत्रः, वैमात्रेयभ्रातृपुत्रमात्रविषये प्रथमं संस्तुतवैमात्रेय-
भ्रातृपुत्रः तदभावे चासंस्तुतवैमात्रेयभ्रातृपुत्रः यदा तु सोदरभ्रातृपुत्रोऽसंस्तुतो
वैमात्रेयभ्रातृपुत्रश्च संस्तुतः तदा द्वौ भ्रातृवस्तुल्याधिकारिणौ । भ्रातृपुत्रा-
भावे भ्रातृपौत्रः तत्रापि भ्रातृः सोदरासोदरक्रमः संसर्गासंसर्गक्रमश्च
कीदृशः । तदभावे पितृदौहित्रः स च सोदरभगिनीपुत्रः, वैमात्रेयभगिनीपुत्रः,
तदभावे पितामहः तदभावे पितामही तदभावे पितुः सङ्गोदरः
तदभावे पितृवैमात्रेयः तदभावे पितृसोदरपुत्रपितृवैमात्रेयपुत्रपितृसोदरपौत्र-
पितृवैमात्रेयपौत्राणां क्रमेणाधिकारः । तदभावे पितामहदौहित्रः तत्रापि
पितृसोदरभगिनीपुत्रः तदभावे पितृवैमात्रेयभगिनीपुत्रश्च वक्ष्यमाणप्रपितामह-
दौहित्राधिकारीऽप्येव, तदभावे प्रपितामहः तदभावे प्रपितामही तदभावे
पितामहसङ्गोदरभ्रातृवैमात्रेयभ्रातृतत्पुत्रपौत्रप्रपौत्रप्रपितामहदौहित्राः क्रमेणा-
धिकारिणः । एतावत्पक्ष्येणानां धनिभोग्यपिण्डदातृणामभावे धनिदेयपिण्ड-
दातृणां मातामहमातुषादीनामधिकारः तत्रापि प्रथमं मातामहसदभावे
मातुषतत्पुत्रपौत्राणां क्रमेणाधिकारः । तदभावे चाधस्यनसकुल्यानां धनिभोग्य-

श्रेयदातृणां प्रतिप्रणमप्रभृतिपुरुषत्रयाणां कर्मणाधिकारः, तदभावे पुनरुद्देतन-
 वकुल्याणां धनिर्देयसिपमुक्त्वहप्रपितामहादितन्मनतौनामासत्तिकर्मणाधिकारः,
 तदभावे समानोदकानामधिकारः । तेषामभावे चाचार्यस्य तदभावे त्रिष्वस्य
 तदभावे ब्रह्मचारिणोऽधिकारः, तदभावे चैकग्रामस्यसगोत्रसमानप्रवरयोः
 कर्मणाधिकारः । उक्तपर्यन्तानां सर्वेषां सम्बन्धिनामभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजा
 एकीयात्, ब्राह्मणधनन्तु त्रैविद्यादिगुणयुक्ता ब्राह्मणा गृह्णीयुः । एवं वान-
 रस्यधनं स्नातृत्वेनानुमतोऽपरवानप्रस्थ एकतोर्धेसिबी गृह्णीयात् । तथा बलिधनं
 वृष्णिष्यः । नैष्ठिकब्रह्मचारिणो धनमाचार्यः उपकुर्वाणस्य तु ब्रह्मचारिणो धनं
 पत्रादिगृह्णीयादिति सङ्क्षेपः ॥ १४--१७ ॥

द्वादशः अध्यायः ।

अथ संसृष्टधनविभागः । तत्र मनुविष्णू ।

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि ।

समस्तत्र विभागः स्यात् ज्येष्ठं तत्र न विद्यते ॥ १ ॥

(मनु ८।२१०—विष्णु १८।४१)

समस्तत्रेति सर्वर्णभ्रातृसंसर्गाभिप्रायेण, ब्राह्मणक्षत्रिय-
 ोस्तु संसर्गं पूर्वकृतभागानुसारेणैव भागव्यवस्था बोद्धव्या,
 पूर्वकृतज्येष्ठांशनिषेधमात्रपरं हि समवचनम् अतएव बृह-
 रतिः ।

विभक्ता भ्रातरो ये तु सम्प्रीत्यैकत्र संस्थिताः ।

पुनर्विभागकरणे तेषां ज्येष्ठं न विद्यते ॥

इति ज्येष्ठांशमात्रं निषेधति न तु भागसाम्यमेव बोध-
 ति ॥ २ ॥

अपुत्रधनविभागं निष्य संसृष्टधनविभागं निरूपयति अथेति । संसृष्टधनेति ।
 संसृष्टधनञ्च सासृदायिकस्वत्वनये पित्रादिभिः सह विभागानन्तरं तेषां पुनरेक-
 णा यत्नव धनं तन्मम धनं यन्मम धनं तत्तवेति व्यवस्थया प्राग्जातवैशेषिक-

स्वत्वविनाशेनोत्पन्नसामुदायिकस्वत्ववहनं, यत्प्रकृत्यते तु उक्तव्यवस्थया प्राग्ज्ञात
वैशेषिकस्वत्वविनाशेनोत्पन्नापरिचितवैशेषिकस्वत्ववहनमिति बोध्यम् । विभागो
निरूप्यत इति शेषः । सङ्ग जीवन्तः संसृष्टिनः सन्तः । समस्तत्रेति सामा-
न्यतोऽभिधानात् संसर्गानन्तरविषमवर्णविभागेऽपि समत्वं स्यादित्याशङ्काह समस्त-
त्रेतीति । उक्तार्थे प्रमाणमाह पूर्वकृतेति । इति यस्मात् । ननु समविभाग-
वचनस्य ज्येष्ठांशनिषेधकत्वे ज्येष्ठां तत्रेति पूर्ववचनवैयर्थ्यापत्तिरतो विषमवर्णानामपि
समविभागविधायकं समस्तत्रेति, ज्येष्ठां तत्रेति तु ज्येष्ठांशनिषेधकमित्येव युक्तमिति
चेन्न तथा सति विषमवर्णसाधारण्येन संसर्गिणां समविभागः तथा विंशोद्धारस्य
तत्र नास्तीति वाक्यभेदापत्तेः अतः समस्तत्रेति ज्येष्ठांशनिषेधकमेव एतस्य वर्ण-
कृतविषमविभागनिरासाभिप्रायकत्वशङ्कानिरासाय परं ज्येष्ठां तत्रेति हेल्लुवाट-
इत्येव युक्तमिति, वस्तुतस्तु समस्तत्रेति ज्येष्ठस्य हंशरूपविषमविभागनिरूप्यर्थं,
ज्येष्ठं तत्रेति तु विंशोद्धारनिरूप्यर्थम् अन्यथा विंशोद्धारस्य भागवैयर्थ्यासम्पादक-
तायाः प्रागभिहितत्वात् समविभागाभिधानेऽपि तदापत्तेरशक्यवारणत्वादिति
नानुवादकतेति सूचीभिर्बोध्यम् । अत्र स्वात्मन्तरसंवादं दर्शयति अतएवेति
यत एव न वर्णनिबन्धनविषमविभागनिषेधोऽत एव । ज्येष्ठांशमात्रं निषेधति
ब्रह्मस्यतिरित्यन्वयः ज्येष्ठांशश्चात्र ज्येष्ठत्वेनांशद्वयं स्वोद्धारोऽश्नयति द्वयं बोध्यम् ॥१२॥

संसर्गिणश्च ब्रह्मस्यतुक्ताः ।

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः ।

पितृव्येणाथ वा प्रोत्या स तु संसृष्ट उच्यते ॥

इति ॥ ३ ॥

परिगणितव्यतिरिक्तेषु संसर्गकृतो विशेषो नादरणीयः

परिगणनानर्थक्यात् ॥ ४ ॥

अपरे च विशेषा भ्रात्रधिकारनिरूपणप्रकरणोक्ता अनु-
सन्धेयाः ॥ ५ ॥

इति संसृष्टविभागः ॥ ६ ॥

परिगणनानर्थक्यादिति । तथाच परिगणिते तरेषां संसर्ग एव नेति भावः
अपर इति । अनुपघाताजितमर्जकस्यैव नेतरेषाम् अनुपघाताजितविधाधने
समाधिकविद्यानामश्लिष्यत्वं उपघाताजिते तु सर्वेषामश्लिष्यत्वाद्यो ये विशेषा
भ्रात्रधिकारप्रकरणोक्ताः तेऽत्रापि संसर्गविभागेऽप्यनुसरणीया इत्यर्थः ॥ ३—६ ॥

त्रयोदशः अध्यायः ।

अथ विभागकाले निष्कृतस्य पञ्चादवगतस्य विभागः,
तत्र मनुः ।

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि ।

पञ्चाद्वश्येत यत्किञ्चित् तत् सर्वं समतां नयेत् ॥ १ ॥

(मनु ८।२१८)

पूर्वं यथा यस्य विभागकल्पना कृता तत्समानैव कार्या
न पुनरपहर्तुरपहर्तृतया अल्पभागो दातव्यो न दातव्य एव
वेति समतां नयेदित्यस्यार्थः न पुनस्तत्र द्रव्ये सर्वेषां सम-
भागार्थं वचनमिदं विंशोच्चारादिबाधे हेत्वभावात् ब्राह्मण-
क्षत्रियादीनाञ्च समभागापत्तेः ॥ २ ॥

तथाह याज्ञवल्क्यः ।

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्तैर्यत्र दृश्यते ।

तत् पुनस्ते समैरशैर्विभजेरन्निति स्थितिः ॥ ३ ॥

तथा कात्यायनः ।

प्रच्छादितन्तु यद् येन पुनरागत्य तत् समम् ।

भजेरन् भ्रातृभिः सार्द्धमभावेऽपि हि तत्सुताः ॥

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं दुर्विभक्तञ्च यद्ववेत् ।

पञ्चात् प्राप्तं विभज्येत समभागेन तद् भृगुः ॥ ४ ॥

असम्यग्विभक्तस्यापि पुनर्विभागं दर्शयति । सकृदंशो
नेपततीति (याज्ञवल्क्य २।१२७) तु सम्यग्विभागविषयम् ॥ ५ ॥

पञ्चात् प्राप्तमिति न पुनः पूर्वविभक्तमपि विभजनौय-
मित्यर्थः ॥ ६ ॥

तथा कात्यायनः ।

बन्धुनापङ्क्तं द्रव्यं बलान्नैव प्रदापयेत् ।

बन्धूनामविभक्तानां भोगं नैव प्रदापयेत् ॥

सामादिना दाप्यो न बलात् अविभक्तेन तु यदधिकं भुक्तं
तदसौ न दाप्यः ॥ ७ ॥

निष्कृतविभागं निरूपयति अथेति । निष्कृतस्यापि साधारणतया सामान्यत
एव समभागस्य प्राप्तत्वेन समतां नयेदिति पुनस्तदभिधानस्य प्रयोजनं दर्शयति
पूर्वमित्यादि । यथा यथेति । यस्यापङ्क्तुरनपङ्क्तुर्वा यथा भागकल्पना
इति समभागरूपभागकल्पना द्रव्यान्तरं कृता तथा अपङ्क्तुद्रव्येऽपि कार्या इत्यर्थः
हेत्वभावादिति । अपङ्क्तुरनंशित्वात्प्राप्तित्वनिरासकत्वेनैव वचनस्यार्थव
विंशोच्चारदिविधिसङ्कीर्णस्यान्याय्यत्वादिति भावः । ननु विंशोच्चारदिनं भा
वेष्यप्रयोजकत्वमिति प्रागेवाभिहितं तथाच तद्वाधो नास्त्येव किन्तु इति
रूपविधिसमविभागनिवृत्त्यर्थमेव समविधानं स्यादित्यत आह ब्राह्मणेति । समभाग
पक्षेरेति । सामान्यत एव विधिसमविभागविधेयस्य भवत्यते वचनार्थत्वादिति
भावः । न चेष्टापत्तिः । उपकारतारतम्येऽपि भागस्याभ्युपगमे न्यायविरोध
पक्षः । इदमुपलक्षणम् अत्राप्युक्तकर्मणैव वचनस्यार्थवत्त्वे अत्रियादौ विधिसमविभाग
विधीनां बाधस्यान्याय्यत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् । समैरंशैरेति । पूर्वकृतंशसमै
रित्यर्थः । अभावेऽपि ह्येति । विभागिनोऽभावे तत्सुताः तत्प्रपौत्रपथ्येत्ता
तत्प्रच्छादितं धनं भातभिर्भाग्यन्तरैः सङ्गं समं भजेरन्नित्यर्थः । अत्र संछट्टिन
पित्रा साधारणधनानुपपातेन यत् स्वयमर्जितं तत् विभक्तजपुत्रसत्त्वे तस्यै
नेतरेषाम् अनौशः पूर्वजः पित्रे भातभागे विभक्तज इति पुत्रैः सङ्गं विभक्ते
पित्रा यत् स्वयमर्जितम् । विभक्तजस्य तत् सर्वमनौशः पूर्वजाः स्मृता इत्यादं
सङ्कीर्णकाभावादिति बोध्यम् । दर्शयतीति । दुर्विभक्तञ्च यद्वेदित्यनेनेति
शेषः । सम्यग्विभागेति । सामान्यविशेषन्यायादित्यर्थः । न पूर्वविभक्तमपीति ।
धनसामान्यस्य पुनर्विभाज्यत्वे पश्चात् प्राप्तमिति विशेषोपादानवैयर्थ्यापपत्तेरिति
भावः । भोगं नैव प्रदापयेदित्यस्यार्थमाह अविभक्तेनेति ॥ १—७ ॥

अथ च साधारणधने परधनमप्यस्तीति तन्निष्कृते स्तेन
एव भवति किल्बिषी चेति ये मन्यन्ते तान् प्रत्युच्यते, य एव

हि परस्येदमिति विशेषं जानानः परस्वे स्खलहेतुमन्तरेणैव
स्खलमारोपयति स स्तेन इति लोकप्रसिद्धोऽर्थः, न चात्रेदं
परकीयं इदं वा ममेति विवेक्तुं शक्नोति द्रव्यस्याविभक्तत्वात् ।
यथा यदेव हि ममेदमिति विशेषं जानानः परस्वत्वापत्तये
स्वामी त्यजति, परस्य विशेषेणेदं ममेति स्खलं प्रत्येति तत्रैव
दाननिष्पत्तिः, न च साधारणधने तथा सम्भवतीति साधारण-
धनमदेयमुक्तं तथा स्तेयमपि नैतन्मम धनं परस्येदमिति
जानत एव भवतीति न साधारणधनापहारे स्तेयनिष्पत्तिः
॥ ८ ॥

साधारणधनापहारे चौर्यमिति केषाञ्चिन्मतं प्रसङ्गात् तदभिधानपूर्वकं
दृषयति अत्र चेति । विशेषमिति । इतरव्याप्तपरकीयस्खलवत्तया जान-
नित्यर्थः । य एव हीति । हि यस्मात् परस्येदमिदमित्यादि लोकप्रसिद्धोऽर्थो
यत एवात एव न साधारणधनापहारे स्तेयनिष्पत्तिरिति दूरेणान्वयः । स्खलहेतु-
मन्तरेण स्वामिक्तदानविक्रयादिकं विना स्खलमारोपयति स्खलहेतुयोपादानं
करोति तेन याचिताद्युपादाने न स्तेयं तदुपादानस्य स्खलहेतुत्वधीनत्वात् । म
स्तेन इति । तथाचेदन्तया परकीयत्वेन निश्चितद्रव्यस्यापहारेः स्तेयमित्यर्थः ।
विशेषं जानान इत्यत्र प्रमाणमाह लोकेति । अतएव स्वकीयत्वमनेन परस्व-
गृह्यत्यपि पुरुषे न लोकानां स्तेयव्यवहार इति । प्रकृते च साधारणे इदन्त्वेन
परकीयज्ञानासम्भवं दर्शयति न चात्रेति । ननु स्वकीयत्वमनेयोपादाने स्तेय-
व्यवहाराभावात् परकीयत्वेन ज्ञानमपेक्षितमनु न त्विदन्त्वेन परकीयत्वज्ञानं
प्रमाणाभावात्, तथाच साधारणधनेऽपि परकीयत्वज्ञानमस्येवेति तदपहारेः
स्तेयं कथं न स्यादेव इत्यत इदन्तया परकीयत्वज्ञानस्यापेक्षितत्वं दृष्टान्तेन साध-
यति यथेति । इदं ममेत्यनेन स्वीकारेण दातृस्यादातृप्रसङ्गं प्रत्येतीत्यर्थः ।
तथा सम्भवतीति । इति हेतोः साधारणमदेयमुक्तमित्यर्थः । न चात्रापि
प्रमाणाभावः अविभक्तधने हि स्खलं गुटिकापाताभिप्रायमेव तथाचास्मिन् भागे
यदि-मम गुटिकापातो न स्यात् तदा नैतन्मम धनं तत् कथं दाननिष्पत्तिरिति
शङ्कया तत्राप्रवृत्तेरदित्यस्य युक्तिसिद्धत्वात् तथा स्तेयमपीति यथा इदन्त्वेन
जानत एव दाननिष्पत्तिः तथा परस्येदमिति जानत एव स्तेयं भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अपहारपदन्तु सङ्कीपनाभिप्रायं न हि सङ्कीपनं स्तेयमुक्तम्
असङ्गस्यहणेऽपि स्तेयपदप्रयोगप्रदर्शनात् । तथा च कात्या-
यनः ।

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा निशायामथ वा दिवा ।

यत् परद्रव्यहरणं स्तेयं तत् परिकीर्तितम् ॥

अतएव राज्ञा बलात् न दाप्य इति पूर्वमुक्तं चौरत्वे तु
चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विधैर्बधैरिति (याज्ञवल्क्यः
२।२६८) वचनादास्तां सामादिना दापनं घातनमपि
कार्यम् ॥ ८ ॥

एतच्च मुनिभिरपहर्तुरपि विभागदानप्रतिपादनादुन्नी-
यते ॥ १० ॥

ननु तर्हि कथं साधारणापह्रवे स्तेयशक्तस्यापहारपदस्य प्रयोगो मुनीनामत
आह अपहारपदत्विति । सङ्कीपनेति । वस्तुनो ज्ञानसामर्थ्यानिघटनव्यापार-
रूपे सङ्कीपने लाक्षणिकमित्यर्थः । ननु सङ्कीपनं स्तेयमेव तत् कथं लक्षणेत्याशङ्क्य
निषेधति न हीति । प्रच्छन्नम् आच्छादितम् । प्रकाशमनाच्छादितम् । तेन
सङ्कीपनाभावः । परद्रव्यहरणं स्वलेक्ष्यया परद्रव्योपादानम् । अतएवेति ।
यत एव साधारणापह्रवी न स्तेयमत एवेत्यर्थः । चौरत्वे त्विति साधारणापह्रव-
कर्तुरित्यादि । एतच्चेति । उक्तपक्षेयलक्षणचेत्यर्थः । विभागप्रतिपादनादिति ।
साधारणधनापहारस्य स्तेयत्वेऽशीतिरतिशयाऽन्यूनसाधारणसुवर्णापहर्तुर्महापातकि-
त्वेन पतितत्वात् तद्भागप्रसक्तेः तस्माधारण्येन विभागप्रतिपादानुपपत्तेरिति
भावः ॥ ८ । १० ॥

तदुक्तं विश्वरूपेणापि अतः तस्करदोषो नास्तीति वचना-
रभसामर्थ्यात् स्तेन धात्वर्थानिष्पत्तेरित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

अतएव प्रायश्चित्तकाण्डे जितेन्द्रियेण भणितं यदि स्वर्ण-
मेव परकीयं लीहादिवुद्धया गृह्णाति, असुवर्णं सुवर्णवुद्धया,
आत्मीयसदृशं परकीयमेव आत्मीयवुद्धया, गृह्णाति सर्वत्र

नापहारनिष्पत्तिः सर्वत्र यथावस्तु परकीयबुद्धेरभावात्,
तद्वदत्रापि समानं, विभागात् पूर्वं तद्वद्भेदकदेशविशेषगत-
स्त्वस्यापरिज्ञानात् अतो नात्र स्तेयनिष्पत्तिः ॥ १२ ॥

सत्यपि वा स्तेयेऽपहर्तुरपि विभागवचनदर्शनात् न
स्तेयदोषः अन्यथा सुवर्णादिनिष्कवे पतितस्य भागो न स्यात्
॥ १३ ॥

उक्तार्थे संवादं दर्शयति तदुक्तमिति । तत्स्वरदीपो नास्तीति । तत्स्वरस्य
दोषः तत्स्वरत्वं तत् नास्तीत्यर्थः । ननु तदपहारस्य स्तेयत्वेऽपि विभागी वचन-
बलादेव भविष्यतीत्याशङ्कामपनेतुं विश्वरूपस्याशयमाह स्तेयधात्वर्थेति । इदन्तया
परकीयत्वेन निश्चितपरद्रव्यापहार एव स्तेयधात्वर्थः अन्यथा साधारणापहृतव्यस्य
स्तेयत्वे लोकाव्यवहारविरोधी विभागवचनस्य वेदमूलकलक्ष्यना च स्यादिति
तदभिप्रायः । अत्रैवोपपद्यमानरमाह अत एवेति । नापहारनिष्पत्तिरिति ।
न कामकृतसुवर्णापहारनिष्पत्तिरित्यर्थः । यथावस्थिति । यद्रूपावच्छिन्नं वस्तु
याज्ञं तद्रूपेण परकीयत्वबुद्ध्याभावादित्यर्थः । तथाच याज्ञत्वेनेच्छाविषयताव-
च्छेदकी यो धर्मः तद्रूपेण परकीयत्वनिययाधीनतद्रूपावच्छिन्नपरद्रव्यापहार एव
कामकृततदपहारः प्रकृते च प्रथमे लौहबुद्ध्या सुवर्णे गृहीतुर्न कामकृतसुवर्णा-
पहारः सुवर्णत्वस्य याज्ञत्वेनेच्छाविषयतावच्छेदकत्वाभावात् तद्रूपेण परकीयत्व-
ज्ञानाभावाच्च नापि कामकृतलौहापहारः लौहत्वस्य तादृशेच्छाविषयतावच्छेदक-
त्वेऽपि वस्तुतः तद्रूपावच्छिन्नापहाराभावात् किन्त्वकामकृतसुवर्णापहार एव,
द्वितीये चासुवर्णे सुवर्णबुद्ध्यापहर्तुर्न सुवर्णापहारः वस्तुतः तद्रूपावच्छिन्नाप-
हाराभावात् किन्त्वज्ञानकृतासुवर्णापहार एव तदगतस्य पित्तललाटेऽस्मादृशेच्छा-
विषयतावच्छेदकत्वाभावात्, तृतीयेऽपि स्वकीयत्वधर्मणैव परकीयं गृह्यतेऽपि
न कामकृततदपहारः परकीयत्वेन ज्ञानाभावादिति पर्यवसितोऽर्थः । तद-
दिति । तदुक्तवदित्यर्थः । अत्रापि साधारणधनेऽपि । समानमिति । तत्र
यथा लौहबुद्ध्या गृह्यते याज्ञत्वेनेच्छाविषयतावच्छेदकलौहत्वेन ज्ञानेऽपि
सुवर्णत्वेन ज्ञानाभावात् असुवर्णापहारे च विशेषस्य सुवर्णापहारस्यैवाभावात्
स्वकीयत्वबुद्ध्या परकीयं गृह्यत इत्यर्थः परकीयत्वेन ज्ञानाभावात् न कामकृततदप-
हारनिष्पत्तिः याज्ञत्वेनेच्छाविषयतावच्छेदकसुवर्णत्वादिना परकीयत्वज्ञानाभावात्
तथेहापि याज्ञतया इच्छाविषयतावच्छेदकेनैतत्सुवर्णत्वादिना परकीयत्वज्ञाना

भावात् नापहारनिष्पत्तिरित्यर्थः । ननु परकीयद्रव्यापहार एव स्तेयं साधवात् परकीयद्रव्यापहर्त्तव्यं स्तेनत्वेन लोकाव्यवहारप्रवृत्तेश्च अतएव स्तेयधालयार्थोऽपि स एव तदेव च स्तेयम् अपहर्त्तव्यतावच्छेदकप्रकारेण परकीयत्वज्ञानपूर्वकस्तेनदा कामकृतम् एवञ्च सति विश्वरूपेण तत्स्वरदोषो नास्तीत्यनेन तत्स्वरत्वनिवन्धनीयो दोषः पातित्यादिरूपः तद्वाङ्मयमेवोक्तं न तु स्तेयत्वानिष्पत्तिरित्युक्तम् अतएव स्तेयधालयार्थानिष्पत्तिरिति तदभिप्रायवर्णनमयुक्तमेव पातित्यादिदोषवाङ्मयस्यैव तदभिप्रेतत्वात् तथा जितेन्द्रियेणापि यथावस्तु परकीयबुद्ध्याभावादित्यनेनापहर्त्तव्यतावच्छेदकप्रकारेण परकीयत्वज्ञानपूर्वकतद्रूपावच्छिन्नपरद्रव्यापहारः कामकृतस्तेयमित्यभिहितं न त्विदन्वादिना परकीयत्वज्ञानपूर्वकत्वं तेनोक्तम्, इत्यञ्च सति साधारणेऽपि सुवर्णादावपहर्त्तव्यं एतत् सुवर्णसमुदायमध्ये सुवर्णं परकीयमप्यस्तीति अपहर्त्तव्यतावच्छेदकसुवर्णत्वादिना परकीयत्वज्ञानमावश्यकं समुदाये स्वस्वाम्यव्यतिरेकनिश्चयात् अन्यथा अपहृत् एव कुत इति साधारणस्यापहृत्वे स्तेयत्वमेवेति तत्कथं साधारणधनापहारे न स्तेयनिष्पत्तिरित्यभिहितमित्यत आह सत्यपि वेति । स्तेयत्वाभ्युपगमोऽयम् उक्तसाम्प्रदायिकमतावष्टम्भेन । बभूवस्तु अत्र न स्तेयनिष्पत्तिरित्ये स्वयं वक्ष्यते । न स्तेयदोषो न स्तेयनिवन्धनपातित्यादिदोषः ॥ ११—१२ ॥

अथ पातकहेतुसुवर्णापहारेऽपि स्तेनस्य भाग इति विशेषवचनाभावात् द्रव्यान्तरस्तेयविषयो भागविधिवर्ण्यते एवं तर्हि सुवर्णादिस्तेयनिषेध एव किमिति असाधारणपरकीयमात्रद्रव्यगोचरो न व्यवस्थाप्यते तथापि किं विनिगमना प्रमाणमिति चेत् उच्यते परद्रव्यहरणं स्तेयमिति परशब्दात् आत्मौयत्वव्यवच्छेदेनैव परकीयत्वस्यावगमात् साधारणासाधारणयोश्चासाधारणस्यैव शीघ्रप्रतीतिः । यथेष्टिपूर्वकमेवादः पौर्णमासं हविरिति अग्नीषोमीयपुरोडाशस्यैवोत्कर्षः नोपांशुयाजीयाण्यस्य अग्नीषोमीयानग्नीषोमीयस्य साधारणत्वात् ॥ १४ ॥

अतएव लोकोऽपि नैवविधविषये क्वचिद्विनिगमनादिकं दृश्यते ॥ १५ ॥

नन्वेवं पातित्य' प्रति परिमितसुवर्णापहारस्य हेतुतायां साधारणसुवर्णापहार-
 इदनिवेशे गौरवं तद्वरं तदपहर्तुः पातित्यमेवष्ट' विभागविधिस्तु तदतिरिक्त-
 साधारणद्रव्यापहारविषय इत्याशङ्कते अथेति । विशेषवचनेति । तत्सङ्गावे तु
 इच्चनेनैव पातित्यकारणतायां साधारणतदपहारमेदनिवेशः स्यादिति भावः ।
 तिसृश्विना समाधत्ते एवं तर्हीति । किमितीति । न व्यवस्थाप्यत इत्यन्त्यः
 एषाच विभागविधेर्द्रव्यान्तरस्तेयविषयतया सङ्कीचः किं वा सुवर्णस्तेयनिषेधविधिः
 रमाचौयसुर्णस्तेयविषयतया सङ्कीच इत्यत्र विनिगमनाविरह इति भावः । किं
 विनिगमनेति विनिगमनाप्रमाणाभावे हयोरेव सङ्कीचे साधारणसुवर्णापहर्तु-
 रितितत्वेऽपि विभागाप्राप्तिः विभागविधेर्द्रव्यान्तरस्तेयविषयत्वेन सङ्कीचौचित्यात्
 असङ्कीचे तु तादृशपतितस्य विभागप्राप्ता पतितस्य विभागनिषेधविधिविरोधः
 स्यादिति भावः । साधारणापहरे स्तेयत्वसत्त्वं एव हयोः सङ्कीचे विनिगमना-
 विरहः अस्यास्तेयत्वे तु क विनिगमनाविरहः हयोरेवासङ्कीचादित्यभिप्रायेण
 स्तेयनिष्पत्तिरेवात्र न भवतीति समाधत्ते उच्यत इति । स्तेयमित्यनन्तरं शास्त्र-
 मिति तदन्तर्गतादिति च पदद्वयं पूरणीयं तथा च यत् परद्रव्यहरणं तत्
 स्तेयमिति शास्त्रं तदन्तर्गतात् परशब्दात् परशब्दमभिव्याहृतद्रव्यशब्दादित्यर्थः ।
 आत्मस्तेयत्वार्थः । आत्मस्तेयत्वार्थः । व्यवच्छेदेनेति तृतीया विशेषणे । तथाचात्मौ-
 यत्वव्यवच्छिन्नस्य परकीयत्वस्य परस्त्वविशिष्टस्यावगमादित्यर्थः । एतस्यावगमे
 हेतुमाह साधारणेति । साधारणं तदितरसम्बन्धि । असाधारणं तन्मात्रसम्बन्धि,
 तयोर्मध्ये तत्सम्बन्धिबोधकशब्दात् तन्मात्रसम्बन्धिन एव प्रथमोपस्थितिर्यतोऽत
 इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह यथेष्टीति पौर्णमासी कर्त्तव्या अग्रीषोमीययागसम्बन्धि
 हविः द्विविधं पुरोडाशरूपम् आन्यरूपञ्च पूर्वमसाधारणम् अग्रीषोमीयमात्रत्वात्
 उत्तरञ्च साधारणम् अग्रीषोमीयतदयोपांशुयागसम्बन्धित्वात् तत्रेष्टिविशेषे इष्टि-
 पूर्वकमेवादः पौर्णमासं हविरित्यनेन पौर्णमासहविष इष्ट्युत्तरकालकर्त्तव्यत्वरूप-
 मुत्कर्षविधानं स चायमुत्कर्षः पुरोडाशस्यैव असाधारणत्वेन पौर्णमासपदात्
 श्रीघ्नोपस्थितेः न त्वान्यस्य साधारणत्वात् तद्वदिहापीत्यर्थः तथाच परमात्रस्त्वत्वा-
 न्यद्रव्यापहारस्यैव स्तेयत्वेन शास्त्रबोधितत्वात् नासाधारणापहारे स्तेयनिष्पत्ति-
 रिति भावः । अतएव स्तेयानिष्पत्तिरेव । एवंविधविषये साधारणापहरे । इदञ्च
 सामुदायिकस्त्वत्वादिसमताम्यित्य समाहितं स्वमते तु स्वत्वस्य प्रदीक्षकत्वात्
 एतावता प्रयासेनाप्यत्र स्तेयनिष्पत्तिर्दुर्वारैव परमात्रस्त्वत्वादद्रव्यापहृतसमुदाय-
 मर्थं सत्त्वादिति बोध्यम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

अतो यद् बालकवचनं, यथा मुद्रापचारे माघप्रतिनिधी

मुहानां माषाणाञ्च यज्ञसम्बन्धे अयज्ञिया वै माषा इति माषा निषिद्धाः, तथा आत्मीयानात्मीयहरणेऽपि अनात्मीयापहारी निषिद्धः । तद्दालकवचनमेव पूर्वव्याहृतस्य स्तेयपदार्थस्यैवाभावात् माषगतमुह्रावयवोपादानेऽपि माषाणां यज्ञसम्बन्धो नास्तीति न शक्यते वक्तुं माषामिश्रितानामेव यज्ञसम्बन्धप्रतीतिः ॥ १६ ॥

इत्यन्योन्यापङ्क्तविभागः ॥ १७ ॥

अत्र बाह्यमतं दूषयितुमुपन्यस्यति अत इति । वक्ष्यमाणहेतीरित्यर्थः । यथेति । मुद्गापचारे मुद्गाभावे साषप्रतिनिधौ साहस्रवचनेन साषप्रतिनिधौ पक्षे मुद्गानां माषाणाञ्च यज्ञसम्बन्धं मुख्यकल्पानुकल्पभावेन यज्ञसम्बन्धप्रसक्तौ अयज्ञिया वै माषा इत्यनेन यथा माषा निषिद्धाः तथा आत्मीयानात्मीयापहारेऽपि आत्मीयञ्च तदनात्मीयम् अन्यदीयश्चेति साधारणमित्यर्थः तदपहारेऽपि अनात्मीयापहारनिषेधबोधको विधिः परस्वं नाददीतेत्येवंरूपः निषिद्धौ निषेधक इत्यर्थः । तथाचायं पर्यवसितोऽर्थः । मौद्गश्वरुर्भवतीति श्रुतिः तस्यायाव-चातादिविधिपर्यालोचनेन अवयवपर्यन्तपर्यवसाने मुद्गावयवैश्चरुर्भवतीत्येवार्थः, मुद्गावयवाश्च द्विविधा मुद्गमात्रारम्भकाः मुद्गमाषोभयारम्भकाश्च द्विविधाना यज्ञसम्बन्धोऽवगतः तत्र च मुद्गाभावे माषस्य प्रतिनिधित्वेन यज्ञसम्बन्धप्रसक्तौ अयज्ञिया वै माषा इत्यनेन माषावयवा माषमात्रारम्भकाः असाधारणा अवयवाः, साषमुद्गोभयारम्भकाश्च साधारणा अवयवा अपि यथा निषिद्धाः माषावयवत्व-पुरस्कारिणैव सामान्यतो निषेधात् तथा परस्व नाददीतेति परस्वत्वपुरस्कारिणैव निषेधात् परमाद्वीयस्य स्वपरसाधारणस्य चापहारी निषिद्ध इति अस्य च सामुदायिकस्वत्वादितया न द्रव्यस्य स्वपरसाधारणानुपपत्तिरिति बोध्यम् । दूषयति तदबालीति । पूर्वव्याहृतस्य पूर्वोक्तप्रबन्धेन प्रतिपादितस्य स्तेयपदार्थस्य स्तेयलक्षणस्य परमाद्वीयद्रव्यापहारत्वरूपस्याभावात् साधारणापङ्क्तेऽभावात् तथाच स्तेयस्यैव निषेधविषयतया साधारणापङ्क्तेर्न निषिद्ध इति भावः । दृष्टान्तासिद्धिमाह माषगतेति माषाणां माषमात्रारम्भकावयवानां वक्तुं न शक्यते । कुतस्तान्नाह, माषामिश्रितानामेवेति माषमात्रारम्भकावयवामिश्रितानामेवेत्यर्थः । यज्ञसम्बन्धप्रतीतिः यज्ञसम्बन्धप्रसक्तेः तथाच अयज्ञिया वै माषा इति वाक्येन माषमात्रारम्भकावयवा एव निषिद्धाः न तु माषमुद्गोभयारम्भकावयवा इति तथात्वे मुद्

।पादनेऽपि तेषामपरिहार्थत्वात् विधिविज्ञवापत्तेः, परन्तु माषगतमुदगावयवो-
।दाने माषमात्रारम्भकावयवानामप्यपरिहर्तव्यत्वेन उपादानस्यावश्यकत्वात्
षामपि यज्ञसम्बन्धः स्यादित्यतो माषगतमुदगावयवानां नोपादानमित्येवेति क
ष्टान्तावकाशः ॥ १६ ॥ १७ ॥

चतुर्दशः अध्यायः ।

अथ वृत्तविभागसन्देहनिर्णयः । तत्र नारदः ।

विभागधर्मसन्देहे दद्यादानां विनिर्णयः ।

ज्ञातिभिर्भागलेख्येन पृथक्कार्यप्रवर्त्तनात् ॥ १ ॥

(नारद १३।३५)

ज्ञातीनां कीर्त्तनं तेषु मत्सु नान्यसाक्षिग्रहणमित्येत-
दर्थम् । अतएव याज्ञवल्करः ।

विभागनिष्कवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः ।

विभागभावना ज्ञेया गृह्येत्तैश्च यौतकैः ॥ २ ॥

(याज्ञवल्कर २।१५०)

प्रथमं ज्ञातयः सपिण्डाः साक्षिणः । तदभावे बन्धुपदोप-
नीताः सम्बन्धिनः । तदभावे उदासीना अपि साक्षिणः ।
मुख्यवद्भावे साक्षिपदेनैवोपात्तत्वात् ज्ञातिबन्धुपदानर्थकता
यत्तेः ॥ ३ ॥

अतएव शङ्कः ।

गोत्रभागविभागेऽर्थे सन्देहे समुपस्थिते ।

गोत्रजैश्चापरिज्ञाते कुलं साक्षित्वमर्हति ॥

गोत्रजैर्ज्ञातिभिरित्यर्थः तैरज्ञाने कुलं बन्धुः साक्षित्व-

महति न पुनरसम्बन्धी, तेनाप्यपरिज्ञाते अन्यः साक्षी-
त्यर्थः ॥ ४ ॥

अतएव मुख्यभूता ज्ञातय एव नारदेन निर्दिष्टाः । ज्ञात-
भिरिति पाठोऽनाकरः ॥ ५ ॥

प्रकरणान्तरमाह अथेति । इत्तः प्राग्जातो विभागः तस्य सन्देहे वयं
विभक्ता न वेति भागिनां सन्देहे वक्ष्यमाणप्रकारेण निर्णय उच्यत इत्यर्थः ।
विभागधर्मेति विभागरूपी यो धर्मः तत्सन्देहे दायादानां ज्ञातिभिरित्यादि-
हृतुभिर्निर्णय इत्यर्थः । भागलेख्येन विभागपत्रेणेत्यर्थः । भोगलेख्येनेति पाठे
समाहारइदम् । तेन प्रत्येकवस्तुषु प्रत्येकमसाधारणभोगेन लेख्येन वा इत्यर्थः ।
पृथक् स्वातन्त्र्येण परस्परानुमतिनैरपेक्ष्येण यागादिकार्यप्रवर्त्तनादित्यर्थः । अत-
एव ज्ञातिसत्त्वान्यसाक्षिग्रहणस्य निषिद्धत्वादेव । विभागभावना विभागनिश्चितिः ।
यौतकेः पृथग्भूतैः युमिश्रणेऽमिश्रणे इति धात्वनुसारात् । ननु ज्ञातिवाशवा-
दोनाह इदं निर्दिष्टात् तुल्यवदेव साक्षित्वं स्यात् तत् कथं प्रथमं ज्ञातय इत्यादि-
व्याख्यानमत आह तुल्यवद्भाव इति । अनर्थकतापत्तेरिति । साक्ष्यभिलिखितै-
रिति । सामान्याभिधानेनेवोक्तार्थसिद्धेरिति क्रमेणैव तेषां साक्षित्वार्थं ज्ञात्या-
दोनां पृथग्पादानमिति भावः । गोत्रेति गोत्रस्य भागो धनं तस्य विभाग
रूपेण सन्देहे इत्यर्थः । न पुनरसम्बन्धी कुले साक्षिणि । सतीत्यादिः ।
नारदेनेति । ज्ञातिभिर्भागलेख्येनेत्यादिना नारदेन निर्दिष्टा इत्यर्थः । ज्ञातृभि-
रिति शङ्खवचने गोत्रजैरित्यत्रत्यादिः ॥ १—५ ॥

तथा लिखितेन वा निर्णयः लिखितस्तु साक्षिभ्यो बल-
वदेवेत्युक्तम् ॥ ६ ॥

तथा पृथक्कार्यप्रवर्त्तनादपि निर्णयः । यथोक्तं नारदेन ।

दानग्रहणपञ्चस्रगृहक्षेत्रपरिग्रहाः ।

विभक्तानां पृथक् ज्ञेयाः पाकधर्मागमव्ययाः ॥

साक्षित्वं प्रातिभाष्यस्य दानं ग्रहणमेव च ।

विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम् ॥

येशमेताः क्रिया लोके प्रवर्त्तन्ते स्वरिक्थतः ।

विभक्तानवगच्छेयुर्लेख्यमप्यन्तरेण तान् ॥ ७ ॥

(नारद १३।३८—३९—४०)

तथा वृहस्पतिः ।

साहसं स्थावरं न्यासः प्राग्विभागश्च रिक्थिनाम् ।

अनुमानेन विज्ञेयं न स्यातां पत्रसाक्षिणौ ॥

बलानुबन्धव्याघातहोढं साहसभावकम् ।

स्वस्य भोगः स्थावरस्य विभागस्य पृथग्धनम् ॥

पृथगायव्ययधनाः कुसौदञ्च परस्परम् ।

वणिकपथञ्च ये कुर्युर्विभक्तास्ते न संग्रयः ॥ ८ ॥

नारदवचने भागलेख्येनेत्यस्यार्थमाह तथा लिखितेन वेति । बलवदिति । साक्षिभ्यो लिखितं गुर्विति वचनादिति शेषः । पृथक्कार्येति । पृथगपादरनादि-
कार्यप्रवर्तनादित्यर्थः । परिगृह्याः परिवारा दासादयः, प्रतिगृह्यार्थे गृह्ये-
त्यनेन पौनरुक्त्यापत्तेः । पृथक् ज्ञेयाः प्रत्येकं स्वातन्त्र्याविषयाः ज्ञेयाः । पाक-
धर्मो वैश्वदेवादि कर्म । आगमो धनागमोपायः क्रयादिः । व्ययो धन-
निधोगः । प्रतिभाव्य लग्नकलत् । स्वरिक्थतः स्वस्वरिक्थतः । लेख्येति
इतरप्रमाणसामान्योपलक्षणम् । साहसं बलात् समलक्षियमाणं पाक्यादि ।
तथाच नारदः । सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्वलदपितैः । तस्मादहसमिति
प्रोक्तं सहीबलमिहोच्यते ॥ मनुष्यमारणं स्तयं परदाराभिमर्षणम् । पाक्य-
मुभयर्चह साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥ इति । स्थावरं स्थावरगततदीयत्वम् । न
स्यातामिति । पत्रसाक्षिणोरभावे साहसादयोऽनुमानादिना निर्यया इत्यर्थः ।
साहसादीनामनुमाने क्रमेण लिङ्गान्याह बलानुबन्धव्यादि बलानुबन्धोबलवत्त्व-
प्रयुक्त चेष्टाविशेषः । व्याघातः ताडनचिह्नम् । होढो लोभः, तत् सर्वं साहसस्य
भावकं ज्ञापकमित्यर्थः । स्थावरे तदीयत्वलिङ्गान्याह स्वस्यति । स्वस्य स्वस्वामिक-
स्थावरस्य पृथक्भोग इत्यर्थः । विभागलिङ्गान्याह पृथग्धनमिति । पृथगाय-
व्ययधनाः पृथग्धनायव्यायाः । कुसौदम् ऋणादानं परस्परमित्यर्थः ॥ ८—८ ॥

एको भ्राता ददाति अपरस्य गृह्णाति गृहादिकम् आ-
व्ययस्थितिश्च पृथक् पृथक् एकेन ऋणादिषु क्रियमाणेषु

अपरश्च साक्षी प्रतिभूर्वा क्रियते परस्परं वा ऋणादिक
हारः एको यत्किञ्चिदद्रव्यम् अन्यतः क्रीत्वा वाणिज्य
भ्रातरि विक्रीणीते एवमादिका एकैकापि क्रिया परः
विभक्तानामेव सम्भवति तथा विभागानुमानं धीमद्भिः
सम्बध्यमिति ॥ ८ ॥

न च येषामेताः क्रिया इत्येतच्छब्देन बह्वीनामुपादानं
मिलितानामेव गमकत्वं वाच्यं न्यायमूलत्वात् वचनान्
एकैकत्रापि च तारतम्याविशेषाविशेषात् ॥ १० ॥

न स्यातां पक्षसाक्षिणावित्यनेन पक्षसाक्षिणोरभावे ऋ
मानमनुसरणीयमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

दायदण्येत्याद्युक्तवचनानि व्याकरोति एकी भातेत्यादि । इदं दानय
न्यस्य विवरणम् । गृह्येतिव्यस्य विवरणं गृहादिकमिति, आयेति धन
गणः । एकेनेति । इदं साक्षित्वं प्रातिभाव्यमित्यस्य विवरणम् । प
मिति विवर्णीति परस्परं वेति । वणिक्पथहेत्यस्यार्थमाह एक इति । वि
नामेवेति । एतेनोक्तक्रियासु विभागस्य व्याप्तिदर्शिता । न्यायमूलत्वादि
न्यायी व्याप्तिस्तन्मूलत्वात् वचनानां विभागलिङ्गवचनानाम् । एकैकत्रापि
तारतम्याविशेषो व्याप्तिः तस्याः प्रत्येकक्रियास्वेवाविशेषात् सत्त्वादित्ये
तथाच प्रत्येकस्यैव व्याप्यत्वात् प्रत्येकस्यैव गमकत्वं न तु मिलितानाम् । ब
नामपि तथैवाभिप्रायः अन्यथा धूमाखोकादीनामपि मिलितानां कि
वद्गादिगमकता नाङ्गीकुरुषे इति भावः । उच्यतेतिवचने न स्यातां
देरर्थेनाह न स्यातामिति ॥ ८—११ ॥

पञ्चदशः अध्यायः ।

नाचार्यगौरवपराहृतदायभाग-

तत्त्वप्रबोधजनरञ्जनमत्र शक्यम् ।

किन्तु प्रमाणपरतन्त्रधियां मुनीनां

संवादमात्रकृतये कृतिनः प्रयत्नः ॥ १ ॥

बहुविधपूर्वनिबन्ध-व्याख्यासञ्ज्ञातसंशयस्यैतत् ।

जीमूतवाहनकृतं प्रकरणमपनुत्तये श्येयम् ॥ २ ॥

पारिभद्रकुलोद्भूतः श्रीमान् जीमूतवाहनः ।

दायभागं चकारंम विदुषां संशयच्छिदे ॥ ३ ॥

इति पारिभद्रीय महामहोपाध्याय

श्रीजीमूतवाहनकृतौ धर्मरत्ने

दायभागः समाप्तः ।

। आचार्येति । आचार्याणां श्रीकरमित्रादीनां गौरवेण आदरेण पराहती
ती दायभागतत्त्वस्य प्रबोधो यथार्थज्ञानं येषां तादृशजनानां रत्नमम्
१ अत्रानेन यन्त्रेण न शक्यम् । तर्हि प्रायशो विफलोऽत्र प्रयत्न इत्यत्र
किन्त्विति । प्रमाणं वेदादि तत्परतन्त्रा तदधीना धीर्येषां तेषां मुनीनां
दीनां संवादः परस्परवचनाविरोधः तन्मात्रकृतये तन्मात्रार्थं 'कृतिनो मम
इत्यर्थः सर्वेषामिव मुनीनां वेदार्थनिबन्धनं वेदानां परस्परविरोधः
तत्तत्त्वचनेऽपि विरोधो नास्तिव आपाततः प्रतीयमानतन्त्रिरोधो न्याय
।। अनुमानेन तेषां तात्पर्यार्थविशेषमवधार्य परिहृतो यदि तदा अनेनैवास्माकं
।। अर्थेके अविवेचकानुरञ्जनस्य अकिञ्चित्करत्नमिति भावः । मनीषा मवादति
प्रमाणदर्शनां बुद्धिसंवादकरणाय तैः स्वयं पर्यालोचनया यद्विर्णीतम्
।। भिरपि तदेवोपनिबद्धमित्येतत् दर्शनार्थमेव प्रयत्न इत्यर्थः ।

सेतू भवात्सेर्जगदेकहेतू कृत्वा हृदयं परदेवताङ्घ्री ।

धीमददुरुहे खलु दायभागे श्रीकृष्णविप्रो विवर्तितं वितेने ॥

टिप्पणी विशदार्थेयं निगूढार्थप्रकाशनी ।

धीरामीदकरी नाम्ना दायभागप्रबोधनी ॥

इति श्रीकृष्णतर्काचङ्कारभट्टाचार्यकृता दायभागप्रबोधनी समाप्ता ।

2

2

2

